मीमांसा-दर्शन

(सूत्रार्थ व सरल हिन्दी व्याख्या सहित)

सम्पादक :
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
चारों वेद, १०८ उपनिषद्, षट्दर्शन, २० स्मृतियाँ
व १८ पुराणों के भाष्यकार और लगभग
१५० हिन्दी ग्रन्थों के रचयिता

प्रकाशक :
संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब,
बरेली (उ० प्र०)

मीमांसा-दर्शन

(सरल हिन्दी व्याख्या सहित)



सम्पादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेदों, १०८ उपनिषदों, षट् दर्शनों, बीस स्मृतियों
और अठारह पुराणों के भाष्यकार



प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान,

ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ० प्र०)

प्रकाशक

डा० चमन लाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, बरेली (उ. प्र.)

❋

सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

❋

तीसरा संस्करण

१९६९

❋

मुद्रक :

राष्ट्रीय प्रेस,

मथुरा।

❋

मूल्य

Rs 5-75

भूमिका

भारतीय दर्शनों में 'मीमांसा' की स्थिति अन्य दर्शनों की अपेक्षा निराली है। यद्यपि यह षट्-दर्शनों में बहुत बड़ा है इसकी सूत्र संख्या २६४४ है जो शेष पाँचों दर्शनों की सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर है और कितने ही लोगों की दृष्टि में सब से अधिक महत्वपूर्ण भी है। इसमें वैदिक कर्मकाण्ड की समस्याओं और शङ्काओं का समाधान किया गया है, जिनकी उपादेयता कितनी हो सम्प्रदायों के अनुयायियों की दृष्टि में सर्वाधिक है। पर दूसरा पक्ष इसी विशेषता के कारण इसे 'दर्शन' मानने में भी आनाकानी करता है। उनका कथन है कि इसमें सृष्टि, आत्मा, परमात्मा, जीव, कर्म, अकर्म जैसे दार्शनिक विषयों पर नाममात्र को विचार किया गया है और सारी शक्ति यज्ञों के कर्म-काण्ड सम्बन्धी वैदिक-वाक्यों का अर्थ समझाने में लगा दी गई है। पर जैसा कि इस दर्शन के प्रथम सूत्र में कहा गया है 'अथातो धर्म जिज्ञासा' अर्थात् 'अब धर्म पर विचार किया जाता है।' यह ग्रन्थ लोक और परलोक में कल्याण की प्राप्ति कराने वाले साधन 'धर्म' के सम्बन्ध में विचार करता है। इस दृष्टि से इसे भी 'दर्शन' की संज्ञा दी जा सकती है। धर्म क्रियाओं की सार्थकता तथा प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए इसमें ईश्वर, आत्मा, कर्म, मोक्ष आदि की भी कुछ चर्चा जहाँ-तहाँ आ गई है। उसी के आधार पर विद्वान् भाष्यकारों ने 'मीमांसा' के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है।

चूँकि मीमांसा-दर्शन में यज्ञ-सम्बन्धी विषयों की चर्चा और निर्णय किया गया है और यज्ञ भारतीय-समाज की बहुत प्राचीन और मुख्य 'संस्था' है, इस आधार पर कुछ धार्मिक लेखक इसे सब से अधिक

प्राचीन मानते हैं। सम्भव है प्राचीन समय में इस दर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्त किसी रूप में संग्रहीत रहे हों। पर वर्तमान समय में इसका जो रूप प्राप्त है वह बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति के पश्चात् का ही है। जैसा कि श्री शङ्कराचार्य ने अपने 'सर्व दर्शन संग्रह' में लिखा है—

बौद्धादिनास्तिकध्वस्तो वेदमार्गः पुरा किल।
भट्टाचार्यः कुमारांशः स्थापयामास भूतले॥

अर्थात्—"जिस वेदमार्ग का बौद्ध आदि नास्तिक मतावलम्बियों ने पुराने समय में विध्वंस कर दिया था, उसी को कुमारिल भट्टाचार्य ने फिर पृथ्वी पर स्थापित किया।"

कुमारिल भट्ट श्री शङ्कराचार्य के समकालीन माने जाते हैं और उनका समय सातवीं शताब्दी के लगभग स्वीकार किया गया है। ये 'मीमांसा शास्त्र' के बहुत प्रसिद्ध प्रचारक हुए हैं और इन्हीं के उद्योग से बौद्ध-धर्म का पराभव होकर पुनः वैदिक-धर्म की जड़ जमने का उपक्रम हुआ। यद्यपि मीमांसा-दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि का समय इनसे लगभग एक हजार वर्ष या इससे भी कुछ पूर्व अधिक माना जाता है, पर बौद्ध-धर्म की प्रबलता के कारण बहुत समय तक उक्त दर्शन अज्ञात अथवा लुप्त दशा में ही पड़ा रहा। उस पर सर्व प्रथम भाष्य शवरस्वामी ने लिखा, जिनका समय ईसा की दूसरी सदी बतलाया जाता है। कहते हैं कि इनका वास्तविक नाम आदित्यदेव था पर विरोधियों के भय से इनको जङ्गलों में छुपकर और भील का रूप बना कर रहना पड़ा था। इस भाष्य को भी कुमारिल ने ही अपनी बृहत् टीका के साथ सर्व-साधारण में विशेष रूप से प्रकाशित और प्रचारित किया था। कुमारिल ने बड़े कौशल से बौद्धमत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया और फिर उसका खण्डन करके वैदिक मत की स्थापना की। इस तथ्य को इन्होंने अपने ग्रन्थ में भी इन शब्दों में प्रकट किया है—

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता ।
तामास्तिक पथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया ।।

अर्थात्—"मीमांसा-शास्त्र लोकायती (भौतिकवादी अथवा नास्तिक) लोगों के अधिकार में आ गया था, मैंने उनका उद्धार करके आस्तिक पथ पर लाने का प्रयत्न किया है ।"

कुमारिल की योग्यता और परिश्रम से इस शास्त्र को नव-जीवन प्राप्त हो गया । उन्होंने अन्य कितने ही प्रतिभाशाली व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाकर इसके विस्तार और प्रचार की भी उत्तम व्यवस्था की । इन शिष्यों में मंडन मिश्र तथा प्रभाकर मिश्र के नाम अभी तक विद्वत् समाज में बड़े आदर के साथ लिये जाते हैं । मंडन मिश्र तो कुछ समय बाद श्रीशङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ में परास्त होकर सुरेश्वराचार्य के नाम से उनके शिष्य बन गये, और प्रभाकर मिश्र ने शवरभाष्य पर दो नई टीकायें लिख कर अपना स्वतन्त्र सिद्धान्त 'गुरु-मत' के नाम से प्रचारित किया, जो आज-कल मीमांसा का सबसे अधिक प्रामाणिक और सुदृढ़ विवेचन स्वीकार किया जाता है ।

इस प्रकार कुमारिल और उनके शिष्यों के प्रयत्न से मीमांसा का उद्धार और प्रचार धूम-धाम के साथ हो गया, पर उसी समय जगद्गुरु शङ्कराचार्य जी का प्रादुर्भाव हो जाने और उनके अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के सम्मुख आ जाने से मीमांसा-पक्ष की सफलता अल्पकालीन और सीमित ही सिद्ध हो सकी । उसके पश्चात् वेदान्त ने ही विशेष रूप से जन-जीवन को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया और मीमांसा कुछ पण्डितों और विद्वानों के पठन-पाठन तथा वादविवाद का विषय ही बन कर रह गया । इसका प्रचार विशेष रूप से मिथिला और आन्ध्रप्रान्त में ही सीमित रहा । कहा जाता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में मिथिला के राजा भैरवसिंह ने एक पुष्करिणी का निर्माण करके यज्ञ किया था, उसमें मीमांसा-शास्त्र के जो विद्वान् निमन्त्रित किये गये थे उनकी संख्या १४ सौ थी ।

मीमांसा का सिद्धान्त—

मीमांसा-दर्शन में 'धर्म जिज्ञासा' वाले प्रथम सूत्र के पश्चात् ही जैमिनि ने धर्म का लक्षण बतलाया है—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" अर्थात् "प्रेरणा या उपदेश वाला अर्थ ही धर्म है।" इसका तात्पर्य यह है कि धर्म प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा या पसन्द पर निर्भर चीज नहीं है वरन् वह एक नैतिक नियम है जिसका पालन करना समाज में रहने वाले मनुष्य के लिये आवश्यक है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो मनुष्य को प्राकृतिक प्रेरणा से विवश होकर करने पड़ते हैं, जैसे खाना, पीना, सोना, शौच आदि। कुछ कार्य राज्य अथवा शासन की आज्ञा से मानते पड़ते हैं, जैसे किसी की वस्तु पर अपना अधिकार न जमाना, पराई स्त्री के सम्पर्क न करना, किसी को शारीरिक चोट न पहुँचाना आदि। तीसरे प्रकार के कार्य नैतिक नियमों के अन्तर्गत आते हैं जिनके लिये मनुष्य पर प्राकृतिक और राज नियमों के समान दबाव तो नहीं रहता, पर अपने और समाज के कल्याण की दृष्टि से जिन्हें उसे करने की प्रेरणा दी जाती है, जैसे दान, परोपकार, उदारता, संयम, क्षमा आदि। इस लिये जैमिनि ने धर्म का जो लक्षण बतलाया है वह बहुत युक्तियुक्त है कि जो कार्य महापुरुषों या लोकोपकारी उपदेशकों की प्रेरणा या आदेश को मानकर करने चाहिये, वे ही धर्म हैं। इसके लिये हम से यही कहा जाता है कि उनका करना हमारा नैतिक कर्तव्य है।

धर्म की परीक्षा—

यद्यपि मीमांसा भी प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द को प्रमाण मानता है, पर उसका कथन है कि धर्म का निर्माण प्रत्यक्ष और अनुभव द्वारा न होकर 'शब्द' द्वारा ही होना सम्भव है। सूत्र १-४ में कहा गया है कि – "प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो पुरुष को इन्द्रियों और बाह्य पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होता है।" यह ज्ञान नित्य नहीं अनित्य है और किसी समय भी परिवर्तित हो सकता है। इन्द्रियों की शक्ति के क्षीण होने

पर कुछ का कुछ समझ लेना और किसी भी इन्द्रिय को भ्रम हो जाना सम्भव है। इसलिये धर्म सम्बन्धी निर्णय में प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा उसके आधार पर उत्पन्न होने वाला अनुमान प्रमाण काम नहीं दे सकता। वे दोनों तथ्यों पर निर्भर रहते हैं जब कि धर्म, नीति का विषय है जो न प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और न जिसका अनुभव किया जा सकता है। फिर मनुष्य का इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमित होता है और उसके द्वारा मनुष्य प्रायः अयथार्थ तत्व को यथार्थ समझने की भूल कर बैठता है। इसलिये धर्म का निर्णय ऐसे आधार पर होना चाहिये जिसमें भ्रम की गुंजायश न हो और जिसे बार-बार बदलने की नौबत न आवे। मीमांसा के मतानुसार ऐसे निर्णय और आदेश वेद के ही हो सकते हैं। इस सिद्धान्त को पाँचवें सूत्र में इस प्रकार उपस्थित किया गया है—

"वेद का प्रत्येक शब्द अपने अर्थ से स्वाभाविक सम्बन्ध रखता है। यह ईश्वरोपदिष्ट धर्म का यथार्थ साधन है। यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा प्राप्त नहीं होता, इससे पारस्परिक विरोध से मुक्त होता है। आचार्य बादरायण के मतानुसार वेदादेश अपनी अर्थ-सत्यता के कारण स्वतः प्रमाण है।"

पर अन्य सब लोग वेद को इस प्रकार ईश्वरीय आदेश मानने को तुरन्त प्रस्तुत नहीं हो जाते। वे इस विषय में अनेक प्रकार की शङ्कायें करते हैं जिनका उल्लेख मीमांसाकार ने स्वयं ही किया है। शङ्का करने वालों का कहना है कि वेद में केवल कर्मकाण्ड सम्बन्धी धार्मिक आदेशों का ही उल्लेख नहीं है, उसमें ऐसे भी बहुत से मन्त्र पाये जाते हैं जिनमें केवल परमात्मा की उपासना का वर्णन है अथवा अन्य सिद्धान्त बतलाये गये हैं। क्या ऐसे कर्मकाण्ड से भिन्न अंशों को अप्रामाणिक माना जाय ? दूसरी बात यह है कि जो वेद के शब्दों और उनके अर्थ को नित्य बतलाया गया है, तो वेद में बहुत से ऐसे शब्द मिलते हैं जो अर्थहीन हैं और उनका पाठ लोग बिना अर्थ को समझे ही करते

रहते हैं । क्या इस प्रकार पाठ करने से भी उनका फल मिलता रहेगा ? तीसरी बात यह है कि वेदों के मन्त्रों के रचयिता मनुष्य ही थे और उसमें अनेक मनुष्यों तथा राजाओं का वर्णन भी पाया जाता है, तब इनको ईश्वरीय आदेश कैसे मान लिया जाय ? चौथी बात यह है कि वेदों में ऐसी घटनाओं का वर्णन भी पाया जाता है जो किसी विशेष काल में हुई हैं। ऐसी दशा में उनको अनादि और नित्य कैसे माना जा सकता है ?

पहली आपत्ति के विषय में मीमांसाकार इस बात को स्वीकार करते हैं कि वेदों में उपासना के मंत्र और सिद्धान्त भी मिलते हैं, पर वे उसी कर्मकाण्ड रूपी धर्म के समर्थन और पुष्टि के लिये हैं । मानव-जीवन एक पक्षीय नहीं है वरन् उसमें ज्ञान, भावना और क्रिया तीनों का मिश्रण रहता है । जो मन्त्र हम परमात्मा की उपासना के लिये पढ़ते हैं उनसे भी प्रेरणा मिलती है कि हम उन धर्मकृत्यों को करें । सिद्धान्त सम्बन्धी मन्त्रों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उससे सिद्ध होता है कि उक्त धर्मकृत्य सिद्धान्ततः ठीक हैं । इस प्रकार जो वेद-वाक्य कर्मकाण्ड से असम्बन्धित जान पड़ते हैं वे अप्रत्यक्ष रूप से उनकी प्रेरणा और पुष्टि का कार्य करते हैं, और इस दृष्टि से समस्त वेद प्रामाणिक हैं ।

दूसरी शङ्का का उत्तर यह है कि वेद में कोई निरर्थक वाक्य नहीं है, हाँ कोई योग्यता के अभाव से उन्हें न समझ सके यह और बात है । यह कहना कि वेद के मन्त्रों का बिना समझे बूझे पाठ करने से भी फल मिल जायगा ठीक नहीं है । वेद वाक्य जादू-टोना की तरह नहीं हैं जो किसी भी तरह उच्चारण कर देने पर अभिलषित परिणाम उपस्थित कर सकें । वेद वाक्य सभी सार्थक हैं और उन्हें अर्थ को समझते हुए ही पढ़ना चाहिये । इसी प्रकार वेदो का प्रयोग करने से मानव-जीवन सफल हो सकता है । इस सम्बन्ध में कहा गया है—

'वेद मंत्रों का अर्थ सहित स्वाध्याय करना चाहिये क्योंकि वेद मनुष्य के लिये पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का साधन

बतलाता है और उसका विवेचन करता है। प्रत्येक मन्त्र में ऋषियों का नाम पाये जाने ने भी यही प्रकट होता है कि वेदों का पठन-पाठन अर्थ सहित ही होना चाहिये। वे ऋषि उन मन्त्रों का विधिवत् प्रचार करने वाले थे। ज्ञान को देने वाला शास्त्र भी एकमात्र वेद ही है। सृष्टि के आदि में मनुष्य को उसी के द्वारा कर्तव्यों का बोध हुआ। (अ० १ पा० २, सू० ३१, ३२, ३९)।

तीसरी और चौथी आपत्ति का उत्तर देते हुए कहा गया है कि वेदों में जहाँ कहीं कुछ व्यक्तियों के राम अथवा घटनाओं का वर्णन पाया जाता है यह वास्तव में वैसा नहीं है। वेद में जो शब्द आये हैं वे सब यौगिक और सामान्य अर्थ वाले हैं। यह दूसरी बात है कि वे कुछ व्यक्तियों के नामों से मिलते-जुलते हों और इससे लोगों को भ्रम हो जाय कि वे किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हैं। भुज्य, तुग्र, सुदास आदि ऐसे ही नाम हैं। इनका अर्थ यौगिक रूप से करना चाहिये।

इस प्रकार मीमांसा केवल वेद को ही धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण मानता है। कर्मकाण्ड का विस्तार के साथ वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों, कल्प-सूत्रों और स्मृतियों में भी पाया जाता है। वैदिक विधानों को समझने और उनकी विस्तृत व्याख्या करने के लिए इन ग्रन्थों का उपयोग किया जा सकता है, पर उनके वे ही अंश माननीय हैं जो वेदानुकूल हों। जो बातें वैदिक सिद्धान्तों से विपरीत पाई जायँ उनको अमान्य कर देना चाहिये। ऐसे प्रमाणों को वेदों की तरह स्वतः-प्रमाण नहीं कहा जाता, वरन् वेदों पर आश्रित होने से वे परतः-प्रमाण कहे जाते हैं।

तत्त्व विचार—

मीमांसा-दर्शन भौतिक जगत् को नित्य मानता है। हमारी इन्द्रियां इस जगत् के पदार्थों को जिस रूप में ग्रहण अथवा उपलब्ध करती हैं, उसी रूप में जगत् सत्य है। मीमांसा-दर्शन, न्याय और वैशेषिक दर्शनों की तरह परमाणु की सत्ता को भी मानता है, पर वह अनुमान

का विषय नहीं वरन् वह उसे प्रत्यक्ष ही मानता है। कुमारिल ने संसार की रचना पाँच तत्त्वों से मानी है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव। दूसरे आचार्य प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, माहश्य और संख्या इन आठ पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। तीसरे आचार्य मुरारी मिश्र ब्रह्म, धर्मि विशेष, धर्म विशेष, आधार विशेष और प्रदेश विशेष इन पाँचों को मानते हैं। इनमें से मुख्य, गुण, कर्म तथा सामान्य का रूप तो अन्य दर्शनों से मिलता-जुलता ही है। परतन्त्रता से आशय समवाय पदार्थ से है जो वैशेषिक में बतलाया गया है। प्रभाकर ने शक्ति को एक स्वतन्त्र तत्त्व इसलिए माना है कि उसके बिना कोई कार्य सम्पन्न होना संभव नहीं होता।

मुरारी मिश्र का मत मीमांसा के अन्य सब भाष्यकारों से ही भिन्न नहीं है, वरन् अन्य समस्त दार्शनिकों से भी वहुत विलक्षण है। ये मूल रूप से एकमात्र ब्रह्म की सत्ता ही स्वीकार करते हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से चार पदार्थ और मानते हैं—धर्मि (घट) धर्म (घटत्व) आधार (घट का अनियत आश्रम) तथा प्रदेश विदेश (घट का अनियत स्थान) इस प्रकार मुरारी ब्रह्म के अन्तर्गत द्रव्य, गुण, काल व देश की कल्पना करते हैं।

'अपूर्व' का सिद्धान्त —

मीमांसा दर्शन का 'अपूर्व' सिद्धान्त एक ऐसा विषय है जिसका नाम भी किसी अन्य दर्शन में नहीं पाया जाता। इसकी व्याख्या करते हुए एक लेखक ने कहा है—"अपूर्व का शाब्दिक अर्थ है "पूर्व" अर्थात् कर्मों से नवीन उत्पन्न होने वाला फल—पाप तथा पुण्यरूप फल। मीमांसक कर्मवादी हैं। वे वेद द्वारा विहित कर्म को, सर्वाधिक महत्व देते हैं, यह तो उनके 'कर्म मीमांसा' नामकरण में ही स्पष्ट है। परन्तु यज्ञ के अनुष्ठान में एक विप्रपत्ति या परस्पर विरोधी तथ्य दिखाई पड़ता है। वेद कहता है "स्वर्गकामो यजेत" अर्थात् स्वर्ग की कामना वाला व्यक्ति यज्ञ करे। इसका आशय यह है कि यज्ञानुष्ठान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इसलिए

यज्ञ करना चाहिये। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि यज्ञ तो यजमान आज कर रहा है और उसे फल मिलेगा किसी भविष्य काल में। इसमें यह असङ्गति उत्पन्न होती है कि क्रिया तो हम आज कर रहे हैं और उसका फल मिलेगा वर्षों बाद जब वह कर्म भूतकाल की वस्तु बन चुकी होगी। यह स्पष्ट विरोध है। इसी विरोध का परिहार करने के निमित्त मीमांसा ने 'अपूर्व' की कल्पना की है। इसका आशय यह कि यज्ञ से उत्पन्न होता है 'अपूर्व' (पुण्य) और अपूर्व से उत्पन्न होता है स्वर्ग (फल)। इस प्रकार क्रिया और फल के बीच अपूर्व माध्यम का काम करता है। "जैसा ऊपर कहा गया है अन्य मार्ग-दर्शनों के अनुयायी इस सिद्धान्त को इस आधार पर स्वीकार नहीं करते कि 'कर्म' तो जड़ हैं, वे किस प्रकार किसी आगामी समय में बिना किसी की प्रेरणा के फल दे सकते हैं? उनके मतानुसार फल देने का काम ईश्वरीय शक्ति करती है।

प्रामाण्यवाद--

'प्रामाण्यवाद' भी मीमांसा शास्त्र का एक ऐसा ही सिद्धान्त है जिसको मानने की आवश्यकता अन्य दार्शनिकों को नहीं होती। वे लोग प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के आधार पर किसी पदार्थ का निर्णय करते हैं। पर मीमांसक सिवाय 'शब्द प्रमाण' या 'आगम-प्रमाण' के और किसी प्रमाण को वास्तविक नहीं समझते। वे केवल वेद वाक्यों को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं। इसलिए जब वे प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण की भी चर्चा करते हैं तो उसकी परीक्षा वेदों के प्रमाण के आधार पर करते हैं और उसके ठीक मालूम पड़ने पर उसे भी स्वतः प्रमाण की श्रेणी में ही मान लेते हैं।

मीमांसकों का मत है कि हम इन्द्रियों जो कुछ ज्ञान प्राप्त करते हैं वह यथार्थ है और उसे सत्य मानकर स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करना चाहिये। उनका कथन है कि ज्ञान यदि यथार्थ न हो तो उसे ज्ञान कहना ही व्यर्थ है। एक ही वस्तु को 'ज्ञान' तथा 'मिथ्या'

दोनों तरह से कहना यह परस्पर विरोधी बात है। ज्ञान स्वयं प्रकाशित होने से ही स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता है।

कर्म-सिद्धान्त —

मीमांसा का मुख्य आधार 'कर्म-सिद्धान्त' है और उसी का विवेचन तथा विश्लेषण इस शास्त्र में पाया जाता है। कर्म से उनका अभिप्राय है वैदिक-यज्ञ संबंधी कर्मकाण्ड का अनुष्ठान। इस प्रवृत्ति को देखकर एक निरपेक्ष विद्वान ने समस्त दर्शनों का सार बतलाते हुए ''कर्मेति मीमांसकाः' कहा है। इसका आशय यह है कि मीमांसा की दृष्टि में सबसे बड़ा तत्त्व जो कि ईश्वर की समता कर सकता है, कर्म ही है। इस कर्म-सिद्धान्त की आलोचना करते हुए एक अन्य विद्वान् ने कहा है—

''कर्म-मीमांसा का मुख्य उद्देश्य यह है कि प्राणी वेद के द्वारा प्रतिपादित अभीष्ट-साधक कार्यों में लगे और अपना वास्तविक कल्याण साधन करे। यज्ञ-यागादि में किसी देवता विशेष (जैसे इन्द्र, विष्णु, वरुण आदि) को लक्ष्य करके आहुति दी जाती है। वेदों में इन देवों के स्वरूप का पूरा वर्णन मिलता है हर मीमांसा के मत में 'देवता' सम्प्रदान-कारक सूचक पद-मात्र है। इससे बढ़ कर उसकी कुछ स्थिति नहीं। देवता मन्त्रात्मक होते हैं और देवताओं की पृथक् सत्ता उन मन्त्रों को छोड़ कर अलग नहीं होती, जिनके द्वारा उनके लिए होम का विधान होता है। तब प्रश्न होता है कि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किस लिए किया जाय ? इस सम्बन्ध में सामान्य मत तो यह है कि किसी कामना की पूर्ति के लिए। परन्तु विशेष मत यह है कि बिना किसी कामना के ही वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। ऋषियों ने अपनी ज्ञान-दृष्टि से जिन वैदिक मन्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म का हमें उपदेश दिया है, उनका उद्देश्य हमारा आत्म-कल्याण ही है। इसके लिए उनका अनुष्ठान किसी विशेष प्रयोजन के सिद्धि की भावना रखे बिना, निष्काम भाव से ही करना चाहिये।

"वैदिक-कर्मों का फल स्वर्ग प्राप्ति माना गया है। निरतिशय सुख का नाम ही 'स्वर्ग' है। 'स्वर्गकामो यजेत' वाक्य में यज्ञ कार्य के सम्पादन का उद्देश्य स्पष्ट रूप से स्वर्ग की कामना दिया गया है। परन्तु अन्य सब दर्शनों में मानव-जीवन का चरम लक्ष्य 'मोक्ष' बतलाया गया है। फलत: मीमांसा में भी मोक्ष की भावना ने प्रवेश किया। सकाम कर्मों का अनुष्ठान से तो पाप-पुण्य होते हैं, जिससे जीवात्मा सदैव बन्धनों में ही पड़ा रहता है। पर निष्काम धर्माचरण से तथा आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्व कर्मों के सञ्चित संस्कार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से छुटकारा पाकर दु:खों से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।"

अन्य मीमांसक विद्वान् ने कर्म का विभाजन तीन श्रेणियों में किया है—सहज-कर्म, जैव-कर्म, ऐश-कर्म। प्रकृति की आरम्भिक अवस्था में जो कर्म प्रकट करता है ब्रह्मांड और पंचभूतों की उत्पत्ति, उद्‌भिज के रूप में जीव सृष्टि का आरम्भ होना सहज कर्म माने जाते हैं। मीमांसा इनको प्रकृति के कर्म मानता है। इसके पश्चात् जब उद्-भिज से चलने-फिरने वाले प्राणी बन कर अन्त में मनुष्य का आभिर्भाव हो जाता है तब जैव-कर्म आरम्भ होता है। क्योंकि मनुष्य को बुद्धि, विवेक मिल जाने के कारण वह पाप-पुण्य का निर्णय कर सकता है और आप भी इच्छानुसार किसी भी मार्ग का अवलम्बन कर सकता है। इसी जैव-कर्म के फलस्वरूप मनुष्य प्रेतयोनि, स्वर्ग, नरक, मनुष्य लोक आदि में भ्रमण करता हुआ तरह-तरह की योनियों का अनुभव करता रहता है। इसी अवस्था में वह वेद, पुराण, धर्म ग्रन्थ आदि की सहायता से आत्मिक उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता जाता है। ऐश-कर्म का संबंध मनुष्य लोक से उच्च स्थिति वाले देवलोक से है, पर मनुष्य लोक से भी उसका परोक्ष सम्बन्ध रहता है। इसी कर्म के प्रभाव से मनुष्य देव पदवी को प्राप्त करता है और निरन्तर परमात्मा की की प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर होता रहता है। इस प्रकार कर्म महिमा अपार है और चाहे

उसे मीमांसकों की तरह सर्वोपरि माना जाय या न माना जाय, पर इसमें सन्देह नहीं कि संसार में प्रत्यक्ष कर्ता-धर्ता और फलदाता कर्म ही हैं। इस तत्त्व को समझ कर गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी 'रामायण में, कह दिया है कि—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा ॥

संसार मे विभिन्न जातियों, देशों और व्यक्तियों की जैसी उन्नत या अवनत दशा देखी जाती है, उसका मूल आधार कर्म ही है, किसी भी जाति का ऊँचा चढ़ना या नीचा गिरना, शक्तिशाली और स्वाधीन बनना अथवा पराधीनता और दासता की पतित अवस्था को प्राप्त हो जाना, सब बातें कर्म के ही अधीन हैं।

मीमांसा और यज्ञ--

यज्ञ भारतीय जीवन का एक अति प्राचीन और सर्वव्यापी अंग है। यह तो सभी जानते हैं और मानते हैं कि संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है और भारतीय धर्म का तो वही मूल आधार है। ऋग्वेद से विदित होता है कि यज्ञ भारतवासियों का सर्वोच्च धर्म था। वैदिक धर्म के समय उत्सवों, त्यौहारों और धार्मिक क्रियाओं की रचना यज्ञ को दृष्टिगोचर रख कर ही की गई थी। एक हिन्दू के जीवन में जन्म से लेकर मरण तक जितने संस्कार होते हैं उन सब में यज्ञ का किसी न किसी रूप में समावेश किया गया है। भगवद् गीता के अनुसार मनुष्य का जीवन ही यज्ञमय है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

"प्रजापति ने सृष्टि के आदि में ही प्राणियों के साथ यज्ञ की भी उत्पत्ति की और कहा कि तुम इन यज्ञों के द्वारा फलो-फूलो और अपनी समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति करो।"

ऋग्वेद की पहली पंक्ति में ही यज्ञ का उल्लेख किया गया है और उसे मनुष्यों के लोक-परलोक की सफलता का सर्वोपरि साधन बतलाया गया है—

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतार रत्नधाततम् ।

"हम उन अग्निदेव की स्तुति करते हैं जो पुरोहित, ऋत्विज, यज्ञ के देवता तथा देवताओं के आह्वाता हैं। वे रत्नों की खान हैं और हमें भी श्रेष्ठ रत्न प्रदान करें।

इस मन्त्र का तात्पर्य यही है कि यज्ञ मनुष्य का सर्व प्रधान धर्म कृत्य है और उसी से उसका जीवन सार्थक हो सकता है। जीवन का उत्थान देव शक्तियों की कृपा से ही हो सकता है और उनसे सम्बन्ध स्थापित करने का मनुष्य साधन यज्ञ ही है। सांसारिक परिस्थिति में रह कर जीवन निर्वाह करने वाले हिन्दू का देवाराधन मुख्य कर्तव्य है और उसका माध्यम यज्ञ है। गीता में भी यही कहा गया है कि यज्ञ के द्वारा देवता तुम से सन्तुष्ट रहेंगे और तुम्हारी उन्नति और कल्याण में सहयोग देंगे। यदि ऐसा न किया जायगा तो देव शक्तियां क्षीण हो जायेंगी और उनकी सहायता न मिलने पर तुम भी निर्बल और निस्तेज हो जाओगे।

इतना ही नहीं 'भगवद्गीता' के विविध वचनों का सामञ्जस्य करने और उनमें निहित आशय पर विचार करने से यह भी प्रकट होता है कि यद्यपि अग्निहोत्र मूलक यज्ञ वेदानुकूल थे, पर जैसे जैसे ज्ञान-मार्ग का, ब्रह्म विद्या का प्रचार होता गया और उच्चकोटि के विद्वान् उपनिषदों की शिक्षा को कल्याणकारी समझ कर स्वीकार करते गये, वैसे-वैसे ही कर्मकाण्डमूलक यज्ञों की स्थिति गौण होती चली गई। तब 'यज्ञ' का अर्थ केवल 'दर्शपूर्णमास' 'ज्योतिष्टोम' 'अश्वमेध' आदि दो-चार तरह के धूमधाम वाले क्रियाकाण्ड युक्त सामूहिक यज्ञ ही न रह गये, वरन् मानव-जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों को 'यज्ञ' के नाम से ही ग्रहण

किया जाने लगा। गीता के "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा" वाले श्लोक का यही तात्पर्य है कि प्रजा की प्रगति और कल्याण के सभी कार्य यज्ञरूप हैं। चाहे वे ऋत्विजों द्वारा अग्निहोत्र के रूप में किए जायें और चाहे नित्य प्रति के जीवन-निर्वाह के कर्तव्य-पालन के रूप में। इसी से स्मृतियों में नित्य करने के लिए 'पंच गृह यज्ञ' बतलाए गए। मनुस्मृति के मतानुसार "वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है, होम देवयज्ञ है, भूतयज्ञ है और अतिथि सन्तर्पण मनुष्य-यज्ञ है। इन-पाँच यज्ञों द्वारा ऋषियों, पितरों, देवताओं, प्राणियों तथा मनुष्यों को पहले तृप्त कर के तब गृहस्थ को स्वयं भोजन करना चाहिए। इन यज्ञों के कर लेने पर जो अन्न बचता है वह 'अमृत' कहा गया है। पर जो केवल अपने पेट के लिए पकाता और अकेला ही खाता है उसे सभी धर्म ग्रन्थों ने 'अघाशी' (पाप खाने वाला) कहा है।

धर्म ग्रन्थों के उपर्युक्त विवेचन से यह भी प्रकट होता है कि यज्ञ-कर्म केवल ब्राह्मणों के लिए ही नहीं है, वरन् यह मनुष्य मात्र का धर्म है। उपर्युक्त पाँचों कर्मों में से कोई ऐसा नहीं है जिसे करने से किसी भी वर्ण या जाति के व्यक्ति को रोका जाय। ये तो मानवता के कर्तव्य हैं और जो इनको त्याग देगा या इससे विपरीत मार्ग पर चलेगा उसे मानवता से पतित माना जायगा। इसलिए धर्म शास्त्र ने प्रत्येक मनुष्य को यज्ञ-कर्म का आदेश दिया है। इसमें यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक मनुष्य सोम और पुरोडाश द्वारा बड़े-बड़े यज्ञ करे और सुवर्ण की दक्षिणा दे। नहीं, अपना जो कर्तव्य भगवान् ने नियत कर दिया है उसे सच्चे हृदय से कर्तव्य समझते हुए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर करना ही वास्तविक यज्ञ है। इस सम्बन्ध में 'महाभारत' का उपदेश:—

आरम्भयज्ञाः क्षत्राश्च, हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचार यज्ञाः शूद्राश्च, जपयज्ञा द्विजास्तथा॥

"क्षत्रियों के लिए उद्योग और पराक्रम करना यज्ञ है, वैश्यों के लिए अन्न आदि सामग्री का होम करना यज्ञ है, शूद्रों के लिए उत्तम

प्रकार से सेवा करना यज्ञ है और ब्राह्मणों के लिए जप, परमात्मा का ध्यान व आत्मा-तत्त्व के अनुकूल आचरण यज्ञ रूप है।"

(महा० शान्ति पर्व २६७/१२)

इस प्रकार सिद्ध होता है कि समाज की अस्तित्व-रक्षा और प्रगति के लिए जितने आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य हैं वे यज्ञ रूप ही हैं। जहाँ इन कार्यों को सचाई और कर्तव्य की भावना से पूरा किया जायगा वहाँ उन्नति, कल्याण और सुख दिखाई पड़ेगा और जहाँ इनकी उपेक्षा की जायगी अथवा सामाजिक हित के बजाय इन्हें संकीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से किया जायगा (जैसा कि वर्तमान समय में विशेष रूप से दिखाई दे रहा है, तो इससे सबका अहित होगा और अन्त में समाज का उच्छेद हो जाना भी सम्भव है।

इस दृष्टि से 'यज्ञ' का विरोध कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति नहीं कर सकता। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि यज्ञ किसी एक ही क्रिया या कर्म-पद्धति का नाम नहीं है। अपनी-अपनी योग्यता परि-स्थिति और साधनों के अनुसार सभी उसे कर सकते हैं। मीमांसा के अनुसार अग्निहोत्र और ज्योतिष्टोम करना यज्ञ है, मनुस्मृति के अनुसार स्वाध्याय, तर्पण, अतिथि सत्कार भी यज्ञ है और महाभारत के अनुसार अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों का पालन भी 'यज्ञ' है। तुम इनमें से किसी भी प्रकार का यज्ञ करो पर उसे करते हुए गीता की इस शिक्षा का ध्यान रखो कि जो कुछ किया जाय फलाशा का त्याग कर निष्काम भावना से किया जाय। ऐसा करने से ही वह साधारण कर्म भी 'यज्ञ' बन जाता है और श्रेष्ठ फल प्रदान करता है। यही वह 'यज्ञीय भावना' है जिस पर गीता में बारम्बार जोर दिया गया है और जिसके बिना बड़े से बड़ा लाखों रुपया खर्च करके किया हुआ विशाल महायज्ञ बन्धनकारक ही सिद्ध होता है। इसी से वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—

प्राप्यन्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् ।
तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ।।

"इस लोक में जो यज्ञ-याग आदि पुण्य कर्म किये जाते हैं उनका फल स्वर्ग-उपभोग करके समाप्त हो जाता है और तब यज्ञ करने वाले को पुनः स्वर्ग से इसी कर्म-लोक में आना पड़ता है ।"

मीमांसा द्वारा विवेचना किये गये छोटे-बड़े आहुति वाले यज्ञ भी इसी दृष्टि से पुण्य कर्म माने गये कि "यज्ञ में हवन किये गये द्रव्य अग्नि द्वारा सूर्य को पहुँचते हैं, सूर्य से पर्जन्य, पर्जन्य से अन्न और अन्न से प्रजा का पालन होता है ।" (गीता—१४) यदि किसी को ऐसे व्ययसाध्य यज्ञों को करने की सामर्थ्य न हो तो उसके लिए नित्य किए जाने वाले 'पंच यज्ञ' भी यही प्रतिफल दे सकते हैं, क्योंकि उनसे समाज में सद्-प्रवृत्तियों और श्रेष्ठ भावनाओं का प्रसार होता है और मनुष्य परस्पर सहयोगपूर्वक रहने की शिक्षा प्राप्त करते हैं । विशेष परिस्थिति आ जाने के कारण यदि कोई पंच-यज्ञ भी न कर सके तो अपने वर्ण-धर्म का दृढ़तापूर्वक पालन भी उसे जीवन्मुक्त स्थिति तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखता है । मुख्य बात भावना की है । जो भी कर्म 'यज्ञीय भावना' से स्वार्थरहित होकर, परोपकारार्थ किया जायगा वह मनुष्य को उत्थान-मार्ग में अग्रसर करेगा और सदैव कल्याणकारी सिद्ध होगा ।

पूर्व मीमांसा दर्शन में इसी तत्वज्ञान को अपना मूल आधार बनाया है और यज्ञ-यागादि को मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य बतलाकर उसकी महत्ता, क्रिया और विधि की विवेचना पर सबसे अधिक ध्यान दिया है । यह सत्य है कि उत्तम कोटि के अधिकारियों के लिए ज्ञान और योग के मार्ग का भी प्रतिपादन किया गया है, पर इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि उन मार्गों को स्वीकार करने वाले और उनका पालन कर सकने वाले सौ में से दो-चार भी कठिनता से मिल सकते हैं । शेष लोग जिनके स्वभाव में विरक्तता की भावना नहीं है और जो भोगों

को ही संसार में जन्म लेने का मुख्य कारण समझते हैं वे देवाराधन के कर्मकांड द्वारा ही अपना लौकिक-पारलौकिक कल्याण कर सकते हैं। इसीलिए महर्षि जैमिनी ने अपने 'दर्शन' का आरम्भ 'ब्रह्म-जिज्ञासा' के बजाय 'धर्म-जिज्ञासा' से किया हैं। 'ब्रह्म' के मार्ग पर चलना योगियों और ज्ञानियों का काम है और कर्मकांड मूलक धर्म जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ सिद्ध किये जाते हैं। लौकिक पुरुषों के लिए उपयोगी हैं। इससे भी उत्तम और सर्वोपयोगी विधान इन दोनों मार्गों में सामञ्जस्य उत्पन्न करके कर्म और ज्ञान का यथायोग्य व्यवहार करना अर्थात् नियमानुसार कर्म में प्रवृत्त रहना पर फलाशा में आसक्त न होना, यही सब धर्म-शास्त्रों का सार है।

मीमांसा और ईश्वरवाद—

मीमांसा का ईश्वर के सम्बन्ध में क्या सिद्धान्त है यह एक बड़ा महत्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्न है। कितने ही विद्वान् तो उसे खुल्लम-खुल्ला अनीश्वरवादी बतलाते हैं। उनका कथन है कि मीमांसा ने ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कहीं एक शब्द भी नहीं लिखा है और न उसकी पूजा, उपासना की कोई आवश्यकता प्रकट की है। जब हम मीमांसा के प्रमुख सिद्धान्तों पर विचार करते हैं तो इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनकी पूर्ति के लिए कहीं भी ईश्वर-तत्त्व को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मीमांसा ने जगत् को इसी रूप में नित्य माना है, वेदों को भी वह एक ही रूप में सदा से स्थिर कहता है और जीवों को फल देने की सामर्थ्य भी कर्म में ही बतलाता है। इस प्रकार उसे सृष्टि-निर्माण, कर्मफल और वेदों की रचना आदि किसी भी कार्य के लिए ईश्वर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसी आधार पर लोग उसे अनीश्वरवादी कहने लगते हैं।

पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है। यद्यपि कई भाष्यकारों ने कहीं-कहीं ईश्वर की चर्चा में खण्डनात्मक विचार प्रकट कर दिये हैं पर

मीमांसा के मूल सूत्रों में ऐसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती। उदाहरण के लिए ६-२-१६ में पूर्व पक्ष की ओर से शङ्का उपस्थित की गई है कि—

"लोके कर्मणि वेदवत्ततोऽधिपुरुष ज्ञानम्।"

अर्थात्—"लोक में भी वेद की तरह कर्म किये जाते हैं और उनसे भी परमात्मा का ज्ञान हो सकता है फिर वेद के मानने की क्या आवश्यकता है?" इसकी पुष्टि के लिए आगे कहा है—

अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम्।

अर्थात्—"कोई अपराध करने पर दुनियादार आदमी भी अपराध का दण्ड विधान कर देते हैं फिर इसके लिए वेद को मानने की क्या आवश्यकता है?"

इन तर्कों का उत्तर देते हुए मीमांसकार ने ईश्वर-तत्व की प्राप्ति ही इसका हेतु बतलाया है—

"आशास्त्रात्तू पसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्नव प्रकल्पकं, तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत्, देवताश्रये च।"

अर्थात्—"शास्त्र वेद को न माना जाय तो देव परमात्मा की प्राप्ति, उसका ज्ञान असम्भव हो जायगा। लौकिक साधनों से इन्द्रिय-अगोचर पदार्थों की प्राप्ति सम्भव नहीं है। देव (परमात्मा) के मानने से ही शास्त्र सार्थक हो सकता है।"

इसके सिवाय भी स्थान-स्थान पर परमात्मा की उपासना और प्राप्ति का संकेत सूत्रों में किया गया है। जैसे—

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथा भूतोपदेशात्।

"सर्वशक्तिमान् परमात्मा की प्राप्ति के लिए सब कर्मों में प्रवृत्ति होनी चाहिये, ऐसा ही उपदेश शास्त्रों में दिया गया है।"

अपि वाप्येकदेशे स्यात् प्रधानेह्यर्थ निवृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात्।

"कर्म प्रभु के एक देश से सम्बन्धित है और उसकी प्राप्ति के लिए इनका अनुष्ठान किया जाना आवश्यक है। अन्य पूजा, उपासना आदि बातें गौण हैं।'

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेष: स्यात्प्रधानेनाऽपिसम्बन्धात्।

"जो कर्म परमात्मा की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाता, उससे उदासीन रहकर किया जाता है वह वेद के मत से सदोष और निष्फल होता है। वही कर्म उत्तम है जिसका सम्बन्ध परमात्मा से हो।"

इन सब सूत्रों के होते हुए मीमांसा के निरीश्वरवादी होने की शङ्का उठाना व्यर्थ है। वास्तविक तथ्य यह है कि मीमांसा मुख्यतया कर्मकाण्ड मूलक दर्शन है, यज्ञ-महायज्ञ उसके प्रमुख विचारणीय विषय हैं, इसलिए उसमें उसी का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। फिर भी उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया है ये यज्ञ-यागादि काम्य-भाव से नहीं पर निष्काम भाव से करने चाहिये तभी उनका वास्तविक लाभ प्राप्त हो सकता है। यों साधारणत: "स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे" अथवा 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, ऐसे विचार लोगों में प्रचलित हैं, पर इसके साथ में यह भी कहा गया है कि कामनायुक्त कर्म पाप-पुण्य का बन्धनकारक होता है और उसके करते रहने पर मोक्ष का मिलना सम्भव नहीं होता। इसलिए मोक्ष अथवा ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करने की अभिलाषा वालों को निष्काम भाव से ही कर्मकांड का अनुष्ठान करना चाहिये।

यह सम्भव है कि मीमांसा-दर्शन के बहुसंख्यक भाष्यकारों ने अपने विचारानुसार उक्त सूत्रों का अर्थ भिन्न प्रकार से किया हो और उनमें ईश्वर की चर्चा न पाई जाती हो, फिर भी जहां तक मीमांसा-साहित्य का अध्ययन किया गया है मीमांसा में ईश्वर के खंडन की बात कहीं नहीं मिलती। ऐसी दशा में यदि मीमांसाकार ने अपना विवेचन

कर्मकाण्ड तक ही सीमित रखा हो और विषयान्तर के ख्याल से अन्य विषय की विशेष रूप से चर्चा न की हो तो यह कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे उसे ईश्वर विरोधी घोषित किया जा सके।

मीमांसा के ईश्वरवादी होने का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि सर्वोपरि ईश्वरवादी वेदान्त-दर्शन ने मीमांसाकार महर्षि जैमिनि का प्रमाण ईश्वर सिद्धि के सम्बन्ध में दिया है। जीव की मुक्त-अवस्था वर्णन करते हुए महर्षि बादरायण कहते हैं—

ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः। (वेद ४-४-६)

अर्थात्—"जैमिनि आचार्य के मतानुसार मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म के आनन्द आदि गुणों को धारण करता है।" इस कथन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि मीमांसाकार महर्षि जैमिनि ईश्वर को मानते थे और उसके सच्चिदानन्द स्वरूप में विश्वास रखते थे। एक अन्य सूत्र में कहा गया है—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः।

अर्थात्—"आचार्य जैमिनि साक्षात् ही वैश्वानर पद के ईश्वरार्थक होने का अविरोध कथन करते हैं।" इसका आशय यह है कि मीमांसा-दर्शन अग्नि को परमात्मा का स्वरूप ही मानता है।

वेदान्त-दर्शन से यह भी सिद्ध होता है कि मीमांसाकार जैमिनि जीवात्मा और परमात्मा के सम्मिलिन के विषय में भी एक-सी ही सम्मति रखते हैं। इस सम्बन्ध में वेदान्त दर्शन के चौथे अध्याय के तीसरे पाद में तीन सूत्र दिये गये हैं—

परं जैमिनिर्मुख्य त्वात् ॥१२॥
दर्शनाच्च ॥१३॥
न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥१४॥

इनका तात्पर्य यह है कि—"जीवात्मा जब ब्रह्मलोक को प्राप्त

होता है तो इसमें कुछ लोग शङ्का करते हैं कि वह जीवात्मा परब्रह्म (निर्गुण) को प्राप्त होता है अथवा कार्यब्रह्म (सगुण) को । इस विषय में जैमिनि का मत है कि मुख्य अथवा परम्ब्रह्म को ही प्राप्त होता है । किसी वचन में गौण अर्थ की कल्पना उस समय की जाती है जब कि मुख्य अर्थ की कोई उपयोगिता न हो । इसलिए जब परब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है और सब लोक उसी के रचे हैं तो 'ब्रह्म' शब्द से कार्यब्रह्म की कल्पना करना निरर्थक है ।

दूसरे सूत्र में बतलाया गया है कि अध्यात्म विषयक अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में भी जीवात्मा की ऐसी ही गति बतलाई गई है । छांदोग्य उपनिषद् में कहा है कि—"मुक्तात्मा पुरुष सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ऊपर उठ कर अमृतत्व को प्राप्त होता है ।" कठोपनिषद् में कहा है कि—"वह संसार-मार्ग से उस पार विष्णु के परमपद को प्राप्त होता है ।" इससे यही विदित होता है कि मुक्तात्मा कार्यब्रह्म के समीप नहीं वरन् परब्रह्म के लोक में ही पहुँचते हैं ।

तीसरे सूत्र में इसी मत को दृढ़ करते हुए कहा है कि—"जब मुक्तात्मा परब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही साधना करते हैं और वही उनका लक्ष्य होता है तो कोई कारण नहीं कि उनकी गति कार्यब्रह्म तक मानी जाय । उपनिषदों में जीवात्मा के प्रजापति के सभाभवन में पहुँचने का वर्णन मिलता है, पर उसका यह आशय नहीं कि वह वहीं रहने लगता है । उस वर्णन से यही प्रकट होता है कि जीवात्मा किस क्रम से ऊपर कि ओर उठता जाता है और अन्त में अपने लक्ष्य-स्थान को प्राप्त होता है ।"

दूसरा प्रमाण यह भी है कि जब वे यज्ञ और महायज्ञों का इतना अधिक समर्थन करते हैं और यज्ञों का मुख्य उद्देश्य देवताओं के नाम पर आहुतियाँ देना ही है, तो वे ईश्वर के विरोधी अथवा न मानने वाले कैसे हो सकते हैं ? वेदों में तो जगह-जगह यह कहा गया है कि जितने देवता हैं वे सब एक परब्रह्म की शक्तियों के ही विभिन्न रूप हैं ।

उपनिषदों में कहा गया है इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा (वायु) वरुण, अश्विनीकुमार आदि सब एक ही परमात्मा के अलग-अलग नाम हैं। ऐसी दशा में मीमांसा देवताओं की पूजा, उपासना का समर्थन करता हुआ ईश्वर को कैसे अमान्य कर सकता है ? यज्ञ आस्तिकता का चिह्न हैं न कि नास्तिकता का। देवताओं और परमात्मा के मानने में कोई खास अन्तर नहीं और 'देव' शब्द तो परमात्मा के लिये सदैव उपयोग किया जाता है।

मीमांसाशास्त्र के अन्य आचार्यों के बनाये ग्रन्थों से भी यही प्रकट होता है कि उनमें ईश्वर का प्रसङ्ग ही नहीं उठाया गया है और समस्त शक्ति कर्मकाण्ड को सर्वोपरि महत्ता तथा तत्सम्बन्धी क्रियाओं के निर्णय पर ही लगाई गई है। कुमारिल ने अपने ग्रन्थ में 'सर्वज्ञता' का खण्डन किया है, जिससे कुछ लोग उसे ईश्वर का खण्डन समझ लेते हैं। पर कुमारिल का उद्देश्य बौद्ध और जैन धर्म में वर्णित 'सर्वज्ञता' का खण्डन करने से है। कुमारिल के शिष्य प्रभाकर ने भी अनुमान द्वारा सिद्ध ईश्वर का खण्डन किया है। उनका मत है कि वेद में ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया हैं वही मान्य है। अन्य प्रमाणों, तर्कों और अनुमान आदि द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयत्न हास्यास्पद है। बाद के आचार्यों ने जीव का मोक्ष होने का वर्णन करते हुए यह माना है कि जब तक कर्मों को निष्काम भाव से करके उनका फल ईश्वरार्पण न किया जायगा तब तक सांसारिक बन्धनों से छूट कर मुक्ति प्राप्त कर सकना संभव नहीं। इस प्रकार मीमांसा में कहीं ईश्वर के खण्डन की कोई बात देखने में नहीं आती वरन् कर्म-फल के प्रसङ्ग में उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार ही किया गया हैं। इस विषय की व्याख्या में उसका अन्य दर्शनों से वैसा ही मतभेद है जैसा सब में एक दूसरे से पाया जाता है। जैसे वेदान्त-दर्शन मोक्ष अवस्था में जीवात्मा का परमात्मा में पूर्ण रूप से विलीन होना मानता

है, पर जैमिनी का मत है कि ' मुक्त-आत्मा ब्रह्म में लीन नहीं हो जाती, वरन् ब्रह्म के सदृश हो जाती है, उसका अपना अस्तित्व बना रहता है। उसमें ज्ञान के साथ अनुभूति का भाव भी रहता है।"

प्राचीन ग्रन्थों में काल-प्रभाव से बहुत से मतभेदों और पाठान्तरों का हो जाना कोई असम्भव या आश्चर्य की बात नहीं है। एक शब्द अनेक अर्थों का वाची होता है और एक वाक्य का अन्वय विद्वान लोग तरह-तरह से कर सकते हैं। इसी के फलस्वरूप यह अन्तर धीरे-धीरे बढ़ता हुआ कुछ सौ वर्षों में इतना अधिक हो जाता है कि लोगों को एक ही ग्रन्थ अथवा एक ही लेखक की बातें एक-दूसरे से प्रतिकूल जान पड़ने लगती हैं। तब इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि वास्तविकता की खोज कर उन विरोधों को दूर किया जाय। स्वयं मीमाँसा-दर्शन की रचना इसी प्रकार हुई है। जब वैदिक कर्मकाण्ड कई शाखाओं में बँट गया और लोग एक-दूसरे से विपरीत विधान का प्रयोग करने लगे तब महर्षि जैमिनि ने अनेक प्रकार की क्रियाओं और भिन्नताओं का विश्लेषण करके वेद-वाक्यों के वास्तविक आशय को प्रकट करने के लिये मीमांसा सूत्रों की रचना की।

मीमांसा और पशु-बलिदान--

मीमांसा-दर्शन पर जो सबसे बड़ा आक्षेप किया जाता है वह यह है कि उसमें यज्ञ में पशुओं को मार कर उनके अंग-प्रत्यंगों को हवन करने का विधान पाया जाता है। इस बात के कहने वाले साधारण अल्प बुद्धि वाले लोग नहीं हैं, वरन् बहुसंख्यक संस्कृतज्ञ पण्डित और शास्त्रों का अध्ययन करने वाले भी यही बात कहते हैं। इसके परिणाम स्वरूप आजकल के पण्डित समुदाय में मीमांसा-दर्शन के प्रति एक प्रकार की विरक्तता का भाव उत्पन्न हो गया है और वे उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगे हैं।

यह बात भी सभी इतिहासज्ञ कहते हैं कि मध्यकाल में यज्ञों में पशु हिंसा का प्रचार हो गया था और एक समय यह हिंसा इतनी बढ़ गई थी कि मूक पशुओं के करुण चीत्कार से अदृश्य शक्ति का आसन भी हिल उठा था। इसी के परिणाम स्वरूप नौवें अवतार भगवान् बुद्धदेव का आविर्भाव हुआ। जिन्होंने बड़े प्रयत्न और परिश्रम से इस कुप्रथा का अन्त कराया। यह घटना एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे कोई निष्पक्ष व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। पर प्रश्न यह है कि क्या यह पशु-हिंसा यज्ञों में सदा से होती आई थी और शास्त्रों में उसका स्पष्टतः विधान है ? इस सम्बन्ध में विदेशियों का मत तो चाहे जो हो पर जिन भारतीय विद्वानों ने इस सम्बन्ध में शास्त्रीय वचनों पर विचार किया है उनका यही मत है कि यह हिंसा बाद में धूर्त और पाखण्डियों ने सम्मिलित कर दी थी। महाभारत (शान्ति पर्व) में कहा गया है--

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्त्तैः प्रवर्तित यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते ॥

अर्थात् "मद्य, मछली और पशुओं का मांस तथा द्विजातियों का बलिदान आदि धूर्तों द्वारा यज्ञ में प्रवर्तित हुआ है। वेदों में माँस का विधान नहीं है।"

वस्तु स्थिति यह है कि कर्मकाण्ड मूलक धर्म में प्राचीन काल से ही दैवी और आसुरी दोनों पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं त्रेता युग में रावण को वेदों का प्रकाण्ड पण्डित माना गया था और उसने वेदों पर भाष्य भी किया था। पर असुर होने के कारण उसने वेदों के यज्ञीय मन्त्रों का अर्थ मांसपरक ही किया। रामायण से विदित होता है कि रावण मेघनाद आदि जितने यज्ञ करते थे उनमें भैंसों को मारकर उनके माँस और रक्त आदि का हवन किया जाता था। इसलिए यदि आसुरी-पक्ष यज्ञों में पशु-बलिदान का समर्थन करता रहा और उसी के अनुसार यज्ञ रचता भी रहा तो इसमें असम्भव क्या है ? तत्पश्चात् मध्यकाल में भी जिन प्रदेशों

अथवा जातियों में मांसाहार का प्रचार बढ़ा उन्होंने प्राचीन आसुरी भाष्यों का आश्रय लेकर पशु-वलिदान को उचित ठहरा दिया और जनता को बहका कर उसका अधिकाधिक प्रचार बढ़ा दिया। बुद्ध के आविर्भाव के बाद भी इस देश में जब वाम-मार्ग की प्रबलता हुई तो उन्होंने अपने स्वार्थ की दृष्टि से फिर वेदों और यज्ञों में पशु-हिंसा के होने की बात उठाई और प्राचीन ग्रन्थों में जगह-जगह उसका समर्थन करने वाले नये वाक्य गढ़ कर भी मिला दिये। इस प्रकार सर्वसाधारण में एक प्रकार का भ्रम फैल गया और मतभेद उतपन्न हो गया। उनमें से कुछ पशु-बलिदान को शास्त्र सम्मत बतलाने लगे और कुछ उसे शास्त्र विरुद्ध कहते रहे।

यज्ञ और हवनों में मांस आदि के उपयोग का भ्रम उत्पन्न होने का दूसरा कारण यह भी है कि कितने नाम ऐसे हैं जिनका अर्थ पशु-पक्षियों का भी निकलता है और उसी नाम की औषधिययों का भी। हवन सामग्री में उन औषधियों का विधान देख कर मांस के पक्षपातियों ने उसका अर्थ पशुओं से लगा लिया। इसी प्रकार 'अज' का अर्थं पुराने चावलों का है। कुछ लोगों ने उसका आशय बकरा बतला कर उसको यज्ञ में काटना शुरू कर दिया। इमी प्रकार 'छाग' शब्द का अर्थ भी बदल दिया गया है।

यह बात सामान्य बुद्धि से भी प्रतीत होती है कि जब यज्ञ का एक मुख्य उद्‌देश्य वातावरण को शुद्ध तथा पवित्र करना होता है और उसके द्वारा वर्षा होने तथा प्रजा का पोषण होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, तब उसमें मांस आदि जैसे दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाले पदार्थों की आहुतियां कैसे दी जा सकती हैं ? कहाँ तो शास्त्र में अगर, तगर, चन्दन, कपूर, इलायची, जावित्रीं, शक्कर, घी दूध, मधु आदि की आहुतियों का विधान किया है और कहाँ ये अन्य टीकाकार बकरा, भैंसा घोड़ा आदि काट कर उनके अङ्गों का हवन करने का अर्थ बतलाने लगे।

हमें यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि इस प्रकार मारे हुए और जीवित पशुओं को अग्निकुण्ड में डालने का कार्य राक्षस प्रकृति के व्यक्ति ही कर सकते हैं, जो दिन-रात माँसाहार करते हैं और जिनकी दृष्टि में वह एक बढ़िया और पौष्टिक पदार्थ है। अन्य लोग तो ऐसे वीभत्स्यकांड के वर्णन से ही घृणा से भर जायेंगे और नाक, भौं सिकोड़ने लगेंगे। ऐसी अवस्था में हिंसा वाले यज्ञों को स्वाभाविक अथवा कल्याणकारी कहने का साहस कोई बुद्धिमान नहीं कर सकता।

मीमांसा-दर्शन में कई जगह यज्ञ में माँस के उपयोग का निषेध स्पष्ट रूप से किया गया है। जैसे १२-२-२ में कहा है "माँस पाक प्रतिषेधश्च तद्वत्" और १२-२-२६ में "माँस पाको विहित प्रतिषेध: स्याद्-वाहुति सयोगात्" इनका आशय यही है कि वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा अथवा किसी भी पशु के माँस आदि का प्रयोग वर्जित है। अब यह बात दूसरी है कि जिस प्रकार वेद आदि सभी ग्रन्थों में खींचातानी करके टीकाकार लोग अपने-अपने सम्प्रदाय अथवा मत के अनुकूल अर्थ निकाल लेते हैं, उसी प्रकार माँस के पक्षपाती टीकाकारों और भाष्यकारों ने मीमांसा के सूत्रों का अर्थ भी अपने मतानुकूल सिद्ध कर दिया। पर इस प्रकार के विषयों में एक वाक्य अथवा शब्द के कई अर्थों में से अपनी पसन्द का अर्थ चुन लेने से उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। इस प्र ार की चाल शास्त्रार्थ अथवा विवादों में काम भले ही दे जाय, पर किसी के हृदय पर उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। उसके लिए तो सम्पूर्ण ग्रन्थ के समुच्चय रूप से आशय पर ध्यान देना ही आवश्यक है। इस दृष्टि से जब हम 'मीमांसा-दर्शन' पर विचार करते हैं तो उसका मूल उद्देश्य वेदों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन और फिर वेदों के सिद्धान्तानुसार यज्ञ सम्बन्धी विविध क्रियाओं के यथार्थ रूप का निर्णय करना है। इसके लिए उन्होंने जो १२ अध्याय लिखे हैं उनमें से कोई भी माँस के प्रयोग से सम्बन्ध नहीं रखता। हाँ, उसमें पशुओं का जिक्र अवश्य मिलता है,

पर विद्वानों के मतानुसार उसका आशय पशुओं को दान देने से है, काटने, मारने से नहीं। जो वेद मनुष्यों को उच्चकोटिका आत्मज्ञान और श्रेष्ठ कर्तव्यों की शिक्षा देने के लिये प्रकट किये गए हैं, उनसे हर प्रकार के आसुरी सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना भी अनुपयुक्त जाना पड़ता है।

मीमांसा और मोक्ष साधन--

प्रत्येक दर्शन-शास्त्र का एक अङ्ग मोक्ष साधन के विषय में विचार करना भी होता है। जो दार्शनिक इस संसार को सर्वथा दुःख रूप नहीं मानते वे भी सुख के साथ दुःख की अधिकता तो बतलाते ही हैं। ऐसी अवस्था में उस दुःख से छुटकारा पाना प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति का उद्देश्य होना ही चाहिये। पर इस सम्बन्ध में मीमांसा तथा अन्य दर्शनों में एक बड़ा भेद यह है कि जहाँ अधिकांश दर्शन कर्म को बन्धन-कारक मानते हैं और उसके लिये या तो वेदान्त की तरह कर्म-त्याग (सन्यास) की सम्मति देते हैं या गीता की तरह अनासक्त होकर कर्म करने (कर्म योग) का विधान बतलाते हैं, वहाँ मीमांसा कर्मकाण्ड द्वारा ही मोक्ष प्राप्त करने की बात कहता है।

मोक्ष के सम्बन्ध में मीमांसा में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं जिनमें से एक प्रभाकर का है और दूसरा कुमारिल का। प्रभाकर कहते हैं कि "आत्मा में ज्ञान, सुख, दुःख अनेक विशेष गुण विद्यमान रहते हैं। जब इन विशेष गुणों का नाश सम्पन्न हो जाता है तब आत्मा अपने स्व-रूप में अवस्थित होता है और यही मोक्ष है। मोक्ष की दशा में आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं होता।" इसका तात्पर्य यह है कि सुख-दुःख तथा अन्य प्रकार के अनुभव करना आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है वरन् वह शरीर के द्वारा ही इनकी अनुभूति करने में समर्थ होता है। जब शरीर और आत्मा का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तो यह किसी प्रकार से दुःख-सुख का अनुभव नहीं कर सकता और यही उसका वास्तविक रूप है।

पर कुमारिल भट्ट इस मत का विरोध यह कह कर करते हैं कि प्राणीमात्र का उद्देश्य सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्न माना जाता है और उसी के लिये वह पुरुषार्थ भी करता है। यदि मोक्ष में किसी प्रकार का आनन्द नहीं हो तो उसके लिये उद्योग करने की आवश्यकता ही क्या है? इसलिये कुमारिल ने मोक्ष की व्याख्या इस प्रकार की है—

दुःखात्यन्त समुच्छेदे सति प्रागात्म वर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः॥

अर्थात् "दुःख अत्यन्त नाश हो जाने पर आत्मा में पहले से विद्यमान होने वाले सुख का जब मन के द्वारा उपभोग अथवा अनुभव होने लगता है, वही मुक्तावस्था हैं।" इस प्रकार कुमारिल मुक्ति में आनन्द की अनुभूति मानते हैं, जब कि प्रभाकर न्याय और वैशेषिक दर्शनों की तरह उसे आनन्दानुभव से शून्य बतलाते हैं।

इन दो के अतिरिक्त कुछ मीमांसकों ने मुक्ति प्राप्त करने का एक अन्य सरल मार्ग ढूंढ लिया है। उसका वर्णन करते हुए 'गीता-रहस्य' में कहा गया है कि "मीमांसकों की दृष्टि से समस्त कर्मों के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध ऐसे चार भेद होते हैं। इनमें से सन्ध्या आदि नित्य-कर्मों के न करने से पाप लगता है और नैमित्तिक कर्म तभी करने पड़ते हैं जब उनके लिये कोई विशेष निमित्त उपस्थित हो। इसलिये मीमांसकों का कहना है कि इन दोनों कर्मों को करना ही चाहिए। बाकी रहे काम्य और निषिद्ध कर्म। इनमें से निषिद्ध कर्म करने से पाप लगता है, इसलिये उनको नहीं करना चाहिए और काम्य कर्मों के करने से उनके फलों को भोगने के लिये फिर जन्म लेना पड़ता है, इसलिये उन्हें भी नहीं करना चाहिये। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्मों के तारतम्य का विचार करके यदि मनुष्य कुछ कर्मों को छोड़ दे और कुछ कर्मों को शास्त्रोक्त रीति से करता रहे, तो वह आप ही आप मुक्त हो जाता है। क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का इस जन्म में उपभोग कर लेने पर उनका अन्त हो जाता है और, इस जन्म में सब नित्य नैमित्तिक कर्मों को करते रहने

से तथा निषिद्ध कर्मों से बचते रहने से नर्क नहीं जाना पड़ता,इसी प्रकार काम्य कर्मों को छोड़ देने से स्वर्ग जाने की भी ग्रावश्यकता नहीं रहती। जब इस मार्ग से मृत्यु लोक, नरक ग्रौर स्वर्ग ये तीनों गति छूट गई तो ग्रात्मा के लिए मोक्ष के सिवा कोई दूसरी गति ही नहीं रह जाती।"

मीमांसकों की उक्त व्याख्या तर्क की दृष्टि से तो ठीक जान पड़ती है, पर वेदान्त सिद्धान्त वाले इसे भ्रान्त बतला कर खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि—"पहले तो सब निषिद्ध कर्मों का त्याग करना ही ग्रसम्भव है ग्रौर यदि कोई निषिद्ध कर्म हो जाता है तो केवल नैमित्तिक प्रायश्चित्त से उसके सब दोषों का नाश नहीं होता। यदि किसी प्रकार इस बात को सम्भव भी मान लें तो दूसरी ग्रापत्ति यह है कि सब प्रारब्ध कर्मों का संग्रह एक जन्म में समाप्त भी नहीं हो सकता, क्योंकि संचित कर्मों के फल प्राय: परस्पर विरोधी होते हैं। उदाहरणार्थ एक कर्म का फल स्वर्ग-सुख ग्रौर दूसरे का नरक-यातना हो तो दोनों को एक ही समय में ग्रौर एक ही स्थान में कैसे भोगा जा सकता है ? इसलिए यदि मीमांसा के बतलाये ग्रनुसार चारों प्रकार के कर्मों को ऊपर बतलाये ढंग से करते भी रहें तो पहले के बचे हुए भले ग्रौर बुरे प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिये जन्म लेना ही पड़ता है।"

इस दृष्टि से कोरे कर्मवाद द्वारा मोक्ष की समस्या हल नहीं हो सकती, वरन् उसके लिए कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय भी ग्रनिवार्य है। ग्रत: जब तक कर्म के साथ ग्रात्मज्ञान प्राप्त न किया जायगा तथा शम, दम, तितिक्षा ग्रादि गुणों पर ग्राचरण न किया जायगा तब तक मोक्ष दूर ही बनी रहेगी।

× × ×

"मीमांसा-दर्शन" की टीका तैयार हो जाने पर समस्त ग्रास्तिक भारतीय दर्शनों के हिन्दी भाषान्तर का कार्य पूर्ण हो गया। निस्सन्देह इन सब में 'मीमांसा' का कार्य सर्वाधिक ग्रड़चनपूर्ण था, क्योंकि कई प्रकार की ग्रसुविधाग्रों के कारण वर्तमान समय में इसके ग्रन्थ ग्रौर भाष्य

बहुत कम मिलते हैं और जो हैं भी वे अपूर्ण हैं। इसका एक कारण, जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं यह भी है कि वर्तमान समय में पुरा-कालीन यज्ञों की परिपाटी का प्रायः लोप हो गया है और इसलिए पाठकों की इस शास्त्र की ओर रुचि नहीं रही है। दूसरी बात यह है कि यह दर्शन बहुत बड़ा है, जितने सूत्र अन्य ५ दर्शनों में कुल मिलाकर पाये जाते हैं उतने अकेले इस दर्शन में है। इसलिए जहाँ अन्य दर्शनों में सूत्रों का भावार्थ विस्तारपूर्वक लिखा है, इसके सूत्रों का अर्थ बिल्कुल संक्षिप्त रूप में देना पड़ा है। यदि ऐसा न किया जाता तो यह ग्रन्य दर्शनों से चोगुना अधिक हो जाता।

दर्शनों के इस भाषान्तर-कार्य में हमको अपने सहयोगी श्री दाऊदयाल गुप्त, (मथुरा) से अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है। उनके सह-योग के बिना इस भारी कार्य का अकेले निर्वाह कर सकना कठिन था। इसके लिए गुप्तजी हमारे हार्दिक धन्यवाद के अधिकारी हैं। पुस्तक के संशोधन और छपा कर सुन्दर रूप में तैयार करने का उत्तरदायित्व श्री सत्यभक्त जी पर रहा है जिसका प्रतिफल इस प्रकाशन की उत्सुकता के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित है।

गायत्री तपोभूमि
मथुरा।

—श्रीराम शर्मा, आचार्य।



मीमांसा-दर्शनम्

प्रथमोऽध्याय

प्रथम पाद

[महर्षि जैमिनि के 'मीमांसा-दर्शन' के इस प्रथम अध्याय का नाम "धर्म-जिज्ञासा" है। इस सम्बन्ध में रचियता का सिद्धान्त है कि धर्म का प्रमुख साधन यज्ञ-यागादि (कर्मकाण्ड) हैं और वह एकमात्र वेद के आदेश तथा विधि के अनुकूल होना चाहिये। यह उद्देश्य अन्य किसी प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर सिद्ध नहीं हो सकता। वेद के प्रमाण को सत्य सिद्ध करने के लिए और किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह अनादि और स्वतः प्रमाण है। वेदों के शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक और नित्य है, उसमें कभी किसी प्रकार का अन्तर पड़ना सम्भव नहीं। इसलिये जो मनुष्य जगत में आकर अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) तथा निश्रेयस (मोक्ष) की अभिलाषा रखता उसे वैदिक आदेश का ही पालन करना चाहिये। इसके लिए वेद का अर्थ सहित पठन-पाठन मनुष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य है। वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थ, कल्प सूत्र और स्मृतियाँ आदि भी धर्म का उपदेश देती हैं और इस कार्य में सहायक हैं, पर उनका मत वहीं तक मान्य है जहाँ तक वह वेदार्थ के अनुकूल हो। वेद के प्रतिकूल होने पर ब्राह्मण, कल्प आदि ग्रन्थों को नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से इस अध्याय में वेदानुकूल अग्निहोत्रादि कर्मों की आवश्यकता

और प्रामाणिकता का विवेचन किया जाता है। इस सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिये कि यह दर्शन "न्याय-दर्शन" के कुछ भागों की तरह शङ्का-समाधान के रूप में लिखा गया है। पहले वैदिक-सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्रति-पक्षियों के आक्षेपों का उल्लेख किया गया है और फिर एक या अधिक सूत्रों में उनका निराकरण और अपने मत का प्रतिपादन किया गया है। इस शैली के कारण अनेक स्थलों पर पाठकों को मीमांसा के वास्तविक सिद्धान्त का पता लगाने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। अतः इस दर्शन का अध्ययन विशेष सावधानी के साथ और भली प्रकार समझकर किया जाना आवश्यक है।]

अथातो धर्मजिज्ञासा ।१। चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ।२। तस्य निमित्तपरीष्टिः ।३। सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।४। औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं, बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ।५। कर्मैके तत्र दर्शनात् ।६। अस्थानात् ।७। करोतिशब्दात् ।८। सत्वान्तरे च यौगपद्यात् ।९। प्रकृतिविकृत्योश्च ।१०।

अब धर्म की जिज्ञासा होती है ॥१॥ विधान में आये अर्थ को धर्म कहते हैं ॥२॥ उस वेदोक्त धर्म की प्रमाण परीक्षा है ॥३॥ इन्द्रियों के कार्य वस्तु से संयुक्त होने पर पुरुष को जो ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष है। वह विद्यमान पदार्थों के इन्द्रियों से संयोग प्राप्त करने के कारण धर्म में प्रमाण नहीं है ॥४॥ वेद के प्रत्येक पद का अर्थ से स्वाभाविक सम्बन्ध है धर्म के यथार्थ ज्ञान-साधन के ईश्वर द्वारा उपदिष्ट होने से तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अप्राप्त अव्यभिचारी और अविरोधी होने पर भी व्यास जी के मत में वह वाक्य अनपेक्षित होने से धर्म में स्वतः प्रमाण हैं। ५। कोई-कोई विद्वान् शब्द को कार्य

मानते हैं, क्योंकि शब्द में प्रयत्न माना जाता है। ६। न ठहरने वाला होने से भी। ७। शब्द करने के विषय व्यवहार से भी उसकी अनित्यता है। ८। इस तथा और देशस्थ पुरुष में एक साथ पाये जाने से भी शब्द का अनित्य होना सिद्ध है। ९। तथा प्रकृति और विकृति के कारण शब्द अनित्य है। १०।

बुद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ।११। समं तु तत्र दर्शनम् ।१२। सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ।१३। प्रयोगस्य परम् ।१४। आदित्यवद्यौगपद्यम् ।१५। वर्णान्तरमविकारः ।१६। नादवृद्धि परा ।१७। नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ।१८। सर्वत्र यौगपद्यात् ।१९। संख्याभावात् ।२०।

तथा अधिक शब्द बोलने वालों से शब्द की वृद्धि होने से भी शब्द अनित्य है। ११। किन्तु नित्य या अनित्य मानने वालों में शब्द के देखा जाना, समान है। १२। शब्द के होते हुए भी, जो दूसरे क्षण में दिखाई न देता है वह केवल शब्द के अव्यक्त होने से ही है। १३। किन्तु प्रयोग आदि के उच्चारण भाव से हैं। १४। एक शब्द का सब कालों में समान रूप से होना सूर्य के समान समझना चाहिए। १५। 'इ' के स्थान में 'य' विकार वश नहीं होता, क्योंकि यकार से वहाँ अन्य शब्द की प्रतीति होती है। १६। अधिक बोलने के कारण नाद की वृद्धि है, शब्द की नहीं। १७। शब्द का उच्चारण श्रोता के ज्ञान के लिये होने से, शब्द नित्य है अनित्य नहीं। १८। सब शब्दों में ही प्रतिभिज्ञा होने से। १९। संख्या के भाव से भी शब्द नित्य है। २०।

अनपेक्षत्वात् ।२१। प्रख्याभावाच्च योगस्य ।२२। लिंगदर्शनाच्च ।२३। उत्पत्तौ वाऽवचनाःस्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ।२४। तद्भूतानां क्रियार्थेन, समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ।२५। लोके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ।२६। वेदाश्चैके सन्निकर्षं

स्यात्, वेदाचैश्के सन्निकर्ष पुरुषाख्याः ।२७। अनित्य दर्शनाच्च ।२८। उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ।२९। आख्याः प्रवचनात् ।३० परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ।३१। कृते वा विनियोगस्स्यात्कर्मणस्सम्बन्धात् ।३२।

शब्द का नाश होने परन्तु उसका कारण न जानने से भी उसका नित्य होना ही सिद्ध होता है । २१ । शब्द में वायु के अंश का कान से प्रत्यय न होने से और त्वचा के द्वारा शब्द का स्पर्श प्रत्यक्ष न होने से भी यही मान्यता ठीक है । २२ । तथा वेदादि में शब्द के नित्यत्व रूप चिह्न मिलने से भी यही सिद्ध होता है । २३ । अथवा पूर्व पक्ष का स्थापक हैं । शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध नित्य होने से, वाक्यार्थ कहने वाले नहीं, क्योंकि अर्थ का ज्ञान पदों से नहीं वाक्य से होता है । २४ । अपने अर्थों में वर्तमान पदों का क्रियावाची पदों सहित पाठ होने से उनका समुदाय ही वाक्यार्थ ज्ञान होता है । अर्थ की उत्पत्ति में पदार्थ ज्ञान ही एक कारण है । २५ । जैसे लोक में नियम से सम्बन्ध होने से वैसे वेद में भी पद-पदार्थ सम्बन्ध के ज्ञान से वाक्यार्थ उत्पन्न होते हैं । २६ । तथा कोई-कोई विद्वान् वेदों को अनित्य मानते हुए,बनाने वाले पुरुषों के नाम का सम्बन्ध होने से । २७ । और जन्म-मरण धर्म वाले पुरुषों के नाम वेदों में होने से वह पौरुषेय है । २८ । परन्तु वेद रूप शब्द में नित्यत्व पहले ही कहा जा चुका है ।२९। वेद में नाम आदि अध्ययन और अध्यापन के कारण हैं ।३०। वेदों में तुग्र और भुज्य शब्द केवल शब्द सामान्य मात्र हैं, इसके सिवाय कुछ भी नहीं हैं । ३१ । अथवा यज्ञ-कर्म के लिये प्रेरणा रूप हैं, क्योंकि यज्ञ रूप कम से सम्बन्धित हैं । ३२ ।

।। प्रथमः पाद समाप्त ।।

द्वितीय पाद

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां, तस्मादनित्य-मूच्यते ।१। शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ।२। तथा फलाभावात् :३। अन्यानर्थक्यात् । ४ । अभागिप्रतिषेधाच्च । ५ अनित्यसंयागात् । ६ । विधीनां त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधाना स्यु । ७ । तुल्यं च साम्प्रदायिकम् । ८ । अप्राप्ता चानुपपत्तिः, प्रयोगे हि विरोधस्स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत । ६ । गुण-वादस्तु । १० ।

वेदकर्म का बोधक होने से, उसके विपरीत जो कर्मार्थ बोधक नहीं हैं, वह अर्थ-हीन हैं, अतः वह अनित्य कहे जाते हैं । १ । शास्त्र में विरोध देखे जाने से भी । २ । और फल का अभाव होने से भी प्रामाणिक नहीं है । ३ । अर्थ-रहित होने से भी अप्रामाणिक हैं । ४ । अप्राप्ति का निषेध करने से भी । ५ । अनित्य पदार्थों का वर्णन होने से भी । ६ । विधि वाक्यों की स्तुति के कारण, विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से स्तुति विधान बोधक, विधि-वाक्य प्रमाण हैं । ७ । तथा सृष्टि काल से प्रारम्भ होना समान ही है । ८ । स्थूल दृष्टि से समझे जाने वाले अर्थ में वाक्यार्थ की उपलब्धि से विरोध हो तो यह अर्थ वाक्यार्थ विषयहीन होने से अन्यार्थ का बोधक है । अतः वेद वाक्यों में पारस्परिक विरोध रूप अनुपपत्ति दोष न मिलने से भी उक्त वाक्य का अर्थ विरोधहीन है । । ६ । परन्तु, स्तुतिवाद कहा है, वह गुणवाद है । १० ।

रूपात्प्रायात् । ११ । दूरभूयस्त्वात् । १२ । अपराधात्कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम् । १३ । आकालिकेप्सा । १४ । विद्याप्रशंसा । १५ । सर्वत्वमाधिकारिकम् । १६ । फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां

लोकवत् परिमाणतः फलविशेषस्स्यात् । १७ । अन्त्ययोर्यथोक्तम् । १८ । विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् । १९ । लोकवदिति चेत् । २० ।

प्रायः वेदों में रूपक से वर्णन हुआ है । ११ । स्थूल अर्थ करने से नेत्र और सूर्य की दूरी होने से कार्य कारणभाव नहीं बनता । १२ । अपराध से अजायत क्रिया के कर्त्ता सूर्या का पुत्र रूप से और नेत्र का कारण रूप से दर्शन होता है । १३ । एक काल में ही प्राणिमात्र में मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा पायी जाने से । १४ । विद्या का यश होने से । १५ । ब्रह्म कर्म का सब को समान अधिकार है । १६ । फल विशेष की कर्म से सिद्धि होने पर मृत्यु से नहीं बचता । इनके कर्मों का विशेष फल हैं । वह सांसारिक कर्म से उत्पन्न फल के समान परिच्छिन्न और बदलने वाला है । १७ । जिन पाँचवें और छठवें सूत्र में अन्त के दोनों पूर्व पक्षों का समाधान है, उसी प्रकार यहाँ भी जानें । १८ । अथवा स्पष्ट अर्थ वाले वाक्यों में सिद्ध अर्थ का ज्ञान कराने वाली विधि है, क्योंकि उनका अपूर्व अर्थ विधिवाक्य जैसा ही है । यदि उन्हें सिद्ध अर्थ का बोध कराने वाला ही मानें तो वे प्रमाणित नहीं होंगे । १९ । यदि, यह सांसारिक कथन के समान है, ऐसा मानें । २० ।

न पूर्वत्वात् । २१ । उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् । २२ । विधिश्चानर्थकः क्वचित्तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् । २३ । प्रकरणे सम्भवन्नपवर्षो न कल्प्येतः विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति । २४ । विधौ च वाक्यभेदः स्यात । २५ । हेतुर्वा स्यादर्थवत्वोपपत्तिभ्याम् । २६ । स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य । २७ । अर्थ स्तुतिरन्यायेति चेत् । २८ । अथस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके । २९ । यदि च हेतुरवतिष्ठे निर्देशात्सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधीनां स्यात् । ३० ।

सांसारिक स्तुत्य वाक्यों में प्रसिद्ध अर्थ ही कहा जाता है, कोई अपूर्व अर्थ नहीं कहा जाता ।२१। परन्तु, ऐसे सिद्ध अर्थ वाले वाक्य विधि वाक्यों के अङ्ग कहे गये हैं । २२ । यदि उसे विधि-वाक्य मानें तो उनमें कहीं भी अर्थ नहीं मिलेगा, इसलिये सिद्ध अर्थ वाले वाक्यों से कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से स्तुति मिलती है । उसी के समान अन्य वाक्यों में भी स्तुति कल्पना ही उचित है । २३ । प्रकरण के अनुसार स्तुति मिलने से विधि-वाक्य की कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि स्तुति के सामने विधि-कल्पना व्यर्थ है । २४ । और उन वाक्यों में विधि-कल्पना से अर्थ-भेद होने पर वाक्य-भेद हो जायगा । २५ । अथवा हेतु है, क्योंकि वह वाक्य अर्थ और उपपत्ति वाला हो सकता है । २६ । परन्तु, स्तुति या महत्वार्थ साधन विधि के अनुकूल ही होगा और ऐसे वाक्यों में यज्ञ प्रेरणा नहीं होगी । २७ । यदि कहो कि अर्थ से स्तुति न्याययुक्त नहीं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है । २८ । परन्तु ऐसे वाक्य विधि वाक्य के अर्थ ही हैं, जैसे सांसारिक वाक्यों में होता है । २९ । और उक्त हेतु वाक्य में सामान्य निर्देश से पूर्वोक्त अर्थ स्थिति मानें तो विधि की अव्यवस्था होगी । ३० ।

तदर्थशास्त्रात् । ३१ । वाक्यनियमात् । ३२ । बुद्धशास्त्रात् । ३३ । अविद्यमानवचनात् । ३४ । अचेतनेऽर्थबन्धनात् । ३५ । अर्थ विप्रतिषेधात् । ३६ । स्वाध्यायवद्वचनात् । ३७ । अविज्ञेयात् । ३८ । अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् । ३९ । अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः । ४० ।

उस अर्थ शास्त्र से मनुष्य विवेचन करता है । ३१ । प्रत्येक मन्त्र में ऋषि-वाक्य का नियम पाये जाने से वेदार्थ सहित स्वाध्याय करे । ३२ । बुद्धि को देने वाला शास्त्र वेद ही है । ३३ । अविद्यमान पदार्थ का वर्णन होने से वेदाध्यय ही सार्थक नहीं है । ३४ । अचेतन में

अपने अर्थ बन्धन के कारण वेद पढ़ने के योग्य नहीं है । ३५ । परस्पर विरुद्ध अर्थ कहने के कारण भी वेद का स्वाध्याय निरर्थक है । ३६ । जिन वाक्यों में वेद के पठन-पाठन का उपदेश है, उनमें अर्थ सहित पाठ का विधान नहीं मिलता । ३७ । वेदों के अर्थ जानने योग्य न होने से भी व्यर्थ हैं । ३८ । अनित्य पदार्थों से सम्बन्धित होने के कारण वेद मन्त्रों का अर्थ सहित पाठ व्यर्थ है । ३९ । परन्तु, लोक और वेद में वाक्यार्थ का ज्ञान समान माना गया है । ४० ।

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ।४१। परिसंख्या ।४२। अर्थवादो वा ।४३। अविरुद्धं परम् । ४४ । संप्रैषे कर्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् अभिधानेऽर्थवादः । ४६ । गुणादप्रतिषेधः स्यात् । ४७ । विद्यावचनमसंयोगात् । ४८ । सतः परमविज्ञानम् । ४९ । उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः । ५० । लिङ्गोपदेशश्च तदर्थत्वात् । ५१ । ऊहः । ५२ । विधिशब्दाश्च । ५३ ।

वेद अनेक गुण वाले अर्थों से पूर्ण है । ४१ । वेद का अर्थ सहित पाठ त्याज्य-कर्मों का त्याग और ग्राह्य-कर्मों का ग्रहण कराता है । ४२ । अथवा, यह अर्थवाद शुभ कर्म से सुख और बुरे कर्म से दुःख होना कहता है । ४३ । शुभ-अशुभ कर्मों से सुख-दुःख का होना लोक में भी देखा जाता है, इसलिये वेद में विरुद्धता नहीं है । ४४ । वेद में सहस्र सिर और सहस्र नेत्र मनुष्य की बुद्धि को परिष्कृत करने के अर्थ में होने से दोष नहीं है । ४५ । अचेतन पदार्थों के सम्बन्ध में कहा है उसमें तो अर्थ वाद है ही । ४६ । गुणवृत्ति से अर्थों में परस्पर विरोध होना सिद्ध नहीं होता । ४७ । विधि में पठन-पाठन का अर्थ सहित उल्लेख न होना, उसके वचन की अप्राप्ति के कारण ही है । ४८ । जहाँ मन्त्रार्थ में अविज्ञान कहा है, उसमें भ्रम वश विद्यमान अर्थ का न समझना ही है । ४९ । और अनित्य संयोग वेद में हैं इसका समाधा

पीछे कहा जा चुका है । ५० । वेद मन्त्र में ईश्वर के लक्षण कहे हैं और वे मन्त्र अर्थ वाले होने से पठनीय हैं । ५१ । तर्क से भी यही सिद्ध होता है । ५२ । और विधि-वाक्य भी इसी पक्ष में हैं । ५३ ।

।। द्वितीय: पाद समाप्त ।।

तृतीय पाद

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात् । १ । अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् । २ । विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् । ३ । हेतुदर्शनाच्च । ४ । शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् । ५ । न शास्त्रपरिमाणत्वात् । ६ । अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् । ७ । तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् । ८ । शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् । ९ । चोदितं तु प्रतीयेताऽविरोधात् प्रमाणेन । १० ।

धर्म में वेद ही प्रमाण है, वेद से भिन्न ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं हो सकते । १ । महीदास आदि के ग्रन्थों को प्रामाणिक सिद्ध करने में वेदानुकूल अनुमान प्रमाण है । २ । वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के पारस्परिक विरोध होने पर ब्राह्मण ग्रन्थ नहीं, वेद ही प्रामाणिक है । ३ । और वेद उनके हेतु हैं, इसलिए भी । ४ । शिष्टों ने ऐतरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों को बिना विरोध स्वीकार कर उन्हें वेदों के अनुकूल माना है ।५। ईश्वर रचित होने से वेद ही स्वत प्रमाण हैं, यह कहना ठीक नहीं है । ६ । अथवा वेद रूप कारण के बिना वे स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त प्रतीत नहीं होते । ७ । ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद का विरोध न होने से, वे ग्रन्थ वेद के समान ही पदार्थ विज्ञान हैं । ८ । अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों का निमित्त वेद हैं । ९ । विधि से, वेद के विरुद्ध न होने से ब्राह्मण ग्रन्थ भी प्रमाण रूप हैं ।१०।

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् । ११ । नाऽसन्नियमात् । १२ । अवाक्यशेषाच्च । १३ । सर्वत्र च प्रयोगात्सन्निधानशास्त्राच्च । १४ । अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् । १५ । अपि वा सर्वधर्मः स्याद्यन्न्यायत्वाद्विधानस्य । १६ । दर्शनाद्विनियोगः स्यात् । १७ । लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य । १८ । आख्या हि देश-संयोगात् । १९ । न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् । २० ।

यदि कहो कि प्रयोगशास्त्र (कल्प सूत्र) भी तो वेद के समान ही स्वतः प्रमाण हैं । ११ । कल्प सूत्र वेद के समान प्रामाणिक नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें अवैदिक भाव भी है । १२ । और उनमें कोई विधि वाक्य या स्तुति वाक्य भी नहीं मिलता । १३ । सभी कल्प सूत्रों में अर्थ योग्यता से अति निकटस्थ वेदार्थ और उसके विरुद्ध अर्थ मिलने से, उन्हें वेद के समान प्रमाण नहीं मान सकते । १४ । अनुमान और व्यवस्थान से स्मृति और शिष्टाचार उसी देश काल आदि से सम्बन्धित होते हुए प्रमाण हो सकते हैं, परन्तु सबके लिये नहीं हो सकते । १५ । अथवा स्मृति और शिष्टाचार से प्रचलित धर्म सभी को समान रूप से आचरणीय है, क्योंकि शिष्टों का आचरण सर्वथा ठीक है । १६ । विज्ञान से शिष्टाचार का पालन करना चाहिये । १७ । सनातन के विनाश का कोई लक्षण न होने से वैदिक धर्म नित्य हैं । १८ । अवश्य ही नाम देश-सम्बन्धी हैं । १९ । यदि कहें कि देशान्तर में नहीं होना चाहिये तो यह कहना ठीक नहीं है । २० ।

स्योद्योगाख्या हि माथुरवत् । २१ । कर्मधर्मो वा प्रवण-वत् । २२ । तुल्यं तु कर्तृ धर्मेण । २३ । प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वा-च्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् । २४ । शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् । २५ । अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् । २६ । तत्र तत्त्वम-भियोगविशेषात्स्यात् । २७ । तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् । २८ । एक-

देशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् । २९ । प्रयोगचोदनाभावादर्थ-कत्वमविभागात । ३० ।

जैसे मथुरा निवासी माथुर कहे जाते हैं उसी प्रकार वैदिक धर्म भारत में उदय होने से भारत धर्म है । २१ । प्रवण के समान ऋषियों के नाम के साथ देशबोधक शब्द का योग वेदोक्त कर्म का अङ्ग है । २२ । परन्तु, देश, विदेश को कर्म का अङ्ग मानना काले, श्वेत आदि रङ्गों को यज्ञ-कर्म का अङ्ग मान लेने के समान ही है । २३ । शुद्ध पद सिद्ध करने वाला व्याकरण वेद से उत्पन्न नहीं है, इसलिये शब्दों में शुद्ध प्रयोग की व्यवथा नहीं है । २४ । शुद्ध शब्द का प्रयोग न करने से अपराध का भागी होना पड़ता है । २५ । और एक शब्द के समान अर्थ वाले अनेक शब्दों को स्वीकार करना न्याय नहीं है । २६ । शुद्ध, अशुद्ध शब्दों में. तत्वज्ञान व्याकरण आदि के अभ्यास से ही हो पाता है । २७ । गऊ शब्द के लिए गावी आदि अपभ्रंश रूप अशुद्ध शब्दों की उत्पत्ति का कारण शुद्ध शब्द जानने की शक्ति न होना है और उसके अनुरूप होने से बोध कर लिया जाता है । २८ । तथा विभक्ति के बदलने पर भी शब्द अर्थ के बोधक होते हैं, वैसे ही अपभ्रंश शब्दों से अर्थ बोध होता है । २९ । शब्द के द्वारा अर्थ की प्रेरणा होने से, शुद्ध शब्द और अपभ्रंश में समान अर्थ होता है । ३० ।

अद्रव्यशब्दत्वात् । ३१ । अन्यदर्शनाच्च । ३२ । आकृति-स्तु क्रियार्थत्वात् । ३३ । न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं नः द्रव्यमिति चेत् । ३४ । तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः । ३५ ।

यदि शब्दार्थ को जाति मान लें तो उसे द्रव्याश्रित वस्तुओं का वाचक नहीं मान सकते । ३१ । और ग्रहण-क्रिया के अन्य रूप में देखे जाने से, शब्द का अर्थ जाति नहीं है । ३२ । परन्तु, क्रियार्थत्व होने से

शब्द व्यक्ति नहीं जाति है। ३३। जाति में दोष है कि उसके आकार-हीन होते से क्रिया नहीं होगी और अन्य द्रव्य के स्थान में अन्य द्रव्य के ग्रहण का विधान और संख्यादि रूप व्यवहार नहीं होगा। यह मान्यता ठीक नहीं। ३४। ब्राह आदि पदों का प्रयोग ब्रीह आदि रूप अर्थ से सम्बन्धित है इसलिये जाति से अर्थ का विभाग नहीं हो सकता। ३५।

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं, तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात्। १। अपि वा नामधेयं स्याद्यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात्। २। यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्ध। ३। तत्प्रख्यश्चान्य-शास्त्रम्। ४। तद्व्यपदेशं च। ५। नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्वि-धानामति चेत्। ६। तुल्यत्वात् क्रिययोर्न। ७। ऐकशब्द्ये परा-घवत्। ८। तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेद-न्येन शिष्टाः। ९। र्वाहराज्ययारसंस्कारे शद्बलाभादतच्छद्वः। १०।

वेद का विधेयार्थ में प्रमाण कहा है, इसलिये सब ब्राह्मणों में कहा गया उद्भिदादि पद विधेयार्थ के लिए है। १। अथवा सुनने पर जो पद पहिले किसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त न हुआ हो वह नामधेय है, वह किसी गुण विशेष का कहने वाला नहीं। २। जिस पद में गुणोपदेश हो उसका प्रकृति के साथ अभिसम्बन्ध होना ठीक है। ३। और जहाँ गुण के कहने व ला अन्य शास्त्र विद्यमान है वहाँ नाम-विधि होती है। ४। तथा जिन वाक्यों में उपमान उपमेय भाव से निरूपण की उप-लब्धि हो, नाम विधि है। ५। नाम में गुण के सुने जाने से वाजयेय शब्द से विधान है, यदि ऐसा कहें तो ?। ६। ऐसा नहीं कह सकते,

क्योंकि गुण विधि मान लेने से वाजपेय यज्ञ और दर्शपूर्णमास यज्ञ की क्रियायें परस्पर समान हो जायँगी । ७ । एक वाक्य में गुण रूप अन्य अर्थ का विधान स्वीकार करने से वाक्य भेदरूप दोष उपस्थित होता है । ८ । परन्तु, आग्नेय आदि शब्द कर्म वाले गुणों का विधान करते हैं । क्योंकि, कर्म विधायक शब्दों में विभाग न होने से यह गुण किसी अन्य वाक्य से उपलब्ध नहीं । ९ । कहीं-कहीं संस्कारहीन वस्तु में बर्हि और आज्य शब्द का प्रयोग मिलने से ज्ञात होता है कि बर्हि तथा आज्य घृत के पर्यायवाची नहीं हैं । १० ।

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् । ११ । तथानिर्मन्थ्ये । १२ । वैश्वदेवे विकल्प इति चत् । १३ । न वा प्रकरणात्प्रत्यक्षविधानाच्च, नहि प्रकरणं द्रव्यस्य । १४ । मिथश्चानर्थ सम्बन्धः । १५ । परार्थत्वादगुणानाम् । १६ । पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये । १७ । गुणस्य तु विधानार्थे,तद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि, तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति । १८ । तच्छेषो नोपपद्यते । १९ । अविभागाद्विधार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् । २० ।

प्रोक्षण वाले जलों में ही प्रोक्षण शब्द का प्रयोग समझे क्योंकि अर्थ के संयोग से प्रोक्षिणी जल को ही कहते हैं । ११ । जैसे प्रोक्षिणी शब्द यौगिक है, वैसे ही निर्मन्थ्य शब्द भी यौगिक ही है । १२ । यदि ऐसा कहें कि वैश्वदेव देवता रूप गुण का विकल्प है तो अनुचित नहीं होगा । १३ । वहाँ अग्नि आदि देवता का प्रकरण होने से और प्रत्यक्ष विधान से वैश्वदेव देवता हैं और द्रव्य का प्रकरण न होने से भी विकल्प सिद्ध नहीं होता । १४ । और परस्पर में अर्थ सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । १५ । गुणों के पदार्थत्व से कर्म की आवृत्ति नहीं होती । १६ । अग्नि आदि गुण पूर्व होने से विधि का विधान करने में गुण विधान

का सामर्थ्य है । १७ । परन्तु, गुण के विधान करने वाले वचन के होते हुए अष्टकपाल आदि रूप गुणों का विधान नहीं होता । यज्ञ की अन्तर विधि में भी उपयोग न होने से निष्फल होंगे तथा अर्थवाद के बिना प्रकृतियाग से उनका सम्बन्ध और प्रयोजन नहीं हो सकता । १८। अष्टकपाल, द्वादशकपाल का शेष है ऐसा कहना सिद्ध नहीं हो सकता । १९ । पूर्वोक्त संख्या में आठ आदि सख्या का अन्तर्भाव होने से स्तुति के अर्थ द्वारा उपपन्न हो सकते हैं । २० ।

कारणं स्यादिति चेत् । २१ । आनर्थक्यादकारणं,कर्तुर्हि कारणानि, गुणार्थो हि विधीयते । २२ । तत्सिद्धिः । २३ । जाति । २४ । सारूप्यात् । २५ । प्रशंसा । २६ । भूमा । २७ । लिङ्गसमवायात् । २८ । सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् । २९ । अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् । ३० ।

अष्टकपाल आदि वाक्य पवित्र आदि फल के कारण, पवित्रता के बोधक हैं, यदि ऐसा कहें तो ? । २१ । अष्टकपाल आदि पवित्रता आदि में फल के कारण नहीं क्योंकि यज्ञकर्त्ता यजमान को पवित्रता आदि फल मिलते हैं । अतः अष्टकपालादि से स्तुति का विधान है, गुण का नहीं । २२ । कुशमुष्टि आदि से यजमान के समान कार्य की सिद्धि होती है । २३ । अग्नि आदि संज्ञा से ब्राह्मण आदि वर्णों को कहा है, वह जाति है । २४ । सादृश्य के कारण यूप को आदित्य और यजमान कहा गया है । २५ । गऊ और घोड़े के अतिरिक्त बकरे आदि सब अपशु हैं । इसमें गऊ और अश्व की प्रशंसा हुई । २६ । सृष्टि लक्षण वाले मन्त्रों का भूयस्त्व होने से जो सृष्टि लक्षणों से हीन हैं, उसका भी ग्रहण हो जाता है । २७ । लक्षण के कारण प्राणभृत मन्त्र से, प्राणभृत और पप्राणभृत दोनों का ग्रहण हो जाता है । २८ । विहित अर्थों में संदेह होते पर वाक्य शेष से निर्णय होता है । २९ । निर्णायक चिन्हों

के अभाव में पदार्थ की योग्यता से ही कल्पना होती है, क्योंकि एक देश होने से कल्पना द्वारा भी अर्थ का निर्णय हो सकता है । ३० ।

["मीमांसा-दर्शन" के प्रवर्तक जैमिनि के मतानुसार कर्मकाण्ड ही धर्म का प्रधान अङ्ग है और वेदों में उसी का उपदेश किया गया है । उनमें केवल कर्मकाण्ड का विधान ही नहीं है वरन् तत्सम्बन्धी उपासना के मन्त्र तथा उनकी पुष्टि करने वाले सिद्धान्त भी सन्निहित हैं । जो लोग इन उपासना तथा सिद्धान्त के मन्त्रों को कर्मकाण्ड से भिन्न समझकर अप्रामाणिक मानते हैं वे गलती पर हैं । मानव-जीवन एक समग्र-वस्तु है और ज्ञान, भाव तथा क्रिया उसी के विभिन्न पहलू या अंग हैं । इस दृष्टि से वेद का कोई भाग अप्रामाणिक अथवा कर्मकाण्ड रूपी धर्म से असम्बद्ध नहीं हैं । जो लोग वैदिक शब्दों का अर्थ और तात्पर्य न समझ कर उन्हें अर्थहीन बतलाते हैं वे इस विषय से अपरिचित हैं । कर्मकाण्ड के सब मन्त्रों का प्रयोग अर्थ समझकर करना ही उचित है । वेद ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन चतुष्टय को प्राप्त करने का एक मात्र साधन है । जो व्यक्ति अर्थ समझकर वेद के आशय को भली प्रकार हृदयंगम कर लेता है उसे जीवन की सफलता का सच्चा मार्ग प्राप्त हो जाता है ।

एक बहुत बड़ा आक्षेप वेदों पर यह किया जाता है कि उसके मन्त्रों के रचियता ऋषि थे । ये ऋषि मनुष्य ही थे और इसलिये उनके द्वारा रचे हुये वेदों को "अपौरुषेय" नहीं कहा जा सकता है । साथ ही यह भी कहा गया है कि वेदों में स्थान-स्थान पर अनेकों व्यक्तियों के नाम और ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी देखने में आता है इससे भी वे अनादि और परमात्मा के रचे हुए सिद्ध नहीं होते । यदि इन दो आक्षेपों को मान लिया जाय तो "मीमांसा-दर्शन" का मूल-आधार ही समाप्त हो जाता है । इस सम्बन्ध में महर्षि जैमिनि का कथन है कि वेद-

मन्त्रों में जिन ऋषियों के नाम दिये गये हैं वे उन मन्त्रों के 'कर्त्ता' नहीं वरन् द्रष्टा है। वे उन मन्त्रों के अर्थ पर विचार और उनका प्रचार करते थे। वेदों का 'श्रुति' नाम भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है। इससे विदित होता है कि ऋषियों ने इन मन्त्रों को सुनकर संसार के हितार्थ प्रकट किया था, वे उनके रचने वाले न थे। इसी प्रकार वेदों में व्यक्तियों के जो नाम मिलते हैं, वे वास्तव में किन्हीं विशेष व्यक्तियों के नहीं हैं, उनका यौगिक-अर्थ ही हमको ग्रहण करना चाहिये। वेदों में ऐतिहासिक घटनायें भी नही हैं, लोग कई शब्दों का अर्थ व्यक्तिवाची समझकर उनको इतिहास समझ लेते हैं। वेद वास्तव में कभी किसी के द्वारा रचे गये नहीं हैं वरन् अनादि काल से इसी रूप में चले आये हैं। उनका प्रत्येक शब्द अनादि है और एक निश्चित अर्थ को ही प्रकट करता है। इसलिये धर्म का निर्णय और आचरण एक मात्र वेद के आधार पर ही करना अनिवार्य है।

अन्य दर्शनकारों से जैमिनि का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मतभेद है। उन्होंने वेदों के प्रमाण को अन्तिम नहीं माना है वरन् ज्ञान, विवेक और तर्क से ही सृष्टि, जीव तथा ईश्वर विषयक समस्याओं को सुलझाने पर जोर दिया। वर्तमान समय में स्वामी दयानन्द जैमिनि के मत के समर्थक अवश्य हुये हैं। उन्होंने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में अपौरुषेय माना है। पर वे भी जैमिनि की तरह वेदों के प्रत्येक शब्द को अनादि मानते हों इसमें शङ्का है।]

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीयोऽध्याय

प्रथम पाद

(प्रथम अध्याय में धर्म का आचरण करने के लिए वेद विहित कर्मों का महत्व बतलाया गया है। उनमें सिद्ध किया गया है कि वेद ही धर्म का निरूपण करने का एकमात्र साधन हैं और हम उन्हीं की द्वारा अपने धार्मिक कर्तव्यों और कर्मों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ये कर्म प्रधान और गौण इस भेद से दो प्रकार के होते हैं। वैदिक कर्मों में मुख्य यज्ञ, होम और दान आदि हैं। इनके भी अनेक भेद हैं। उन सब में गौण और प्रधान का भेद समझ लेना प्रत्येक आत्म-कल्याण के इच्छुक का कर्तव्य है। इनमें सर्वसाधारण के लिए सब प्रकार से उचित और आवश्यक अग्निहोत्र है। जो नित्य हवन करते रहते हैं वे धन, जन, शान्ति, सन्तोष की दृष्टि से सदैव सुखी जीवन व्यतीत करते हैं।)

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैषः ह्यर्थो विधीयते ।१। सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत्। २। येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि, तस्मातेभ्यः पराकांक्षाभूतत्वात्स्वे प्रयोगे ।३। येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते, तान्याख्यातानि, तस्मातेभ्यः प्रतीयेताऽऽश्रितत्वात् प्रयोगस्य ।४। चोदना, पुनरारम्भः ।५। तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ।६। यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ।७। यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणस्तत्र प्रतीयेत, तस्य

द्रव्यप्रधानत्वात् ।८। धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत् ।९। तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः सधर्मः स्यात् ।१०।

यज्ञ, होम, दान आदि भावनावाची हैं, यजति, जुहोति आदि क्रियावाची, उनसे यज्ञ आदि की क्रिया का ज्ञान होता है और यही अर्थ माना गया है ।१। सोम, घृत आदि सब पदार्थों का प्रयोजन यज्ञ आदि की क्रिया रूप है, यदि ऐसा कहें तो (नहीं कह सकते) ।२। अपने अर्थ में प्रयुक्त जिन पदों का उच्चारण करने पर स्वरूप उपलब्ध हो, उनको नाम कहते हैं । इसलिए अर्थ उपलब्ध होने के कारण, वे पराकांक्षा नहीं रखते, क्योंकि उच्चारण के समय उसके अपने अर्थ विद्यमान रहते हैं ।३. परन्तु अपने अर्थ में प्रयुक्त जिन पदों के उच्चारण समय अर्थ की विद्यमानता न हो, वे अख्यात हैं । इसलिए उनसे धर्म की प्रतीति होती है, क्योंकि उनका प्रयोजन पुरुष के प्रयत्न पर आश्रित हैं ।४। जिससे उक्त कर्मों की प्रेरणा मिलती है, उन कर्मों से भविष्य में होने वाले फल का आरम्भ होता है ।५। ये क्रियापद दो प्रकार के हैं । एक तो गौण पद के निरूपक हैं और दूसरे प्रधान कर्म के ।६। जो क्रिया पद संस्कार के लिए द्रव्य को अपेक्षा नहीं करते, वे प्रधान कर्म हैं, क्योंकि वहां द्रव्य का गुणभूत हैं ।७। तथा जो कर्म संस्कार आदि के लिये द्रव्य की अपेक्षा करने वाले हैं, वहाँ गौणता है । क्योंकि, वे कर्म-द्रव्य प्रधान-वाची हैं ।८। परन्तु, प्रयाज के समान स्रुवा आदि का धर्म धोना आदि भी प्रधान कर्म हैं । उनसे किसी दृष्ट वस्तु का उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता ।९। अथवा धोने आदि से अन्य, कूटना आदि गुण कर्म के समान धर्म है, क्योंकि, दोनों का ही समान उपदेश है ।१०।

द्रव्योपदेश इति चेत् ।११। न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ।१२। स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो, याज्यावद्

वताभिधानत्वात् ।१३। अर्थेन त्वपकृष्येत: देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ।१४। वशावद्वाऽगुणार्थं स्यात् ।१५। न, श्रुतिसमवायित्वात् ।१६। व्यपदेशभेदाच्च ।१७। गुणश्चानर्थक: स्यात् ।१८। तथा याज्यापुरोरुचो: ।१९। वशायामर्थसमवायात् ।२०।

यदि कहें कि 'स्रुच: सम्मार्ष्टि' में द्रव्य का प्रधान रूप से उपदेश है (तो ऐसा नहीं कह सकते) ।११। गुण रूप से स्रुवा आदि द्रव्यों का उपदेश नहीं है, क्योंकि लोक में कहीं भी गौणकर्म में द्वितीया नहीं होती ।१२। याज्या ऋचा के समान स्तोत्र और शस्त्र दोनों ही संस्कार कर्म हैं। क्योंकि गुण कहने से देवता के गुणों को कहते हैं ।१३। परन्तु, देवतारूप अर्थ के लिए मन्त्रो के गुणभूत होने से, यदि स्तोत्र और शस्त्र को गुण-कर्म मानें जिनमें देवताओं के नाम से स्तुति है तो उन मन्त्रों का अर्थ अनुकूल होने से अपकर्ष होगा ।१४। अथवा वशा के समान, विशिष्ट गुण वाले इन्द्र के स्मरणार्थ निर्गुण शब्द वाला मन्त्र माहेन्द्रग्रहयाग की निकटता में पढ़ा गया ।१५। उन सूत्रों में इन्द्रपद से संबन्ध है, महेन्द्र से नहीं। इसलिए, वह महेन्द्र के अभिधायक नहीं हो सकते ।१६। और नाम का भिन्न प्रकार से कथन होने से भी इन्द्र और महेन्द्र में भिन्नता है ।१७। और इन्द्र तथा महेन्द्र दोनों को एक ही मान लें तो 'महान्' विशेषण ही व्यर्थ हो जायगा ।१८। यदि दोनों को एक ही मानें तो 'याज्या' और 'पुरोऽनुवाक्य', ऋचाओं में दोनों का भेद कहना व्यर्थ होगा ।१९। बकरी में छाग रूप अर्थ का योग होने से पूर्व कहा हुआ दृष्टान्त ठीक नहीं ।२०।

यत्रेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ।२१। न त्वाम्नातेषु ।२२। दृश्यते ।२३। अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ।२४। शब्दपृथक्त्वाच्च ।२५।

अनर्थकं च तद्वचनम् ।२६। अन्यश्चार्थः प्रतीयते ।२७। अभिधानं च कर्मवत् ।२८। फलनिर्वृत्तिश्च ।२९। विधिमन्त्र-यौरैकार्थ्यमैकशब्दात् ।३०।

अथवा, जहाँ देवता इन्द्र हो वहाँ ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों का आकर्षक हो सकता। क्योंकि, अर्थत्व हो सकता है ।२१। ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों के सिवाय 'याम्याः शंसति' इत्यादि मन्त्रों में अर्थतत्र कम नहीं हो सकता ।२२। याम्यादि मन्त्र भी अन्यत्र अर्थ वाले मिलते हैं ।२३। मुख्यार्थ से सम्बन्ध होने से स्तोत्र और शास्त्र प्रकरण में ही स्तुति रूप क्रिया का विधान किया है ।२४। और स्तोत्र तथा शस्त्र शब्द में भेद होने से भी उसका प्रधान कर्म होना सिद्ध है ।२५। और स्तोत्र तथा शस्त्र दोनों का एक फल स्वीकार करने से दोनों की विधि का वर्णन व्यर्थ हो जायगा ।२६। और प्रधान कर्म मानने से उत्पन्न कर्म के सिवाय शस्त्र से उत्पन्न फल प्राप्त होता है ।२७। तथा प्रधान कर्म के समान स्तोत्र, शस्त्र का ही विधान है ।२८। तथा स्तोत्र और शस्त्र दोनों के फल मिलते सुने गये हैं ।२९। विधि और मन्त्रों दोनों में एक प्रकार के ही शब्द होने से विधि और मन्त्रों का एक ही अर्थ होता है ।३०।

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ।३१। तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ।३२। शेषे ब्राह्मणशब्दः ।३३। अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु विभागः ।३४। तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।३५। गीतिषु सामाख्या ।३६। शेषे यजुः शब्दः ।३७। निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ।३८। व्यपदेशाच्च ।३९। यजूंषि वा तद्रूपत्पात् ।४०।

अथवा कर्म के समय प्रयोग किये जाने से मन्त्र अभिधायक होते हैं ।३१। अग्निहोत्र आदि के विधायक और सिद्ध अर्थ प्रतिपादक वेद

वाक्यों की मन्त्र संज्ञा होती हैं।३२। मन्त्रों की व्याख्या रूप ब्राह्मण ग्रन्थ भी ब्राह्मण संज्ञा वाले हैं।३३। ऋषि प्रोक्त होने से ऐतरेय आदि ब्राह्मण में वेदत्व नहीं है इसलिए उन्होंने छोड़ कर ईश्वरप्रदत्त मन्त्रों का विभाग कहते हैं।३४। यहाँ अर्थवश पादों की व्यवस्था है, उन मन्त्रों की ऋग्वेद संज्ञा मानी गई है।३५। जो मन्त्र गाये जा सकते हैं, उन मन्त्रों को साम संज्ञा वाले कहा गया है।३६। जो मन्त्र पादवद्ध नहीं तथा गाये भी नहीं जा सकते, वे सभी यजुर्वेद संज्ञक हैं।३७। अथवा जो मन्त्र छन्दोवद्ध और गाये जाने के योग्य हैं, उनके अतिरिक्त, स्पष्ट अर्थ वाले मन्त्र अथर्ववेद संज्ञक हैं। क्योंकि यजुर्वेद के धर्म से वे भिन्न धर्म वाले हैं।३८। और यह यजुः है, यह निगद है, इस प्रकार व्यवहार में भेद होने से भी निगद यजुः नहीं माना जा सकता हैं।३९। निगद में यजुः का लक्षण पाया जाता है, इसलिये निगद यजुः ही है।४०।

वचनाद्धर्मविशेषः ।४१। अर्थाच्च ।४२। गुणार्थो व्यपदेशः ।४३। सर्वेषामिति चेत् ।४४। न ऋग्व्यपदेशात् ।४५। अर्थैकत्वादेकं वाक्यं, साकांक्षं चेत्, विभागे स्यात् ।४६। समेषु वाक्यभेदः स्यात् ।४७। अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः, सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ।४८। व्यवायान्नानुषज्येत ।४९

यजु और निगद में जो धर्म विशेष रूप भेद है, वह पुरुषान्तर का भेद बताने के लिये हैं।४१। और निगद से यजुः होने में जो धर्म विशेष कहा है वह पुरुषान्तर का अर्थ रूप से बोधक कराने के उद्देश्य से है।४२। यह यजुः है, यह निगद है, ऐसा भेद व्यवहार गुणार्थ से हुआ है।४३। यदि उच्चस्वर से बोला जाने से निगद है तो ऋग्वेद भी निगद हो जायगा। इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं।४४। ऊँचे स्वर से

बोलने के धर्म की समानता से ऋग् मन्त्रों में निगद का अन्तर्भाव नहीं होगा, क्योंकि उनमें ऋग्वेद से भिन्न उपदेश किया गया है ।४५। क्रिया और कारक पदों में एकार्थ की प्रतीति होने से, यदि उनमें से किसी भी एक पद को अलग कर दें तो उसकी अकांक्षा वाले अन्य पद एक वाक्य रूप होंगे ।४६। निराकाँक्ष पदो में प्रति समूह वाक्य—भेद हैं ।४७। वाक्य की समाप्ति के लिए, पदान्तर का योग जिन वाक्यों में अपेक्षित हो, उसका आध्याहार करले, क्योंकि, उसका सबके समान सम्बन्ध है ।४८। मध्य में अन्तर होने से अनुषङ्ग नहीं होता ।४९।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ।१। एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ।२। प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ।३। विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ।४। गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ।५। चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्रात् चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत् ।६। व्यपदेशश्च तद्वत् ।७। लिङ्गदर्शनाच्च ।८। पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ।९। चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ।१०।

शब्दान्तर होने से कर्म का भेद है। क्योंकि, आख्यात भेद से कर्मभेद का सम्बन्ध निश्चित है ।१। एक अख्यात पद का पुनः सुनना इसी प्रकार भेदयुक्त है। क्योंकि, कर्म भेद न मानें तो एक प्रयोग का बारम्बार पाठ व्यर्थ हो जायगा ।२। परन्तु पौर्णमासी वाले प्रकरण में पढ़े गये वाक्य याग के अनुवाद हैं, विधायक नहीं। क्योंकि, उसके याग के रूप का, देवता आदि का ज्ञान नहीं होता ।३। समान भाव से

प्रकृत सब यागों के अनुवाद की, विद्वत वाक्य की प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि आग्नेय आदि में काल-सम्बंध की अधिकता है और यह प्रयाज आदि में उपलब्ध नहीं है।४। परन्तु, उस कर्म में देवता रूप गुण का विधान, उनका संयोग सुना जाने से हैं।५। कर्मविधि वाक्य गुणविधि के विधायक नहीं हैं। क्योंकि, गुणों का एककालीन शासन कहा है। वाक्यान्तर से विहित कर्म में उपदेश किया जाने से वे बतलाये हुए कर्म के लिये हैं।६। जैसे द्रव्य, देव रूप गुणों का एक साथ विधान गुण-विधि को सिद्ध नही करता, वैसे ही समुच्चय व्यपदेश भी गुण विधि का समर्थन नहीं करता।७। और 'चतुर्दश पौर्णमास्याम्' ऐसा संकेत मिलने से भी 'यदाग्नेय' इत्यादि वाक्य कर्मविधि ही हैं।८। पौर्णमासी के समान ही उपांशुयाज भी समझना चाहिये।९। यह कर्म विधायक है, अनुवादक नहीं। क्योंकि प्रकृतयाग का अभाव है।१०।

गुणोपबन्धात्।११। प्राये वचनाच्च।१२। आधाराग्निहोत्रमरूपत्वात्।१३। संज्ञोपबन्धात्।१४। अप्रकृतत्वाच्च।१५। चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेगुणार्थेन पुनः श्रुतिः।१६। द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन।१७। अचोदकाश्च संस्काराः।१८। तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यः पृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात्।१९। संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद्, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्।२०।

गुण के उपलब्ध से उस कर्म की संज्ञा उपांशु है।११। प्रधान कर्मों में पाठ पाया जाने से वे प्रधान हैं।१२। याग का स्वरूप उपलब्ध कराने वाले न होने से आधार और अग्निहोत्र वाक्य अनुवादक हैं।१३। उक्त वाक्यों से संज्ञा का सम्बन्ध मिलता है। इसलिये वे विधायक नहीं

हो सकते ।१४। तथा प्रकरण में आये वाक्यों में भी द्रव्य, देवता की प्राप्ति ही होती है ।१५। अथवा अग्निहोत्र और आधार रूप शब्द का प्रयोग होने से, उसके समीप पठित वाक्य गुण विधि हैं ।१६। द्रव्य संयोग होने से 'सोमेन यजेत और 'अग्निषोमीयंपशुमालभेत' वाक्य अपूर्वक्रम से विधायक हैं। यदि 'ऐन्द्रवायवादि' को विधायक मानें तो द्रव्य संयोग व्यर्थ होगा। इसलिये उसका सुनना गुण रूप से भी नहीं मान सकते ।१७। तथा, अपूर्व कर्म के विधायक नहीं, किन्तु पशु और सोम रूप द्रव्य का संस्कार करने वाले हैं ।१८। पात्रभेद में द्रव्यभेद होने पर सोमयाग की आवृत्ति है। यदि कर्मावृत्ति न हो तो पात्रभेद व्यर्थ होगा और सोमरूप द्रव्य में गुणी भाव होने से उसकी आवृत्ति स्वयं हो जायगी ।१९। यूप का पशु-बन्धन के लिए होने से तथा गौण होने से पशुबन्धन रूप संस्कार की यूप भेद के कारण भी आवृत्ति नहीं हो सकती ।२०।

पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्यात् ।२१। संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ।२२। गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे, वाक्ययोः समत्वात् ।२३। अगुणे तु कर्मशब्दे गुणास्तत्र प्रतीयेत् ।२४। फल-श्रुतेस्तु कर्म स्यात्, फलस्य कर्मयोगित्वात् ।२५। अतुल्य-त्वात्तु वाक्योर्गुणे तस्य प्रतीयेत् ।२६। समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ।२७। सौभरे, पुरुषश्रुतेर्निधनं, कामसंयोगः ।२८। सर्वस्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यान्निधानार्था पुनः श्रुतिः ।२९।

पृथकत्व का निवेश होने से, संख्या भेद के कारण कर्म का भेद बनता है ।२१। और उत्पत्ति-संयोग से, नाम भी कर्म भेद करने वाला कहा गया है ।२२। और प्रकृत देवता से सम्बन्ध न होने से गुण, कर्म भेदक है, क्योंकि पूर्व और उत्तर दोनों वाक्य समान हैं ।२३। अपूर्व

कर्म का विधान करने वाला वाक्य गुण-रहित कर्म का विधायक है। वहाँ, उस वाक्य द्वारा कहे हुए कर्म में वाक्यान्तर से गुण का विधान होता है ।२४। दधि-वाक्य अपूर्व कर्म का विधायक है, क्योंकि, उसका फल सुना जाता है और फल से कर्म का निश्चित सम्बन्ध है ।२५। अग्निहोत्र और दध्नेन्द्रिय इन दोनों वाक्यों में असमानता है। इसलिए अग्निहोत्र में फल विशेष के गुण का विधान है ।२६। समान वाक्यों में अपूर्व कर्म से फल का सम्बन्ध होता है ।२७। सौभर सम्बन्धी निधन में पुरुष प्रयत्न का उपदेश होने से, वह निधन फल वाला है ।२८। सब साम वृष्टि आदि फल के हेतु हैं, इसलिये सौभर में फल श्रवण है, तथा निधन वाक्य में फल श्रवण व्यवस्था वाला है ।२९।

।। द्वितीयः पाद समाप्त ।।

तृतीय पाद

गुणस्तु क्रतुसंयोगात्कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् । १ । एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात् । २ ।। अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते । ३।। आधाने सर्वशेषत्वात् । ४ ।। अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् । ५ ।। अगुणा च कर्मचादना । ६ । समाप्तं च फले वाक्यम् । ७ ।। विकारो वा प्रकरणात् । ८ ।। लिङ्गदर्शनाच्च । ९ ।। गुणात्संज्ञोपबन्धः । १० ।।

रथन्तर आदि सामरूप गुण के सुनने से अन्य कर्म का प्रेरक है। क्योंकि, उसका अन्य कर्म से संयोग है और वह संयोग मुख्य कर्म से पृथक् करता है ।१। एक ही ज्योतिष्टोम याग के लक्षण भेद से प्रयोजनीय अर्थ के निमित्त वे वाक्य कहे हैं। अतः ग्रह-ग्रहण रूप गुण विशेष का विधायक होने से उनमें एकता है ।२। अवेष्टि नामक याग अपूर्व कर्म

का विधायक कहा है। क्योंकि क्षत्रिय का संयोग है ।३। अग्न्याधान और यज्ञोपवीत में विधि है, क्योंकि, यह दोनों सब को पहले से उपलब्ध नहीं हैं ।४। दाक्षयणादि वाक्य में कर्मान्तर की विधि है, क्योंकि उनमें कर्म संज्ञा को बन्धन मिलता है ।५। और अन्य गुण का सम्बन्ध न होने से कर्ममात्र का विधान मिलता है ।६। तथा यह वाक्य प्रजा आदि फल में कर्म का सम्बन्ध कहने मात्र से ही निराकाक्ष है ।७। दाक्षायण यज्ञ आदि दर्शपूर्णमास यज्ञ का ही विकार है, क्योकि, वह उसी प्रकरण में पढ़ा जाता है ।८। तथा लक्षण देखने से भी वह वाक्य गुण विधायक सिद्ध होता है ।६। रूप गुण के बारम्बार कहे जाने से योग की दाक्षायण संज्ञा कही जाती है ।१०।

समाप्तिरविशिष्टा । ११ ।। संस्कारश्चाप्रकारणेऽकर्मशब्दत्वात् । १२ ।। यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् । १३ ।। यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् । १४ ।। लिङ्गदर्शनाच्च । १५ ।। विषये प्रादर्शनात । १६ ।। अर्थवादोपपत्तेश्च । १७ ।। संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् । १८।। पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः। १६ ।। अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यात् । २० ।।

उस वाक्य का निराकांक्ष होना गुणफल का सम्बन्ध कहने के समान है ।११। प्रकरण में न होने पर भी 'वायव्यंश्वेतम्' आदि वाक्य स्पर्शरूप संस्कार गुण के विधायक हैं, क्योंकि, उनमें कर्म-वाचक शब्द नहीं मिलता ।१२। श्रुतिमूलक होने से उन वाक्यों में स्पर्श तथा निर्वयण मात्र कर्म का विधान है ।१३। परन्तु, यह वाक्य प्रधान कर्म के विधायक हैं, क्योंकि द्रव्य, फल और देवता का सम्बन्ध उनमें मिलता है। तथा इन तीनों का नियत सम्बन्ध प्रदान कर्म के साथ है ।१४। और लक्षण देखे जाने से भी पूर्व मान्यता ठीक नहीं है ।१५। प्रकरण को

देखकर यागविधि है या संस्कार विधि इसका निर्णय करे ।१६। अर्थवाद से भी वैसा ही अर्थ बनता है ।१७। श्रुति संयोग से अर्थ शब्द वाली क्रिया के साथ नियोजित चरु उपाधान के निमित्त है, याग के निमित्त नहीं ।१८। पात्नीवते याग में द्रव्य सस्कार का विधान है, अपूर्व याग का नहीं, क्योंकि याग पद पहले ही आचुका है ।१९। द्रव्य और देवता के न होने से केवल अदाभ्य और अंशुग्रहण सुने जाने से याग विधान की कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रधान कर्म का अङ्ग नहीं, ज्योतिष्टोम का है ।२०।

अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात्क्रतुशब्दः प्रतीयेत ।२१।। द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ।२२।। तत्संयोगात्क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ।२३।। प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ।२४।। फलं चाकर्मसन्निधौ ।२५।। सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः ।२६।। आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ।२७।। अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेन विधीयते ।२८।। अन्यार्था वा पुनः श्रुतिः ।२९।।

लक्षण देखे जाने से 'अग्नि' वाक्य याग का नाम ही समझना चाहिये ।२१। अथवा प्रेरणा से अग्नि स्थापनार्थ होने से, अग्नि शब्द से अग्नि द्रव्य का विधान हुआ ।२२। यज्ञ से अग्नि का सम्बन्ध होने से अग्नि पद ज्योतिष्टोम यज्ञ का वाचक है। इसलिये वह वाक्य याग में स्तोत्र और शस्त्ररूप गुण का विधायक है ।२३। नित्य अग्निहोत्र से मासाग्निहोत्र भिन्न है, क्योंकि यह अन्य प्रकरण में कहा गया है ।२४। तथा कर्म की समीपता से अलग पड़ा हुआ फल प्रकरणान्तर से कर्म-भेद करता है ।२५। अवेष्टि यज्ञ की समीपता वाला 'एतया' वाक्यफल के सम्बन्ध से अवेष्टि याग के बारम्बार करने का निर्देश करता है । विभाग

न होने से कर्मान्तर का निर्देश नहीं करता ।२६। आग्नेय आदि में बारम्बार आग्नेय याग के श्रवण से पुन-पुनः अनुष्ठान करें। क्योंकि, पुनः-पुनः पढ़ना कर्म-भेद को [ ]द्ध करता है।२७। फिर- फिरकर कहने से भी उक्त वाक्य में कर्मान्तर का विधान नहीं है। क्योंकि पूर्व वाक्य विहित कर्म में, इस वाक्य वाले कर्म की एकता नहीं बनती।२८। आग्नेय याग का बारम्बार श्रवण ऐन्द्रयाग का स्तावक है ।२६।

।। तृतीय पाद समाप्त ।।

चतुर्थ पाद

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात ।१।। कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ।२। लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत, तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् । ३ । व्यपवर्गं च दर्शयति, कालश्चेत्, कम भेदः स्यात् । ४ । अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् । ५ । विरोध- श्चापि पूर्ववत् । ६ । कर्तुस्तु, धर्मनियमात्, कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् । ७।। नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्ति- समाप्तिवचनप्रायश्चित्ताऽन्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् । ८ । एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् । ६ ।। न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् । १० ।।

कर्म का प्रकरण होने से जीवन पर्यन्त अनुष्ठान का अभ्यास अग्निहोत्र कर्म का धर्म है ।१। अथवा श्रुति संयोग से 'यावज्जीव' पुरुष का धर्म है ।२। लक्षण देखे जाने से, कर्म का धर्म होने पर कर्म का आरम्भ होने पर मरण पर्यन्त समाप्त करने का नियम है। परन्तु, ऐसा मानने पर फलक्षय श्रवण व्यर्थ हो जाता है ।३। दर्श आदि कर्म की समाप्ति और कर्मान्तर विधि वाक्यान्तर में मिलती है। यदि इसके पश्चात् काल शेष हो तो कर्म विशेष का विधान हो सकता है।४। अनित्य

होने से सामान्य अग्निहोत्रादि काम्य-कर्म जरा, मृत्यु की अवधि वाला नहीं होता।५। और पूर्व कथित दोषों के समान अनुष्ठान न करना रूप दोष भी होता है।६। काल शास्त्र के समान 'यावज्जीवन' वाक्य जीवन रूप निमित्त का बोधक है। क्योंकि कर्त्ता के धर्म का नियम माना जाता है।७। विभिन्न शाखाओं में, कर्मों का परस्पर भेद है। क्योंकि नाम, रूप, धर्म, विशेष, पुनरुक्ति, निन्दा आसक्ति, समाप्तिवचन, प्रायश्चित, अन्यार्थ दर्शन आदि भेद मिलते हैं।८। प्रतिशाखा में प्रति ब्राह्मण अग्नि होत्रादि कर्म में भेद नहीं हैं। क्योंकि, फल, स्वरूप, प्रेरणा और नाम में अन्तर नहीं मिलता।९। नाम भेद से अग्निहोत्र कर्मों का भेद नहीं होता। क्योंकि उनकी विधि का विधान पृथक् नहीं है।१०।

सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात्। ११। कृतकं चाभिधानम्।१२। एकत्वेऽपि परम्। १३। विद्यायां धर्मशास्त्रम्। १४। आग्नेयवत्पुनर्वचनम्। १५॥ अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात्।१६। वाक्यासमवायात् अर्थासन्निधेश्च। १७। न चैकं प्रतिशिष्यते। १८॥ समाप्तिवच्च संप्रेज्ञा। १९॥ एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि। २०।

और सभी याग एक कटशाखा द्वारा कहे जाने से एक ही कर्म क्यों न मान लिये जांय।११। तथा नाम भेद बनावटी है।१२। प्रतिशाखा, प्रति ब्राह्मण कर्म की एकता से भी एकादशक और द्वादशकपाल रूप भेद तो भिन्न कथन के आधार पर होगा।१३। विद्या के अध्ययन काल में, भूमि पर भोजन करना आदि अङ्ग है, कर्म में नहीं।१४। आग्नेययज्ञ के समान पुनर्वचन है।१५। अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ और शाखा में पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि वेद का संयोग सर्वत्र समान रूप से है।१६। एक शाखा में सम्पूर्ण भाव न आने से उसे शाखान्तर में कह देना पुनरुक्ति नहीं हो सकती।१७। एक ब्राह्मण या शाखा में कहे कर्म का सभी

ब्राह्मण और शाखा वाले पुरुषों में विधान हैं ।१८। और कर्मसमाप्ति सूचक वचन होने से भी प्रति ब्राह्मण या प्रति-शाखा में कर्म-भेद नहीं है ।१९। प्रति ब्राह्मण और प्रति शाखा में एक अग्निहोत्र कहा जाने पर भी निन्दा अशक्ति और समाप्ति वचन मिलते हैं ।२०।

प्रायश्चित्तं निमित्तेन । २१ । प्रक्रमाद्वा नियोगेन । २२ । समाप्तिः पूर्वंदत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत । २३ । लिंगमविशिष्टं स वंशेषष्वान्न हि तत्र कर्मचोदना तस्माद् द्वादशाहस्याहारव्यपदेशः स्यात् । २४ । द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् । २५ । विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् । २६ । सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात् । २७ । उपहव्येऽप्रतिप्रसवः । २८ । गुणार्था वा पुनः श्रुति । २९ ॥ प्रत्ययं चापि दर्शयति । ३० । अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत त । ३१ । विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये, तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् । ३२ ॥

उदित या अनुदित होम के समय प्रायश्चित किया हुआ कर्म भेद-पक्ष को सिद्ध करता है ।२१। उदित या अनुदित होम की प्रतिज्ञा का नियम करके फिर उसके विपरीत करने पर प्रायश्चित कहा है ।२२। समाप्ति पूर्व निश्चित होने से प्रतिज्ञा अनुकूल समझनी चाहिये ।२३। लक्षण के समान होने से कर्म में भेद नहीं है । सभी ज्योतिष्टोम पहिले होता है, वहाँ कर्म-प्रेरणा-विधि नहीं मानते, इसलिये द्वादशाह का आहार व्यपदेश है ।२४। अग्निरूप द्रव्य के चयन में एकादशिनी याग का उपदेश न होने से विधि वाक्यों का व्यतिक्रम होता है। फिर भी 'वाचः स्तोम' याग में एकादश यूप विधि के निर्देश से विधि-व्यवस्था हो

सकती है। इसलिये वह विधि-वाक्यों का अनुवाद है ।२५। अतिरात्र याग में षोडशी पात्र के ग्रहण या निषेध की विधि के पक्ष में अतिरेक हो सकता है ।२६। सारस्वत सत्र में विप्रतिषेध होने से जो विरोध आता है उसका निराकरण 'यदा' पद के अध्याहार से होता है ।२७। उपहव्य याग में बृहत् और रथन्तर साम का विधान व्यर्थ है। क्योंकि वह स्वभाव से ही उत्पन्न है ।२८। प्रकृति याग से प्राप्त होने पर भी बृहत्साम और रथन्तर साम का पुनर्विधान गुण विशेष सम्बन्धी नियम के लिये है ।२९। एक का विधान दूसरी शाखा में मिलने से भी प्रति ब्राह्मण और प्रतिशाखा में अग्निहोत्र कर्म भेद-रहित है ।३०। प्रत्येक शाखा में अनुष्ठान भेद से ही व्यवस्था होनी चाहिये, क्योंकि क्रम का सम्बन्ध प्रत्येक शाखा में भिन्न है ।३१। अनुष्ठान क्रम के विरोधी पाठ से अङ्ग-अनुष्ठान का सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि सभी ब्राह्मण या शाखा में एकता सिद्ध होने पर क्रमानुसार अङ्गानुष्ठान होता है ।३२।

[कर्म-भेद पर विचार करते हुये 'मीमांसा' ने वैदिक कर्मों के तीन विभाग माने हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य से मतलब उन अग्निहोत्र आदि से है जिनको नित्यप्रति करने का आदेश वेदों में दिया गया है। नैमित्तिक कर्म त्योहारों तथा विशेष अवसरों पर किये जाते हैं, जैसे श्रावणी आदि। काम्य किसी विशेष कामना की पूर्ति के लिये किये जाते हैं। इन समस्त कर्मों में कुछ अंश प्रधान होते हैं कुछ गौण। जैमिनि के मतानुसार यज्ञ-भाग में दो प्रधान अंश हैं—एक द्रव्य या सामग्री का त्याग और दूसरे वेद के यज्ञ-क्रिया वाले मन्त्रों का पाठ। इन दोनों में से अगर किसी एक बात की कमी रह जाय तो वह यज्ञ-याग न रह कर साधारण सामग्री का अग्नि में जलाकर वायु को शुद्ध करने की प्रक्रिया अथवा वेद-मन्त्रों का पाठ कर लेना मात्र रह जायगा। धर्म की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मन्त्रों सहित सामग्री की आहुतियों द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट किया जाय।

एक स्थान पर यह शङ्का की गई है कि द्रव्य का त्याग अथवा हवन क्रिया ही मुख्य है, मन्त्रों का पाठ तो उसका सहायक कर्म या गौण क्रिया है। पर मीमांसाकार इस मत से सहमत नहीं। वे इन दोनों को समान स्तर का बतलाते हैं और उनमें से किसी एक का अभाव होने से प्रयत्न के निष्फल जाने की बात कहते हैं।

द्रव्य या सामग्री के 'गुण' के साथ ही जैमिनि ने उसके संस्कार पर भी जोर दिया है। यदि सामग्री उत्तम है, पर उसे भली प्रकार शुद्ध नहीं किया गया है तो भी वह उचित प्रतिफल नहीं देगी। उसमें किसी प्रकार की अशुद्धता रहने से यज्ञ में दोष उत्पन्न हो जायगा। अतः सामग्री का 'संस्कार' भी एक आवश्यक विषय है।

तब 'गौण' कर्म कौन से है ? यज्ञ-शाला की सजावट, वहाँ पर सुख-सुविधा की व्यवस्था, उसमें इष्ट-मित्रों तथा परिचितों का निमन्त्रण और उनका आदर सत्कार आदि बातें गौण हैं। इनको कम या अधिक मात्रा में सुविधा और परिस्थति के अनुसार किया जा सकता है। यज्ञ फल पर, जो कि अधिकाँश में अदृष्ट होता है इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इस अध्याय में एक विचारणीय विषय है कि द्रव्य का क्या आशय ग्रहण किया जाय ? विभिन्न सम्प्रदायों में इस विषय पर बहुत मतभेद हैं। कुछ लोगों का कथन है कि यज्ञ में अन्य सामग्री के साथ जो पशु लाये जाते हैं वे भी एक 'द्रव्य' ही होते हैं और उनका भी हवन एक-एक अङ्ग पृथक करके किये जाने का विधान है। पर दूसरे पक्ष वालों का मत है कि वे पशु दान के लिये लाए जाते हैं। और उनके 'संस्कार' का अर्थ यही है कि उन्हें भली प्रकार साफ करके और सजा-कर यज्ञ-स्थल पर लाया जाय। इसमें यह भी ध्यान रखना होता है

कि वे पशु बीमार, बुड्ढे अथवा जर्जर न हों वरन् उत्तम श्रेणी के युवा और सब प्रकार से उपयोगी पशुओं का दान करना ही सार्थक माना गया है।

आगे चल कर शाखा-भेद से ज्योतिष्टोम, रथन्तर-साम, अतिरात्र, सारस्वत, उपहव्य नामक विभिन्न प्रकार के यागों में क्रियाओं के भेदों पर विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रतिपक्षी का कहना है कि शाखा और प्रतिशाखा की दृष्टि से वैदिक कर्मों में भेद है, ऐक्य नहीं है। उन्होंने इस भेद के नौ कारण भी बताये हैं यथा नाम-भेद धर्म-भेद, पुनरुक्ति, निन्दा, अशक्ति, समाप्ति वचन, प्रायश्चित तथा अन्यार्थदर्शन। इन विषयों में विभिन्न वैदिक शाखाओं के ग्रन्थों में, जिनकी संख्या ११७ मानी गई है, विभिन्न प्रकार की परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं। पर मीमांसाकार ने इस शङ्का को निराधार मानकर कहा है कि फलस्वरूप और प्रेरणा की दृष्टि से सब शाखाओं के यज्ञ-कर्म एक से ही होते हैं इसलिये ऊपरी भिन्नताओं के कारण उन्हें पृथक नहीं माना जा सकता।

मीमांसा दर्शन में अग्निहोत्र कर्म को मनुष्य का अनिवार्य धर्म माना है और लिखा है कि जब तक जीवित रहे तब तक इस यज्ञ-कर्म को सदैव करता रहे, कभी इसमें शिथिलता न आने दे। जब अत्यन्त जराजीर्ण अथवा बिमारी से अशक्त हो जाय उस समय विवशता के रूप उसे स्थगित किया जा सकता है अन्यथा जीवन के अन्त समय अग्नि-होत्र और दर्शपूर्णमास आदि कर्म नियमित रूप से श्रद्धासहित करने से ही आत्मकल्याण साधित हो सकता है। जो लोग प्रमादवश अथवा किसी अन्य स्वार्थवश इस कर्म को त्याग देते हैं या उसमें नागा करते हैं उनका लौकिक और पारलौकिक सुख क्षीण हो जाता है। इस प्रकार

नित्य-कर्मों से मनुष्य का छुटकारा किसी काल में नहीं है। यही वेद की आज्ञा है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है—

कुर्वन्नेह वेह कर्माणि जिजीविषच्छतं समाः।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

इस वेद मन्त्र में 'कर्माणि' शब्द का अर्थ मीमांसा-दर्शन में अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का ही बतलाया गया है। अर्थात् मनुष्य को नित्य अग्निहोत्र तथा पञ्चयज्ञ करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से वह दोषी नहीं बनता और कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता। जो शास्त्र या उपनिषद् आदि ज्ञान-मार्ग के ग्रन्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाने के पश्चात् कर्म-काण्ड सम्बन्धी क्रियाओं को त्यागने का विधान करते हैं, वे मीमांसा की दृष्टि से भूल-वश पुण्य-मार्ग से वंचित हो जाते हैं।

कर्मकाण्ड में यज्ञों की आहुतियाँ जिन देवताओं को देने का विधान है उसकी विवेचना करते हुए इस दर्शन में एक मुख्य बात यह कही गई है कि देवता का अर्थ किसी दूरवर्ती लोक में बैठे हुए सूक्ष्म या स्थूल शरीर धारी विशेष व्यक्तियों से नहीं है, वरन् परमात्मा की विभिन्न शक्तियों तथा जिन पदार्थों अथवा जीवों में उन शक्तियों का विशेष रूप से विकास हुआ है उनसे है। इन्द्र, अग्नि, वायु, आदित्य चन्द्र, सोम, अश्विनी, वरुण, प्रजापति आदि जिन देवताओं का उल्लेख वेदों में बार-बार मिलता है, वे परमात्मा की विभिन्न शक्तियाँ ही हैं। ये शक्तियाँ विभिन्न पदार्थों और जीवों में विशेष गुणों के रूप में प्रकट होती हैं जिससे उनको भी 'देवता' कहा जा सकता है। जैसे वेग और शीघ्रता का गुण अश्व अथवा वाजी' में प्रकट हुआ है तो उसका

वर्णन भी 'सा वैश्य-देव्यामिक्षा' वाजिभ्योवाजिनम्' वाक्य में किया गया है। इसमें कहा गया है कि दूध से बनाये गये पदार्थों में से 'अमिक्षा' विश्वेदेवों के लिये और 'वाजिन' वाजी देवता के लिये दिया जाय। तात्पर्य यही है कि यह समस्त विश्व परमात्मा का ही विराट रूप है और इसमें जहाँ कहीं कोई विशेष गुण या शक्ति दिखाई दे उसे परमात्मा की विभूति मानकर सम्मान करना मनुष्य का कर्तव्य है। इसी प्रकार मनुष्य परमात्मा के स्वरूप को समझ कर उसका सान्निध्य प्राप्त कर सकता है।

।। द्वितीय अध्याय समाप्त ।।

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

द्वितीय अध्याय में कर्मों के भेद का विवेचन करने के पश्चात् इस तीसरे 'शेषशेषिभाव' शीर्षक अध्याय में यह विचार किया गया है कि यज्ञ सम्बन्धी सब प्रकार के कर्मों में कौन शेष और कौन शेषी है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक कर्म किसी अन्य प्रधान कर्म की सहायक अथवा पूर्ति करने वाला है। फिर उस 'शेष' कर्म के सहायक अथवा पूर्ति करने वाले अन्य कर्म होते हैं। इस प्रकार प्रधान और उनकी पूर्ति में सहायक कर्मों की एक शृङ्खला बन जाती है जिससे एक से दूसरा प्रधान सिद्ध होता जाता है। विभिन्न प्रकार के योगों तथा उनके अंगों में कौन किस दर्जे का है इसी का परिचय इस अध्याय से प्राप्त हो सकेगा।]

अथातः शेषलक्षणम्।१। शेषः परार्थत्वात्।२। द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः।३। कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्।४। फलं च पुरुषार्थत्वात्।५। पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्।६। तेषामर्थेन सम्बन्धः।७। विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च।८। अर्थलोपादकर्म स्यात्।९। फलं तु सह चेष्टया, शब्दार्थोऽभावद्विप्रयोगे स्यात्।१०।

अब शेष का लक्षण कहते हैं।१। दूसरे के लिए होने वाला

शेष है ।२। बादरि आचार्य के मत में द्रव्य, गुण तथा संस्कार में शेष की प्रवृत्ति होती है ।३। फल के लिए होने से यज्ञ, दान आदि भी शेष हैं, यह आचार्य जैमिनी का मत है ।४। और पुरुषार्थ के लिये होने से द्रव्य, गुण, संस्कार और कर्म के समान ही फल शेष है ।५। और कर्म का निमित्त होने से पुरुष भी द्रव्य के समान ही शेष है ।६। उन धर्मों का दृष्ट फल के अनुसार व्रीहि आदि के साथ शेष-शेषि भाव सम्बन्ध है ।७। शास्त्रोक्त अवहनन आदि कर्म सभी के धर्म हो सकते हैं। क्योंकि प्रधान कर्म के साथ उनका संयोग और प्रकरण समान है ।८। फल दिखाई न देने से सब द्रव्यों में सभी कर्म नहीं हो सकते, उन्हें प्रति द्रव्य के लिए समझना चाहिये ।९। परन्तु अवहनन क्रिया से तुषविमोक आदि रूप प्रयोजन शब्द का भाव है। फल न होने पर अवहनन आदि का अभाव है ।१०।

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ।११। अर्थैकत्वे-द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ।१२। एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ।१३। सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ।१४। चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतियेत् ।१५। संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ।१६। व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ।१७। अनार्थक्यात्तदङ्गेषु ।१८। कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ।१९। साकांक्षं त्वेकवाक्यं स्यातसमाप्तं हि पूर्वेण ।२०।

और द्रव्यों का उत्पत्ति संयोग होने से और उसी क्रिया के निमित्त से विधान किये गए हैं ।११। एक वाक्यार्थ में द्रव्य और गुण के परस्पर योग का नियम है। क्योंकि दोनों का कर्म समान है ।१२। ग्रह आदि का सम्मार्जन एक बार होता है, क्योंकि 'ग्रहम्' में एक वचन सुना जाता है और उसका सम्मार्जन से सम्बन्ध है ।१३।

अथवा सभी में सम्मार्जन आदि विहित है। क्योंकि लक्षण का उपन्यास महत्व जाति के अभिप्राय है, इसलिए लक्षण सब में समान हैं।१४। याग में जितनी संख्या का विधान हुआ है, उसी का ग्रहण करे। क्योंकि वह परार्थ होने से गौण है।१५। अथवा गुण आदि की अव्यवस्था है। क्योंकि वह संस्कार कर्म है।१६। ग्रह का मार्जन होता है, चमस का नहीं। क्योंकि, ग्रहों का सम्मार्जन से धर्म धर्मिभाव सम्बन्ध है और उसमें शब्द प्रमाण है।१७। उसका अङ्ग होने से निरर्थक होना सिद्ध है।१८। उसमें वाक्य भेद है, क्योंकि कर्त्ता के गुण अभिक्रमण का क्रिया से समवाय-सम्बन्ध नहीं है।१९। परन्तु 'अभिक्रामजुहोति' एक भाग है और विभाग करने पर परस्पर सापेक्ष हो जाते हैं। केवल 'अभिकाम' पद से वाक्य पूरा नहीं हो सकता।२०।

सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात्।२१। गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्।२२। मिथश्चानर्थसम्बन्धात्।२३। आनन्तर्यमचोदना।२४। वाक्यानां च समाप्तत्वात्।२५। शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत, मिथस्तेषामसम्बन्धात्।२६। व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः।२७।

उपवीत वाक्य सामधेनी का अङ्ग नहीं हैं, क्योंकि, 'निवित्' नामक मन्त्रों का व्यवधान है।२१। तथा सामधेनी और निवित् मन्त्र परार्थ में होने से और समान होने से, परस्पर अङ्गाङ्गि भाव वाले नहीं हो सकते।२२। वार्त्रघ्नी और वृधन्वती का सब कर्मों से सम्बन्ध नहीं। क्योंकि वह अर्थ-सम्बन्ध से परे हैं।२३। केवल आनन्तर्य मात्र अंग-अंगी भाग सम्बन्ध का विधान करने वाला नहीं है।२४। और उदाहृत वाक्य परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं, क्योंकि अपने पदों द्वारा अपना अर्थ कहने में ही उनका कार्य समाप्त हो जाता

है ।२५। आग्नेय सम्बन्धों चार भार करना सर्व पुरोडाश का अङ्ग हैं। क्योंकि अग्नि और चार भाग का परस्पर में सम्बन्ध नहीं हैं ।२६। चार भाग करना आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है। क्योंकि, अग्नि का पुरोडाश से सम्बन्ध होता है और इनका यह पारस्परिक सम्बन्ध पुरो- डाशान्तर से अलग करने के लिये है ।२७।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्ति- सम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ।१। संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात् ।२। वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ।३। गुणाद्वाऽप्य- भिधानं स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ।४। तथाह्वानमपीति चेत् ।५। न कालविधिश्चोदितत्वात् ।६। गुणाभावात् ।७। लिङ्गाच्च ।।८।। विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ।९। तथोत्थानविसर्जने ।।१०।।

मंत्र जिस अर्थ को प्रकट करने में समर्थ है, उस अर्थ के प्रति मन्त्र में शेषता होती है। इसलिए मन्त्रस्थ पदों का अर्थ से नित्य सम्बन्ध हैं ।१। अविहित कर्म में मन्त्र का विनियोग नहीं होता क्योंकि, विहित कर्म के संस्कार मन्त्र हैं ।२। इन्द्र को बतलाने वाले मन्त्र का लक्षण से विनियोग नहीं होता, किन्तु वाक्य विशेष से होता है ।३। गुण-सम्बन्ध से, 'इन्द्र' शब्द से गार्हपत्य अग्नि का अभिधान होता है। क्योंकि, पदार्थ का सम्बन्ध शास्त्र हेतुक नहीं है ।४। यदि कहो कि निवेशन' इत्यादि मन्त्र गार्हपत्य के लिए हैं और 'हविष्कृत्' इत्यादि भी अवहनन आदि के लिये है तो, यह ठीक

नहीं ।५। 'अवघ्नन्' पद काल का विधायक है। क्योंकि वह 'व्रीहीन-वहन्ति' वाक्य से पूर्व ही विहित है। इसलिये उस वचन से अवहनन क्रिया में विनियोग नहीं हो सकता ।६। गुण का सम्बन्ध न मिलने से 'ऐहि' मन्त्र अवहनन का प्रकाश नहीं कर सकता ।७। और लक्षण पाये जाने से अवहनन 'हविष्कृत्' पद का अर्थ भी नहीं हो सकता ।८। यदि 'अवघ्नन्' पद से उस कर्म की विधि मानें तो विधान किया गया 'शतृ' प्रत्यय उपपन्न नहीं होता ।९। तथा उत्तिष्ठन् और विसृजति पद उत्थान-काल और विसर्जन काल का बोध कराते है ।१०।

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ।११। उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ।१२। स देवतार्थस्तत्संयोगात् ।१३। प्रतिपत्तिरिति चेत्स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारः स्यात् ।१४। कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ।१५। यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् । ।१६। वचनादिति चेत् ।१७। प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्न-शब्दः ।१८। लिंगक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् ।१९। अधिकारे च मन्त्रविधिस्तदाख्येषु शिष्टत्वात् ।२०।

और परार्थ होने से, सूक्तस्थ वाक्य में भी काल का ही विधान मानना ठीक है ।११। अथवा उपदेश से ही वह शब्द याग सम्बन्धी देवता का द्योतक, निमित्त रहित प्रहरण का अङ्ग नहीं है ।१२। देवता से प्रस्तर का संयोग होने से सूक्तवाक देवता के लिए होने पर भी प्रस्तर का अङ्ग हैं ।१३। यदि कहो कि प्रस्तर प्रहरण प्रतिपत्ति रूप का संस्कार का कर्म है यह ठीक नहीं। क्योंकि स्विष्टकृत कर्म के समान दोनों संस्कार होते हैं ।१४। 'सूक्तवाक' के ग्रहण से सब मन्त्रों का प्रहरणांग होने का उपदेश मिलने से दर्श और पूर्णमास यज्ञ में 'सूक्तवाक' मन्त्रों का पाठ करना कहा है ।१५। अथवा यज्ञ के शेषभूत संस्कार होने से सूक्तवाक मन्त्रों का विनियोग होता है ।।१६।।

'सूक्तवाकेन' इत्यादि वाक्य से सूक्तवाक का मन्त्र का विनियोग उचित नहीं मान सकते ।१७। सूक्तवाक शब्द का ग्रहण दर्श और पूर्णमास दोनों यज्ञों के लिये है। क्योंकि दोनों का प्रकरण एक ही है ।१८। 'काम्या याज्यानुवाक्या' का विनियोग काम्येष्टियों में ही है, यष्टि मात्र में नहीं। क्योंकि, क्रम और समाख्या सहित ऐसे ही लक्षण मिलते हैं ।१९। ज्योत्तिष्टोम योग के अधिकार में जो मन्त्र विधि है, यह तदाख्या रहितो में है। क्योंकि यह साधारण रूप से कहा गया है ।२०।

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ।२१। अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता ।२२। सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ।२३। लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ।२४। तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य, चोदितत्वात् ।२५। गुणाभिधानान्मद्रादिरेकमन्त्रः स्यात्तयोरेकार्थसंयोगात् ।२६। लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ।२७। यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि तशयति ।२८। पुनरभ्युन्नानेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ।२९। अपनयाद्वा पूर्वस्याऽनुपलक्षणम् ।३०।

जिन मन्त्रों को प्रकरण में देखा गया है, उन्हीं का विनियोग है। यही बात प्रकरण और युक्ति से सिद्ध है ।२१। यदि अपाकृत मन्त्रों का विनियोग मानें तो उपदेश विधि निष्फल हो जायगी और फलित ज्योतिष्टोम के साथ सम्बन्ध न होने से जिस स्थान से सम्बन्ध है वह फलदायक नहीं है ।२२। वाचः स्तोम याग में सब मन्त्रों के विनियोग का उपदेश होने विनियोग किये हुए का फिर विनियोग करने में दोष नहीं ।२३। अनुवाक का भक्षण में ही प्रयोग होने का विनियोग है, यह लक्षण और समाख्या से सिद्ध होता है ।२४। भक्षानुवादक का

अभक्षण आदि में भी विनियोग है। रूप आदि का विधान होने से ग्रहण आदि का भक्षण विधान की विधि से ही कहा जाना समझना चाहिये।२५। मन्त्र आदि सम्पूर्ण मन्त्र भक्षण का लक्षण है, तृप्ति का नहीं, क्योंकि तृप्ति का गौण रूप से कथन है। मन्त्र के दोनों भागों का एकार्थ संयोग है।२६। समान विधान में जो 'ऐन्द्र' पद ईश्वर के लिए नहीं है, उनके भक्षण में मन्त्र का विनियोग नहीं है। क्योंकि उसमें लक्षण विशेष का निर्देश मिलता है।२७। अथवा देवता के अनुसार ही मन्त्र का विनियोग होना चाहिये। क्योंकि, इन्द्र और इन्द्र से भिन्न का विकृतिभाव देखा जाता है।२८। ग्रहों में पुनः डाले गये सोम रस के भक्षण में इन्द्र और मैत्रावरुण आदि सबकी ऊहा करनी चाहिये। क्योंकि, वह सोम-भक्षण योग्य शेष है।२९। अथवा पहिले आहूत देवता की भक्ष मन्त्र में ऊहा नहीं होती। क्योंकि भक्ष्य शेष से उसका सम्बन्ध नहीं रहता।३०।

ग्रहणाद्वाऽनपायाः स्यात्। ३१। पात्नीवते तु पूर्ववत्।३२। ग्रहणाद्वाऽपनीतं स्यात्। ३३। त्वष्टारं तूपलक्षयेत्पानात्। ३४। अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात्। ३५। त्रिंशच्च परार्थत्वात्। ३६। वषट्कारश्च कतवत्। ३७। छन्दः प्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात्। ३८। ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात्स्यात्। ३९। एकस्मिन्वा देवतान्तरद्विभागवत्। ४०। छन्दश्च देवतावत्।४१। सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः। ४२। सर्वेषां वैकमंत्र्यमैतिशातनस्य भवित पानत्वात्सवनाधिकारो हि। ४३।

इन्द्र-संबंध का विच्छेद नहीं होता, क्योंकि उसका ग्रहण पाया जाता है। इसलिये पूर्व पक्ष नहीं माना जा सकता।३१। पात्नीवत का होम शेष भक्षण के समय भक्ष-मन्त्र में पहिले की भांति ऊहा करनी चाहिते।३२। पात्तीवत पात्र के शेष में इन्द्र-वायु के सम्बन्ध का विच्छेद

है। क्योंकि, उसमें पूर्व देवता-रहित आग्रयण स्थली से निकाले हुए का ग्रहण होता है ।३३। त्वष्टा की पात्नीवत शेष-भक्षण में ऊहा होनी चाहिये। क्योंकि सोम पान कहा गया है ।३४। इस प्रकार पात्नीवत से त्वष्टा की ऊहा नहीं होती। क्योंकि, सोम-ग्रहण में, दोनों में समानता नहीं है ।३५। तथा परार्थ होने से तेतीस देवताओं की ऊहा नहीं हो सकती ।३६। और अध्वर्यु आदि की यज्ञः मन्त्र में प्राप्ति न होने के समान अनुवषट्कार के देवता अग्नि की भी प्राप्ति नहीं होती ।३७। जगती छन्द के निषेध से अनुष्टुप् छन्द की ऊहा प्रमाण नहीं। क्योंकि, ज्योतिष्टोम के एक होने से सोम और उसके अन्य धर्म का सान्निध्य समान ही है ।३८। ऐन्द्राग्न नामक ग्रह-शेष के भक्षण में, विनियोजक लिंग की विद्यमानता से, भक्ष-मन्त्र का विनियोग है ।३९। एक सोम भक्षण में ही चार भाग करने से इन्द्र और इन्द्राग्नि देवता में भिन्नता है ।४०। जैसे इन्द्र को देकर बचे हुए शेष सोम के भक्षण में भक्ष मन्त्र का प्रयोग है, वैसे ही गायत्री छन्द वाले शेष सोम भक्ष्य में भी उस मन्त्र का विनियोग उचित है ।४१। ऐन्द्र सोम के एक छन्द वाला न होने से, अनेक छन्द वालों में भी भक्ष मन्त्र का विनियोग होता है ।४२। परन्तु, इन्द्र, अनैन्द्र सभी शेष भक्षण में एक ही भक्ष मन्त्र का विनियोग है। क्योंकि, ऐतिशायन ऋषि के मत में 'दा' धातु के अर्थ में 'पा' का प्रयोग कर बहुव्रीहि समास से लक्षणावृत्ति के आश्रय से 'सवन' अर्थ किया है ।४३।

।। द्वितीयः पादः समाप्त ।।

तृतीय पाद

श्रुतेर्जाताधिकारं स्यात् । १ । वेदो वा प्रायदर्शनात् ।२। लिङ्गाच्च । ३ । धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः । ४ ।

त्रयोविद्याख्या च तद्विदि । ५ ।व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् । ६ । न सर्वस्मिन्निवशात् । ७ । वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्यते । ८ । गुण मुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः । ९ । भूयस्त्वेनोभयश्रुति । १० ।

धर्म विशिष्ट मन्त्रों में 'उच्चैस्त्व' आदि धर्म है। क्योंकि उनके विधायक वाक्यों में मन्त्र वाचक 'ऋचा' आदि का उपदेश मिलता है ।१। पूर्वोक्त वाक्यों में 'ऋचा' आदि शब्द ऋग्वेद आदि के वाचक हैं। क्योंकि वेदों के उपक्रम से यह पद प्रयुक्त हुए हैं ।२। तथा उसका लक्षण पाये जाने से भी यही ठीक है ।४। और धर्म का उपदेश होने से भी साम द्रव्य से उच्चैस्त्व धर्म का सम्बन्ध नहीं बनता ।४। तथा तीनों वेद के ज्ञाता में त्रयीविद्या नामक प्रवृत्ति मिलती है, उससे भी यही सिद्ध होता है ।५। यदि कहें कि व्यक्तिक्रम होने पर श्रुति के अनुकूल धर्म की कल्पना करें, इससे ऋचादि को वेदवाची मानना ठीक नहीं ।६। उस धर्म का सम्पूर्ण वेद में निवेश होने से ऋचा-पाठ के व्यतिक्रम से धर्म का व्यतिक्रम होने में कोई दोष नहीं है ।७। वेद का सम्बन्ध होने से 'उच्चैस्त्व' आदि का नियम है। प्रकरण से उसकी बाधा नहीं होती ।८। गुण और मुख्य में आशङ्का होने पर मुख्य के साथ ही वेद धर्म का सम्बन्ध है। क्योंकि गुण और धर्म का सम्बन्ध मुख से ही है ।९। दो वेदों में सुने कर्म का विधान अङ्गों की अधिकता पर निर्भर है ।१०।

असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्तव्यतार्थित्वात । ११ । क्रमश्च देशसामान्यात् । १२ । आख्या चेवं तदर्थत्वात् । १३ । श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य-मर्थविप्रकर्षात् । १४ अहीनो वा प्रकरणाद्गौणः । १५ । असंयोगात्त मुख्यस्य तस्मादपकृष्यते । १६ । द्वित्वाबहुत्वयुक्तं

वा चोदनातस्य । १७ । पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् । १८ । न प्रकृतेरेकसंयोगात् । १९ । जाघनी चैकदेशत्वत् । २०

श्रुति, लक्षण और वाक्य से जिसका विनियोग न हो, उसका विनियोग प्रकरण से समझे। क्योंकि, प्रधान की अंङ्ग-विनियोग की आकांक्षा है।११। अनुमन्त्रण-मन्त्र और उपांशुयाग का ही स्थान होने से उनका अङ्ग-अङ्गी भाव सम्बन्ध बनता है।१२। व्युत्पत्ति द्वारा कर्त्ता-क्रिया का योग होने से समाख्या भी विनियोजक ही है।१३। श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्यान इन छओं के मिलने पर पहिला प्रबल और बाद का निर्बल होता है। क्योंकि पहले से जल्दी और बाद के से देर से विनियोग होता है।१४। 'अहीन' ज्योतिष्टोम की गौण संज्ञा है, प्रकरण में उसका पाठ मिलता है।१५। 'अहीन' संज्ञक यागान्तर में द्वादश 'उपसद्' का अपकर्ष रूप सम्बन्ध है। क्योंकि मुख्य वृत्ति द्वारा अहीन का असंयोग है।१६। अथवा द्विवचन और बहु वचन वाले मन्त्रों को ज्योतिष्टोम से अलग कर 'कुलाय' आदि में विनियुक्त करे। क्योंकि ज्योतिष्टोम में यजमान की प्रेरणा नहीं है।१७। यदि कहें कि यजमान के असमर्थ होने ले ज्योतिष्टोम में भी अर्थ कारण से एक या दो यजमान हों तो यह सब ठीक नहीं है।१८। ज्योतिष्टोम में एक यजमान का ही विधान होने से उक्त कथन ठीक नहीं।१९। जाघनी का पशुयाग से उत्कर्ष रूप सम्बन्ध हैं और उक्त पशु याग का अङ्ग है।२०।

चोदना वाऽपूर्वत्वात् । २१ । इकदेश इति चेत् । २२ । न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः । २३ । सन्तर्दनं प्रकृतौः क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् । २४ । उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य । २५ कर्तृतोवा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् । २६ । क्रतुतो वाऽर्थवादानुपपत्तेः स्थात् । २७ संस्थाश्च कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात्

। २८ । उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् । २९ । अविशेषात्स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् । ३० ।

'पत्नीसंयाज' के अङ्ग रूप से जाघनी का विधान है। इससे अपूर्व लाभ होता है और पशु-अङ्ग जाघनी की प्राप्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है।२१। यदि कहें कि जाघनी एक अङ्ग होने से पशुयोग में ही सम्भव है।२२। प्रकृत याग में जाघनी का सम्बन्ध स्वीकार करें तो शास्त्र-विरुद्ध हिंसा करनी होगी ।२३। सन्तर्दन का अग्निष्टोम में पाठ है। ऐसा करने से वाक्यार्थ का लोप नहीं होगा और सोम क्रय करने के साधन स्वर्ण के समान उसका भी विधान हो सकता हैं।२४। किन्तु, अग्निष्टोम प्रकृति में सन्तर्दन का उत्कर्ष है। इस वाक्य में ज्योतिष्टोम का दीर्घ सोम रूप विशेषण ग्रहण हुआ है ।२५। यजमान के सम्बन्ध के ही विशेषण हैं, क्योंकि दीर्घ शब्द यजमान के लिये है।२६। याग सम्बन्ध से विशेषण मानने से 'गर्त्य' से सन्तर्दन का सोम धारण रूप फल सिद्ध नहीं होता।२७। ज्योतिष्टोम के कर्त्ता के निवेश के समान सन्तर्दन का भी निवेश है, क्योंकि सोम धारण सब में समान है।२८। उक्थ्य में सन्तर्दन का फल विद्यमान होने से उसी में सम्बन्ध मानना चाहिये।२९। उक्थ्यादि की प्रशंसा व्यर्थ है। क्योंकि अग्निष्टोम की सब संस्थाओं में सोम समान है, ऐसा कथन ठीक नहीं।३०।

स्यादनित्यत्वात् । ३१ । सङ्ख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् । ३२ । नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात् । ३३ । पौष्णं पेषणं विकृता प्रतीयेताऽचादनात्प्रकृतौ ।३४। तत्सर्वार्थमविशेषात् । ३५ । चरौ वाऽर्थोक्तः पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् । ३७ । चरावपीति चेत् । ३७ । न पक्तिनामत्वात् । ३८ । एकस्मिन्नेकसंयोगात् । ३९ । धर्मविप्रतिषेधाच्च । ४०

दश मुट्ठी परिणाम के विधायक शास्त्र के अनित्य होने से उक्थ्यादि में सोम की अधिकता है ।३१। संख्या-वाची वाक्य कर्म का निषेधक है। क्योंकि उक्त प्रकरण में उसका पाठ है ।३२। कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति के लिये ज्योतिष्टोम का प्रथम नाम कहा है, क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है ।३३। पुष्टिकारक पदार्थों को पीस कर प्रदान करना पूषा के विकृतियाग में है। क्योकि दर्शपूर्णमास में पूषा की विधि नहीं है ।३४। समान रूप से विधान होने के कारण वह प्रेषण ईश्वर निमित्त पदार्थों से सम्बद्ध होना चाहिये ।३५। केवल चरु के पेषण का सम्बन्ध है, पुरोडाश में वह पूर्व अर्थ से सम्बन्धित है। पीसने रूप अर्थ के विप्रतिषेध से पशु में न होना ही सिद्ध होता है ।३६। यदि कहें कि चरु में भी पिसाई सम्भव नहीं तो यह कथन नहीं मान सकते ।३७। पके भात को चरु कहते हैं, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं ।३८। एक-देवतापरक–भाग सम्बन्धी चरु में पेषण का निवेश है, परन्तु दो-देवतापरक-याग के चरु में नहीं ।३९। तथा दोनों के धर्मों का विरोध होने से भी देवता वाले चरु में पेषण का निवेश नहीं होता ।४०।

अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ।४१। लिङ्गदर्शनाच्च ।४२। वचनात्सर्वपेषणं, तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावाद्धि चरावपेषणं भवति ।४३। एकस्मिन्वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ।४४। हेतुमात्रमदन्तत्वम् ।४५। वचनं परम् ।४६।

दो देवता वाले चरु में भी पेषण-सम्बन्ध होना चाहिये। क्योंकि देवता उसमें निमित्त है ।४१। और लक्षण देखे जाने से भी यही सिद्ध होता है ।४२। पशु, पुरोडाश और चरु इन सब में पेषण मानने से, उसके प्रति वह वाक्य अर्थ वाला होता है। फल का अभाव

होने से यदि पशु-पुरोडाश उस पेषण को न मानें तो सौमापौष्ण चरु में भी वह नहीं होगा।४३। ऐन्द्राग्न के समान एक देवतापरक पौष्ण चरु में ही पेषण का निवेश है। दो देवतापरक दोनों में नहीं। क्योंकि, अर्थ धर्मत्व होने से उसका 'सौमापौष्ण' आदि में विधान नहीं।४४। उसमें 'अदन्तत्व' कथन देवता मात्र के शरीरहीन होने का कारण है।४५। यह विधि वाक्य है और विधि-वाक्य लक्षण नहीं होता।४६।

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात्। १। अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात्। २। विधिस्त्वपूर्वात्स्यात्। ३। स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात। ४। वाक्शेषत्वात्। ५। तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रलिषेधात्। ६। तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात्। ७। अर्थवादो वा प्रकरणात। ८। विधिना चैकवाक्यत्वात्। ९। दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात्। १०।

मनुष्य सम्बन्धी कर्म की प्रधानता होने से 'निवीत' उसी का अङ्ग माना गया है।१। निवीत पहिले से सिद्ध होने के कारण अनुवादक है, विधायक नहीं।२। निवीत रूप अर्थ के अपूर्व होने से, यह विधिवाक्य है।३। निवीत प्रकृत कर्म का अङ्ग है, क्योंकि उस प्रकरण में उसका पाठ है।४। वाक्य शेष में पठित 'आध्वर्यम्' समाख्या से अध्वर्यु कर्तृक प्रकृत कर्म के अङ्ग निवीत का विधान हुआ है।५। दर्शपर्णमास के प्रकरण में मनुष्य कर्म अङ्ग रूप निवीत का विधायक वह वाक्य है।६। वह वाक्य मनुष्य प्रधान कर्मों में निवीत रूप अङ्गों का विधायक है। उपवीत वाक्य के समान बोध वाला होने से

'मनुष्याणाम्' के अर्थ में घटित होता है ।७। वह वाक्य, प्रकरण में आने से अर्थवाद हैं ।८। उपवीत विधिवाक्य के साथ, वाक्य की एकवाक्यता प्राप्त होने से उस अर्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं ।९। निवीत के समान दिग्विभाग भी अर्थवाद है, वह दिग् सम्बन्ध अर्थ का हेतु है ।१०।

परुषि हितपूर्णघृतविदग्ध च तद्वत् ।११। अकर्म ऋतु-संयुक्त संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ।१२। विधिर्वा संयोगान्त-रात् ।१ । अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ।१४। प्रकरणविशे-षाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ।१५। व्यपदेशादपकृष्येत ।१७। प्रागपरोधान्मलवद्वाससः ।१८। अन्नप्रतिषेधाच्च ।१९। अप्रकरण तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ।२०।

और निवीत के समान परुषिहित पूर्ण, घृत और विदग्ध यह अर्थवाद ही हैं ।११। दर्शपूर्णमास में कहा गया अनृत निषेध, निषेध-वाक्यान्तर से विधान होने से नित्य प्राप्त का अनुवाद है ।१२। उद्देश्य भेद से निषेध-वाक्य विधि रूप है, अनुवादक नहीं ।१३। अहीन के समान जंभाई निमित्तक मन्त्र का उच्चारण भी पुरुष मात्र का धर्म है। क्योंकि उसका विधान उसी उद्देश्य से हैं ।१४। प्रकरण विशेष से व्रीहिप्रोक्षण के समान, याग सम्बन्धी पुरुष का मन्त्रोच्चारण सस्कार है ।१५। व्यपदेश से 'उपसद' होम का आकर्षक होता है ।१६। तथा शंयु के उपदेश में ब्राह्मण मात्र के लिए अवगोरण आदि का निषेध है ।१७। यज्ञारम्भ से पूर्व ही रजस्वला को यज्ञ भूमि के बाहर करके यज्ञ करने का विधान है तथा उससे सर्व प्रकार के सम्भाषण का भी निषेध है ।१८। तथा रजस्वला सम्बन्धी समागम का भी निशेध कहा है ।१९। यज्ञ में प्रकरण न होने पर भी सुवर्ण धारण आदि मनुष्य मात्र का धर्म है ।२०।

अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् ।२१। वेदसंयोगात् ।२२। द्रव्यसंयोगाच्च ।२३। स्याद्वाऽस्यसंयोगवत्फलेनः सम्बन्धरत-स्मात्कर्मैतिशायनः ।२४। शेषाः प्रकरणेऽविशेषात्सर्वकर्मणाम् ।२५। होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ।२६। शेषश्च समाख्यानात् ।२७। दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात्, शास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ।२८। अर्थवादो वाऽनुपपातत्तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत् ।२९। अचोदितं न कर्मभेदात् ।३०।

सुवर्ण आदि का धारण यज्ञ का शेष है, क्योंकि वह अद्रव्य है ।२१। उस वाक्य का यजुर्वेद से सम्बन्ध है ।२२। और उस वाक्य में आया 'हिरण्य' पद याग सम्बन्धी सुवर्ण का स्मारक है । इसलिए भी उपरोक्त कथन मान्य है ।२३। फल वाले कार्यों के समान सुवर्ण धारण का भी फल के साथ सम्बन्ध है । इसलिए वह प्रधान कर्म है, यह ऐतिशायन ऋषि का मत है ।२४। अप्रकरण वाले 'जय' आदि होम सब कर्मों के अंग हैं, क्योंकि उसमें समानता है ।२५। वैदिक कर्म और होम दोनों के ही अग्नि सम्बन्धी होने से 'जय' अदि होम वैदिक कर्मों में ही हैं ।२६। तथा 'आध्वर्यवम्' काण्ड में पठित होने से वैदिक कर्म का अङ्ग है ।२७। इष्टि का विधान सांसारिक अश्व प्रतिग्रह में भी होता है । क्योंकि, प्रतिग्रह में दोष है और वैदिक अश्व प्रति-ग्रह में शास्त्र सम्मत होने से दोष नहीं है ।२८। जलोदर रोग की निवृत्ति के लिये उक्त इष्ट का कहा जाना अर्थवाद है, क्योंकि अश्व प्रतिग्रह निर्दोष है । इसलिए जिस यज्ञ से अश्व दक्षिणा है, उसके अंग रूप से इष्टि का कर्तव्य होना समझना चाहिये ।२९। तथा प्रतिग्रह-दाता को इष्टि को विधान नहीं, प्रतिग्रह ग्रहण करने वाले को है । इस प्रकार दान और प्रतिग्रह में भेद है ।३०।

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ।३१। पानव्यापच्च तद्वत् ।३२। दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् ।३३। तत्सर्वत्राविशेषात् ।३४। स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ।३५। लिङ्‌ग्दर्शनाच्च ।३६। सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ।३७। निरवदानात्तु शेषः स्यात् ।३८। उपायो वा तदर्थत्वात् ।३९। कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्याद्द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ।४०।

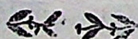
प्रमाण सिद्ध होने से उक्त इष्टि यजमान का ही कर्तव्य है ।३१। अश्वदान निमित्त वाली इष्टि के समान सोम-पान-वमन निमित्त वाली इष्टि भी करे ।३२। वैदिक सोमपान में वमन होने पर इष्टि करनी चाहिये, क्योंकि वमन का दोष कहा है। परन्तु लौकिक सोम पान वमन के लिए कराया जाने से वमन में दोष नहीं है ।३३। वह सोम वमन ऋत्विक्-यजमान दोनों को इष्टि करने में कारण है, क्योंकि दोनों में समानता पढ़ी गई है ।३४। (समाधान) कर्म फल का भोगने वाला होने से यजमान को ही इष्टि करनी चाहिये ।३५। लक्षण मिलने से भी यही अर्थ सिद्ध होता है ।३६। सम्पूर्ण हवि अग्नि के निमित्त होने से, उसका अग्नि में ही प्रक्षेप करे ।३७। (समाधान) होमादि के लिए कुछ पुरोडाश शेष रहता है। अँगूठे के पोरुवे के समान दो टुकड़े कृत्स्न पुरोडाश से काट कर यज्ञ करे ।३८। सब पुरोडाश होम के लिए होने से 'द्विर्हविषः' शब्द से होम विधि कही है। 'द्विरवदान' से केवल दो अवदान हवन करना उचित है ।३९। एक बार हवन करने से हवन विधि वाला वाक्य चरितार्थ होता है और शेष गुणभूत होने से वह पुरोडाश प्रयोजनीय नहीं रहता ।४०।

शेषदर्शनाच्च ।४१। अप्रयोजकत्वादेकस्मात्क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ।४२। संस्कृतत्वाच्च ।४२। सर्वेभ्यो वा

कारणाविशेषात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।४४। लिंगदर्शनाच्च ।४५। एकस्माच्चेद्याथाकाम्यमविशेषात् ।४६। मुख्याद्वा-पूर्वकालत्वात् ।४७। भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये ।४८। तत्संस्तवाच्च ।४९। भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ।५०। व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ।५१।

तथा शेष पुरोडाश के कार्यों का विधान भी मिलता है ।४१। एक हवि से 'स्विष्टकृत्' करे तीनों हवि से नहीं । शेष हवि के गुणभूत होने से वह हवि बार-बार प्रयोजनीय नहीं है ।४२। कर्म के एक बार हो जाने से भी प्रधान हवि संस्कृत होती है ।४३। यह कर्म सभी शेष आहुतियों से करने योग्य है । क्योंकि, कारण की समानता है और संस्कार हवि मात्र के निमित्त है ।४४। तथा ऐसे ही लक्षण देखे जाते हैं ।४५। (शङ्का) एक हवि पक्ष है तो स्वेच्छापूर्वक किसी एक हवि से उक्त कर्म का अवदान करना चाहिये । क्योंकि, उन तीनों हवियों में समानता है ।४६। (समाधान) अथवा इस हवि का ईश्वर के लिये अवदान होता है । इसलिए उसका प्रथम अवदान करे ।४७। दान विधायक वाक्य में भक्षण का नाम न होने से ऋत्विजों को चार विभाग करके देना, परिक्रय के लिये है ।४८। तथा पुरोडाश दान की दक्षिणा के लिए स्तुति से कर्म की सिद्धि होती है ।४९। (समाधान) पुरोडाश भक्षणार्थ ही है, परिक्रयार्थ नहीं । क्योंकि पुरोडाश में यजमान और ऋत्विज समान अधिकारी हैं ।५०। पुरोडाश दान की दक्षिणा रूप से स्तुति कहने मात्र से है ।५१।

॥ चतुर्थ पाद समाप्त ॥



पञ्चम पाद

आज्याच्च सर्वसंयोगात् ।१। कारणाच्च ।२। एकस्मिन्समवत्तशब्दात् ।३। आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ।४। अशेषत्वात्तु नैवं स्यात्सर्वादानादशेषता ।५। साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ।६। अक्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ।७। चमसदिति चेत् ।८। न चोदनाविरोधा द्धविः प्रकल्पनाच्च ।९। उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम् ।१०।

शेष आज्य से कर्म करे। क्योंकि, उक्त कर्म के लिये सब हवियों में अवदान का विधान है।१। तथा स्विष्टकृत् हवियों के संस्कार का कारण होने से भी उक्त मान्यता सिद्ध होती है।२। आदित्य चरु रूप हवि में 'समवद्यति' का प्रयोग मिलने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।३। और ध्रौव घृत से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म करे। क्योंकि अर्थवाद वाक्य उसका समर्थक है।४। स्विष्टकृत आदि में ध्रौव से अवदान सम्भव नहीं। क्योंकि, वह उपांशुयाज शेष नहीं। सर्व ग्रहणीय कृत का हवन होने पर उपांशुयाज के घृत का शेष नहीं रहता।५। उपांशुयाज के बाद बचा ध्रौव घृत उपांशुयाज का शेष माना जाता। क्योंकि वह सब कर्मों के समान है।६। जुहू का घी सब हवन के लिए अवदान किया गया है और उसका होना प्रधान होम के संयोग से है।७। (शङ्का) चमस में ग्रहण सोम के हवन के समान, जुहू द्वारा घृत से स्विष्टकृत् आदि कर्म करने चाहिये। ऐसा कहना ठीक नहीं।८। (समाधान) विधि वाक्य से विरोध होने के कारण उक्त कथन ठीक नहीं। तथा केवल हवि की कल्पना मिलने से हवन का संयोग नहीं बनता।९। प्रकरण में होने से, शेष रहने पर वाक्य प्रवृत्ति से सब ,वि से होम करना कहा है।१०।

जातिविशेषात्परम् ।११। अन्त्यमरेकार्थे ।१२। साकम्प्रस्थाय्ये स्विष्टकृदिश्च तद्वत् ।१३। सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ।१४। तद्वच्च शेषवचनम् ।१५। द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ।१६। अविभागाच्च शेषस्य सर्वान्प्रत्यवशिष्टत्वात् ।१७। ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ।१८। सोमेऽवचनाद् भक्षो न विद्यते ।१९। स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात् ।२०।

'प्रायणीय' इष्टि में आदित्य चरु के पास 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग मिलता है, वह भात और घृत सम्बन्धी जाति के अभिप्राय वाला है ।११। ध्रौव घृत से प्रत्यभिधारण कहा है, वह ध्रुवापात्र के रिक्त न होने से है ।१२। उपांशुयाज के समान साकंप्रस्थानीय संज्ञा वाले यज्ञ में, स्विष्टकृत् और इडा अवदान कर्म नहीं होता ।१३। तथा सौत्रामणि यज्ञ में ग्रहों से भी हवन का विधान किया है । इसलिये पूर्वोक्त कर्म कर्तव्य नहीं ।१४। तथा ग्रहों से होम का विधायक वाक्य शेष 'साकंप्रस्थानीय' के समान स्विष्टकृत् आदि अकर्त्तव्यता सूचक हैं ।१५। द्रव्य के एकत्व से भी प्रधान कर्म का भेद होने से प्रत्येक प्रधान कर्म के प्रति स्विष्टकृत् आदि कर्म करे । ६। हवि त्याग के बाद बची हुई शेष हवि और उससे पहिले हवि में परस्पर भेद नहीं है। क्योंकि पुरोडाश हवि सब प्रधान कर्मों में समान ही है ।१७। ऐन्द्रवायव संज्ञा वाले पात्र में प्रत्येक कर्म के प्रति भक्षण होना चाहिये । क्योंकि वाक्य विशेष से ऐसा ही होता है ।१८। ज्योतिष्टोम में शेष सोम भक्षण का विधान नहीं । क्योंकि उसका विधायक वाक्य नहीं मिलता ।१९। शेष सोमों का भक्षण होने में अन्य वस्तु ही विधान मिलता है ।२०।

वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः ।२१। चमसेषु समाख्यानात्सयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ।२२। उद्गातृवमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ।२३। सर्वे वा सर्वसंयोगात् । २४। स्तोत्र-कारिणां वा तत्संयोगाद्बहुश्रतेः २५। सर्वे तु वेदसंयोगात्का-रणादेकदेशे स्यात् ।२६। ग्रावस्तुतो भक्षां न विद्यतेऽनाम्ना-नात् ।२७। हारियोजने वा सर्वसंयोत् ।२८। चमसिनां वा सन्निधानात् ।२९। सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्थां चमसि-श्रुतिः ।३०।

अपूर्व अर्थ का प्रतिपादक होने से 'सर्वतः परिहारम्' वाक्य भ्रमण आदि विशिष्ट भक्षण का विधायक है। इसलिये जहाँ विशिष्ट भक्षण सुनते हैं, वहीं भक्षण का विधान समझना चाहिये ।२१। चमस में समाख्या के आधार पर शेष सोम को भव्य कहा है। क्योंकि समाख्या सम्बन्ध भक्षण के लिये है ।२२। उद्गातृचमस नामक पात्र में शेष सोम का एक उद्गाता ही भक्षण करे क्योंकि श्रुति में चमस से उद्गातृ का संयोग है ।२३। (समाधान) पात्र में सब ऋत्विजों द्वारा शेष सोम का भक्षण करना उचित है। सर्वत्राचक बहु वचन करा उस पात्र से सम्बन्ध है ।२४। उस पात्र में उद्गाता, प्रस्तोता और प्रतिहर्ता को भक्षण करना चाहिये। क्योंकि, उसके सयोग से बहु वचन का प्रयोग है ।२५। चारों का सामवेद से सम्बन्ध होने के कारण उक्त तीनों ऋत्विक् और सुब्रह्मण्य इन चारों को खाना चाहिये और उद्गाता में जो उद्गातृ शब्द है वह 'उद्गीथ' गान के लिए है ।२६। 'ग्रावस्तुत्' संज्ञा वाले ऋत्विक् का हारियोजन नामक पात्र में अवशिष्ट सोम का भक्षण करना उचित नहीं है। क्योंकि, वैसा विधान नहीं मिलता ।२७। (समाधान) हारियोजन पात्र में ग्रावस्तुत को भी शेष सोम भक्षण का अधिकार है। क्योंकि, उक्त पात्र के सोम का

भक्षण करने में उसका भी सम्बन्ध कहा गया है।२८। सन्निधान होने से चमसियों का ग्रहण है।२९। सर्व शब्द से चमसी, अचमसी ऋत्विजों का ग्रहण है। क्योंकि, हरियोजन पात्र में सर्व भक्षण का विधान है और चमसियों के ग्रहण वाला वाक्य पात्र की प्रशंसा के लिये हैं।३०।

वषट्काराच्च भक्षयेत् ।३१। होमाऽभिषवाभ्यां च ।३२। प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ।३३। स्याद्वा कारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्वचनत्वात् ।३४। चमसे चान्यदर्शनात् ।३५। एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ।३६। होता वा मन्त्रवर्णात् ।३७। वचनाच्च ।३८। कारणानुपूर्व्याच्च ।३९। वचनादनुज्ञातभक्षणम् ।४०।

तथा वषट्कार होने से वषट्कार-कर्त्ता को शेष सोम का पहिले भक्षण करना चाहिये।३१। तथा होम और अभिषव का प्रयोग सोम भक्षण के निमित्त ही समझना चाहिये।३२। चमसियों चमस भक्षण में निमित्त हैं तथा 'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः, वाक्य चमस से अलग ग्रहों के भक्षण में है।३३। (समाधान) वषट्कार आदि भी चमस भक्षण के निमित्त हैं, क्योंकि, वे कारण रूप हैं और चमसियों का चमस भक्षण में निमित्त होने सम्बन्धी कथन के न मिलने से 'यथा चमसम्' वाक्य जैसा विधान करने वाला है।३४। चमस-अध्वर्यु द्वारा चमसों की प्राप्ति देखे जाने से वषट्कर्त्ता आदि को भी चमस में सोम भक्षण मिलता है।३५। एक ही पात्र में भक्षण का विधान होने से अध्वर्यु को प्रथम भक्षण करना चाहिये। ऐसा ही क्रम मिलता है।३६। मन्त्रवर्णों में होने से होता को पूर्व भक्षण करना चाहिये।३७। वाक्य विशेष से भी इसका समर्थन होता है।३८। और कारण क्रम से भी यही मान्यता उचित प्रतीत होती है।३९। वाक्य द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि अनुज्ञापूर्वक ही सोम-भक्षण करे।४०।

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिंगात् । ४१ । तत्रार्थात्प्रतिवचनम् । ४२ । तदेकपात्राणां समवायात् । ४३ याज्यापनयेनापनोतो भक्षः प्रवरवत् । ४४ । यष्टुर्वा कारणागमात् । ४५ । प्रवृत्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ४६ । फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् । ४७ । इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् । ४८ । होमात् । ४९ । चमसैश्च तुल्यकालत्वात् । ५० । लिङ्गदर्शनाच्च । ५१ । अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् । ५२ । ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् । ५३ ।

उस सोम भक्षण का 'उपहूत उपह्वयस्य' मन्त्र से अनुज्ञापन करे । क्योंकि, मन्त्र में अनज्ञापन शक्ति होने के लक्षण मिलते हैं ।४१। वेद मन्त्र ही उसका उत्तर देना है ।४२। समवाय-सम्बन्ध होने से सोम-भक्षण का अनुज्ञापन एक पात्र में होता है ।४३। वरण के समान याज्या का अपनयन होता है, भक्षण का नहीं । ४४ । अथवा यजमान को सोम भक्षण होना उचीत है । ४५ । प्रवृत्ति होने से होता के वरणी होने का अपनय विधान नहीं । ४६ । श्रुति संयोग से जाना जाता हैं कि क्षत्रिय और वैश्य के लिए बनाया गया फल चमस भक्षण के योग्य है । ४७ । फल चमस का संस्कार याग के लिये होने से, वह उसी के निमित्त है । ४८ । होम का कथन होने यगार्थ है । ४९ । चमसों से फल चमस उठाने की समान विधि से भी ऐसा ही मानना चहिये । ५० । लक्षण पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है । ५१ । (समाधान) यजमान चमस का प्रति भक्षण दश क्षत्रियों द्वारा होने से यजमान के लिये एक जातित्व कथन है । ५२ । केवल ब्राह्मण शब्द से उपन्यास होने के कारण यजमान चमस के लिये अनुप्रसर्पणकर्त्ता क्षत्रिय नहीं, ब्राह्मण होना चाहिये ।५३।

।। पञ्चम पाद समाप्त ।।

षष्ठ पाद

सर्वार्थमप्रकरणात् । १ । प्रकृतौ वाऽद्विरूक्तत्वात् । २ । तद्वर्जं तु वचनप्राप्ते । ३ । दर्शनादिति चेत् । ५ । उत्पत्तिरिति चेत् । ६ । न तुल्यत्वात् । ७ । चोदनार्थं कात्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः । ८ । प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् । ६ । नैमित्तिकं तु, प्रकृतौ तद्विकारः, संयोगविशेषात् ।१०।

प्रकृति और विकृति दो यागों में स्रुवादि का विधान हैं, इसलिये, खैर-काष्ठ के यज्ञीय पात्र बनाने चाहिये । परन्तु, किसी पाठ में इसका वर्णन नहीं हुआ ।१। (समाधान) दर्शपूर्णमास यागों में ही उनका सम्बन्ध होता है । ऐसा करने से विरुक्ति प्राप्त नहीं होती ।२। (पूर्व पक्ष) अप्रकरण पठित के अतिरिक्त, विधिवत् प्रकृति याग में होने से प्रेरक वाक्य की प्रवृत्ति है ।३। यदि कहें कि प्रकृति के धर्म देखे जाने से प्रेरक वाक्य में प्रवृत्ति सिद्ध होती है ।४। (समाधान) प्रकृति और विकृति दोनों यागों में समान विधि होने से उक्त कथन ठीक नहीं ।५। (शंका) यदि कहें कि विधि वाक्य द्वारा सब धर्मों का स्वाभाविक सम्बन्ध प्रकृति याग से ही हैं, विकृति याग से नहीं ।६। (पूर्वपक्ष द्वारा समाधान) खदिरत्व धर्म प्रकृति और विकृति दोनों यागों में समान होने से उक्त कथन निरर्थक है ।७। (उत्तार पक्ष) प्रकृति याग के लिते विधान है, विकृति याग के लिये नहीं । क्योंकि, प्रेरक वाक्य से सर्व धर्म-सम्बन्ध है और मुख्य विप्रतिषेध से दोनों का धिधान करते हैं, इसमें दोष है ।८। सामिधेनियों की पन्द्रह सख्या की प्रतिद्वन्दी सत्तरह संख्या विकृत यज्ञ में विहित है, प्रकरण विशेष से पन्द्रह संख्या आती है ।६। वैश्य के निमित्त विहित सत्तरह सामिधेनियों के प्रकृति याग में होने से, वाक्य विशेष से पूर्व विहित पन्द्रह सामिधेनियाँ बाधक हैं ।१०।

इष्टचर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ।११। न वा तासां तदर्थत्वात् ।१२। लिङ्गदर्शनाच्च ।१३। तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः ।१४। सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ।१५। तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात् ।१६। न वा तासां तदर्थत्वात् ।१७। तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ।१८। स्थानाच्च पूर्वस्य ।१९। श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्थं ।२०।

प्रकरण में विधान होने से अग्न्याधान पवमान आदि इष्टियों का अङ्ग मानना चाहिये ।११। (समाधान) ये इष्टियाँ आहवनीय आदि अग्नियों के संस्कारार्थ होने से, उक्त कथन ठीक नहीं है ।१२। लक्षण देखे जाने से भी यही सिद्ध होता है ।१३। (पूर्व पक्ष) अप्रकरण पठित वाक्य आदि के धर्म प्रकृति याग के लिये हैं, वैसे ही अग्नि का आधान भी प्रकृति याग के लिये है ।१४। (उत्तर पक्ष) आधान का समय नियत होने से यह सिद्ध होता है कि अग्नि का आधान प्रकृति और विकृति दोनों के लिये है ।१५। जैसे प्रयाज होम दर्शपूर्णमास याग से आहवनीय आदि अग्नि में होते हैं, वैसे ही पवमान इष्टियाँ उस अग्नि में होती हैं ।१६। (समाधान) पवमान इष्टियाँ अग्नि संस्कारार्थ हैं, अतः पूर्वोक्त कथन प्रमणित नही होता ।१७। प्रकरण की विशेषता से पशु-उद्देश्य वाली विधियाँ सब अग्नीषोमीय पशुओं के समान हैं ।१८। (पूर्व पक्ष उसकी सन्निधि में पाठ होने से वे धर्म अग्निषोमीय के होने सिद्ध होते हैं ।१९। (तृतीय पूर्व पक्ष) सवनीय पशु के वे धर्म हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध शाखान्तर में मिलता है । उनका सौत्य दिवस से पहिले औपवसथ्य दिवस में सुना जाना गौण है ।२०।

तेनोत्कृष्टस्य कालवधिरिति चेत् ।२१। नैकदेशत्वात् ।२२। अर्थेनेति चेत ।२३। न श्रुतिविप्रतिपेधात् ।२४।

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।२५। लिङ्गदर्शनाच्च ।२३। अचोदना गुणार्थेन ।२७। दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ।२८। प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्राम् ।२९। तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ।३०।

(शङ्का) यदि कहें कि आश्विन वाक्य में उत्तर कृत्य सवनीय पशु का अनुष्ठान विहित है ? ।२। (समाधान) एक देशीय विधान से समुदाय को विहित बताने के कारण उक्त कथन ठीक नहीं ।२२। (शङ्का) यदि कहें कि अर्थ से सभी ग्रहण है ।२३। (समाधान) ऐसा मानने से श्रुति से विरोध होगा, इसलिये नहीं मान सकते ।२४। (समाधान) वे धर्म अग्निषोम वाले पशु के हैं, इसमें सन्निधि रूप प्रमाण है और संस्कार मात्र का उक्त हेतु में होने से यह मान्यता ठीक है ।२५। ऐसे ही लक्षण देखे जाते हैं ।२६। अर्थवादी होने से दोनों वाक्य प्रेरक नहीं है ।२७। (शङ्का) दर्श पौर्णमास याग में सुने शाखाहरण आदि दोनों समय दूध दुहने के धर्म नहीं है। क्योंकि उनमें काल भेद है ।२८। (समाधान) दूध दोहन का विधायक शास्त्र प्रातः सायं दोनों समय का विधान करता है और प्रकरण से भी दोनों का सम्बन्ध पाया जाता है ।२९। दूध दोहन धर्म के समान ही ग्रह के धर्म का अनुष्ठान प्रातः सवन के पश्चात् होता है ।३०।

रशना च लिङ्गदर्शनात ।३१। आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात् ।३२। संयुक्तं वा वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ।३३। निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत ।३४। अग्यङ्गमप्रकारणे तद्वत् ।३५ नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमान विधानं स्यात् ।३६। प्रतिनिधिश्च तद्वत् ।३७ । न तद्वत् प्रतोजनैकत्वात् अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ।३९। नियमार्थं गुणश्रुतिः ।४०

तथा रशनावेष्टन आदि भी अग्निषोम आदि पशु-धर्म होने के लक्षण देखे जाते हैं ।३१। अप्रकरण होने से दोनों पात्रों का ऐन्द्रवायवादि ग्रह धर्मों से असंयोग है । क्योंकि, उसके समीप ग्रह धर्मों का विधान नहीं पाया जाता ।३२। (समाधान) ग्रह मात्र के लिये विहित होने से सम्मार्जन आदि धर्मों का दोनों ग्रहों से सम्बन्ध होता है । सहधर्मों का विधान ग्रह मात्र के लिये करना चाहिये ।३३। विहित वाक्यों से ग्रह मात्र से उक्त धर्मों के संयोग की व्यवस्था होती है ।३४। 'अंशु' और अदाभ्य' के सम्मार्जनादि धर्म के समान अग्नि चयन प्रकरण में पठित अखण्डत्व आदि धर्म अप्रकरण पठित इष्टिकाओं के भी हैं ।३५। सोम के समान न होने से फल चमस में सोमाभिषव आदि धर्मों का विधान नहीं है ।३६। जैसे निर्मात्रिक फल चमस अभिषव धर्म वाला नहीं होता, वैसे ही नीवार आदि भी प्रोक्षण धर्म वाला नहीं हो सकता ।३७। (समाधान) व्रीहि आदि के समान नीवार आदि के धर्म होते हैं और दोनों का याग-सिद्ध होना समान रूप से मिलता है ।३८। तथा अर्थापत्ति प्रमाण से भी उक्त अर्थ होता है ।३९। प्रतिनिधि की विधायक श्रुतियाँ उक्त नियम के लिये हैं ।४०।

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् । ४१ । व्यपदेशश्च तुल्यवत् । ४२ । विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् । ४३ । अपि वा द्विरुक्तत्वात्प्रकृतेर्भविष्यन्तीति । ४४ । वचनात्तु समुच्चयः । ४५ । प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् । ४६ । गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ४७ ।

दीक्षणीय आदि इष्टियाँ सात यज्ञों की अङ्ग हैं । क्योंकि, सबका प्रकरण समान मिलता है ।४१। तथा सभी उक्त यज्ञीय प्रकरण में समान रूप से कथन है ।४२। उक्थ्यादि अग्निष्टोम के विकार हैं ।

क्योंकि, पशु आदि की कामना के सम्बन्ध से विधान मिलता है। इसलिये अग्निष्टोम के समान होने पर भी उनमें अङ्ग रूप से विधान नहीं हो सकता ।४३। (समाधान) अथवा द्विरुक्ति होने से उक्त इष्टियाँ ज्योतिष्टोम की अङ्ग होंगी ।४४। 'यद्यग्निष्टोम' आदि वचनों से अग्निष्टोम और उक्थ्य आदि का सङ्कलन पाया जाता है ।४५। तथा पूर्व हवनों का उक्थ्य का आदि में निषेध होने से भी उस अर्थ की सिद्धि नहीं होती ।४६। गुण की विशेषता से सात संस्थाओं द्वारा एक ही ज्योतिष्टोम का वर्णन हुआ है ।४७।

॥ षष्ठ पाद समाप्त ॥

सप्तम पाद

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ।१॥ सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ।२। आरादपीति केत् ।३। न तद्वाक्य हि तदर्थत्वात् ।४। लिङ्गदर्शनाच्च ।५। फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ।६। चिकीर्षया च संयोगात् ।७। तथाऽभिधानेन ।८। तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकोर्षा स्यात् ।९। गुणाऽभिधानात्सर्वाथमभिधानम् ।१०।

वेदि आदि धर्म प्रधान यज्ञ के हैं, अङ्गों के नहीं। प्रकरण की विशेषता से यही सिद्ध होता है ।१। (समाधान) वेदि का खनन आदि प्रधान तथा अङ्ग के धर्म हैं। क्योंकि धर्म-धर्मी भाव का वाक्य से नियम है, प्रकरण न नहीं ।२। (शङ्का) यदि कहें कि प्रधान यज्ञ के साथ पढ़ा जाता है, इसलिए वेदि 'पिण्डपितृयाग' के भी होने चाहिये ?।३। (समाधान) वे वाक्य प्रधान और अङ्ग दोनों के लिये ही वेदि आदि के विधायक हैं, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं ।४। इसी प्रकार के लक्षण देखे जाते हैं ।५। यजमान से सम्बन्धित संस्कार

प्रधान यज्ञ के अङ्ग हैं, क्योंकि, संस्कारों का सम्बन्ध फल से होता है ।६। और 'सौमिकी' संज्ञा वाली वेदि प्रधान कर्म की अङ्ग है, क्योंकि, इच्छाओं द्वारा उसका उसी से सम्बन्ध होना माना जाता है ।७। (पूर्व पक्ष) 'सौमिकी' के प्रधान कर्म की अङ्ग होने के समान 'अभिमर्शन' भी प्रधान आहुति का अङ्ग है । उसका ऐसा ही वर्णन मिलता है ।८। (समाधान) अङ्गयुक्त प्रधान में फल श्रवण मिलता है । इसलिये, अंग और प्रधान दोनों की इच्छा है ।९। अभिमर्शन का विधान अंग और प्रधान दोनों के लिये है । इनमें पौर्णमासी और अमावस्या पद से काल कहा गया है, आहुति नहीं कही गयी ।१०।

दीक्षादक्षिणं तु वचनात्प्रधानस्य । ११ । निवृत्तिदर्शनाच्च । १२ । तथा यूपस्य वेदिः । १३ । देशमात्रं वाऽशिष्टेनेकवाक्यत्वात् ।१४। सासिधेनीस्तदन्वाहूरिति हविर्धानयोर्वचनात्सामिधेनोनाम् । १५ देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्मसोमस्य । १६ । समाख्यानं च तद्वत् ।१७। शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् । १८ । उत्सर्गे तु प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् । १९ । अन्यो वा स्यात्परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधात्प्रत्यगात्मनि । २० ॥

दीक्षा और दक्षिणा प्रधान कर्म के अंग हैं । ऐसा वचन पाया जाता है ।११। तथा निरूढ़ पशुबन्ध संज्ञा वाले यज्ञ में दीक्षा के निवृत्त होने से यही मानना ठीक है ।१२। (पूर्व पक्ष) जैसे दीक्षा और दक्षिणा प्रधान कर्म के अंग कहे गये हैं वैसे ही वेदि को भी यूप का अंग समझना चाहिये ।१३। (समाधान) अर्द्ध यन्त्र वेदि शब्द को देश मात्र का उपलक्षण समझना चाहिये । क्योंकि, अर्द्धवहिर्वेदि के साथ वही वाक्य प्रयुक्त हुआ है ।१४। सोम कूटा जाने वाला शकट सामिधेनियों का अंग है, ऐसे वचन मिलते हैं ।१५। (समाधान)

ज्योतिष्टोम याग का अंग कहा जाने से वह शकट अपने से सम्बन्धित देश–विशेश का उपलक्षण मात्र है। १६ । तथा शकट संज्ञक देश विशेष के उपलक्षणके समान हविर्धान को ज्योतिष्टोम का अग कहना भी सार्थक है। १७। अग्निहोत्रादि कर्मों का फल अनुष्ठान करने वाले को मिलता है। क्योंकि शास्त्र में उनका उसी के लिये विधान किया गया है। इसलिये, उन अग्नि होत्रादि का स्वयं अनुष्टान करना चहिये । १८ । (पू० प०) यजमान का मुख्यत्व दक्षिणा में अपेक्षित है, सर्वत्र नहीं। इसलिये दक्षिणा को छोड़ कर सभी अंगों का अनुष्ठाना यजमान से भिन्न ऋत्विज या स्वयं ही होता है । १९। (समाधान) यजमान के सिवाय ऋत्विज भी शेष अंग कर्मों के अनुष्ठाता हैं। उन कर्मों के अनुष्ठान के लिए ऋत्विजों का परिक्रय कहा है। वह परिक्रय स्वयं में विरोधी होने से नहीं होता। २०।

तत्राथांत्कतृ परिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात, । २१। अपि वा श्रुतिभेदात्प्रतिनामधेयं स्युः। २२। एकस्य । कर्मभेदा-दिति चेत् । २३। नोत्पत्तौ हि । २४। चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्य पदेशात् । २५। उत्पत्ती तु बहुश्रुतेः । २६। दशत्वं लिङ्गग-दर्शनात् । २७। शमिता च शब्दभेदात् । २८। प्रकरणाद्वो-त्पत्त्यसंयोगात् । २। उपगाश्च लिङ्गदशनात् । ३० ।

ऋत्विज् कितने हों, इसका नियम नहीं है क्योंकि, उनका विधायक वाक्य नहीं मिलता। इसलिए अंग कर्मों के अनुष्ठान में उनकी सख्या अर्थानुसार होती है । २१। (समाधान) प्रत्येक कर्म के अनुमार ज्योतिष्टोम में सत्तरह ऋत्विज होते हैं। श्रुति में उनके अलग अलग नाम कहे गए हैं। २२। (शंका) यदि कहें कि क्रिया भेद से एक ही ऋत्विक् के अध्वर्यु आदि अनेक नाम हैं? ।२३। (समाधान) वरण का विधान करने वाले वाक्य में सत्तरह ऋत्विजों का ही वरण

करना कहा है ।२४। चमस अध्वर्यु आदि उन सत्तरह ऋत्विजों से भिन्न हैं, क्योंकि उनके पृथक् वरण का विधान मिलता है ।२५। (पू० प०) वरण वाक्य में बहुवचन से कहे जाने के कारण चमस अध्वर्यु अनेक समझने चाहिये ।२६। (समाधान) चमस अध्वर्यु दश हैं, क्योंकि लक्षणों से ऐसा ही सिद्ध है ।२७। (शङ्का) अध्वर्यु आदि सत्तरह ऋत्विजो से शमिता भिन्न है, क्योंकि उनमें नाम का भेद होना सिद्ध है ।२८। (समाधान) प्रकरण से जाना जाता है कि 'शमिता' भिन्न नहीं है । क्योंकि उसके भिन्न वरण सम्बन्धी वाक्य नहीं मिलता ।२९। तथा उपगाता भी अध्वर्यु आदि में ही है, क्योंकि, लक्षण प्रमाण से ऐसा ही जाना जाता है ।३०।

विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ।३१। कर्मकार्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ।६२। न वा परिसङ्ख्यानात् ।३३। पक्षेणेति चेत् ।३४। न सर्वेषामधिकारः ।३५। नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ।३६। उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ।३७। स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ।३८। ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ।३९। तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात्, संयोगस्यार्थवत्त्वात् ।४०।

सोम विक्रय करने वाला ऋत्विजों से भिन्न होता है । क्योंकि सोम विक्रेता के लिए विश्वास नहीं है ।३१। यज्ञ में भाग लेने वाले सभी कार्यकर्त्ता ऋत्विक हैं । क्योंकि, वे सभी विहित कर्मों को समान रूप से करते हैं ।३२। (समाधान) ऋत्विजों की संख्या सत्तरह ही बताई जाती है, इसलिए उक्त कथन ठीक नहीं ।२३। (शङ्का) यदि कहें कि उस वाक्य में सत्तरह का ग्रहण एक देशीय प्रयोजन के लिए है ? ।३४। (समाधान) सबका अधिकार न कहा होने से उक्त कथन ठीक नहीं है ।३५। दक्षिणा वाक्य से सिद्ध होता है कि

सत्तारह ऋत्विजों अध्वर्यु आदि के अतिरिक्त कोई नहीं है। क्योंकि दक्षिणा वाक्य में उनके नामों का संकेत है ।३६। तथा सत्र में सब ऋत्विजों को यजमान कह कर फिर अध्वर्यु आदि की दीक्षा का विधान किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है ।३७। अध्वर्यु आदि में सत्तरहवाँ यजमान भी ऋत्विज ही कहा गया है, क्योंकि उसका भी कर्म समान है ।३८। अध्वर्यु आदि को यज्ञ सम्बन्धी सब कर्मों के करने का अधिकार है, क्योंकि वे प्रत्येक कार्य के लिए नियुक्त होते हैं और वे किसी भी अग्नि में कार्य कर सकते है ।३६। (समाधान) किस ऋत्विज को क्या कर्म करना है, इसकी व्यवस्था है। क्योंकि, उसके साथ 'आध्वर्यवम्' आदि समाख्या का सार्थक संयोग मिलता है ।४०।

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ।४१। यद्वच्च लिङ्ग-दर्शनम् ।४२। प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ।४३। पुरोऽनुवाक्यधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ।४४। प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ।४५। चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ।४६। अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ।४७। चमसे चान्यदर्शनात् ।४८। अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ।४६। वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथापदेशं स्युः ।५०। तद्गुणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात्सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ।५१।

कहीं-कहीं विशेष वचन द्वारा उस-उस कर्म के करने का नियम मिलता है ।४१। तथा पहिले के समान लक्षण मिलने से भी यह सिद्ध होता है ।४२ सभी प्रैष एवं अनुवचन मैत्रावरुण के लिए कर्तव्य हैं, ऐसा उपदेश मिलता है ।४३। (समाधान) मैत्रावरुण का अधिकार प्रैष सहित अनुवचन में है सब में ऐसा विधान नहीं मिलता ।४४। अनुवचन रूप प्रातः पठति अनुवाक् में होता का सन्बन्ध देखा जाने से सिद्ध होता है कि चमसहोम चमसाध्वर्यु का कर्तव्य है ? ।४६।

(समाधान) न्याय से सिद्ध होता है कि चमस होम का कर्त्ता अध्वर्यु ही है ।४७। तथा चमस होम में अन्य का सम्बन्ध देखा जाने से भी यह मान्यता ठीक समझनी चाहिये ।४८। यदि अध्वर्यु होम करने में समर्थ न हो तो चमसाध्वर्यु को होम का अधिकार मिलता है ।४९। पूर्व अधिकरण के समान चमस होमकर्त्ता अध्वर्यु ही कहा जाता है, वैसे ही विभिन्न कर्मों का विधि के अनुसार अनुष्ठान करना चाहिये ।५०। अथवा अपने सामर्थ्य के अनुसार अङ्गों सहित वेद का ग्रहण होने से स्वधर्म निर्णय होता है । व्याकरणादि अंगों के बिना, धर्म का निश्चय होना सम्भव नहीं है ।५१।

॥ सप्तम पाद समाप्त ॥

अष्टम पाद

स्वामिकर्मस्परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ।१। वचनादितरेषां स्यात् ।२। सस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद्व्य तिष्ठेरन् ।३। याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ।४। व्यपदेशाच्च ।५। गुणत्वेन तस्य निर्देशः ।६। चोदनां प्रतिभावाच्च ।७। अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ।८। तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ।९। वाक्यशेषश्च तद्वत् ।१०।

यजमान के निमित्त यज्ञ होता है। इसलिये यजमान को ऋत्विजों का वरण करना चाहिये ।१। यजमान के कहने से अध्वर्यु आदि के द्वारा भी उनका वरण किया जा सकता है ।२। अनुष्ठान के अनुकूल 'वपन' आदि संस्कारों की, आध्वर्यवादि कर्म के समान ही वेदानुकूल व्यवस्था करे ।३। समाधान) जैसे यजमान का प्रधान कर्म होने से कर्म को 'यजमान' कहते हैं, वैसे ही केश, वपन आदि संस्कार भी उसी के हैं। क्योंकि फल का भोगने वाला होने से वही

प्रधान है।४। यथा क्षौर कर्म सम्बन्धी तैल मर्दन, स्नानादि से भी उक्त कथन सिद्ध होता है।५। यजमान का धर्म होने से ही वपन आदि की क्रिया उचित मानी जा सकती है।६। जिसके लिये विधान हो उसके लिए संस्कार कर्म का सद्भाव होने से उक्त कथन ठीक बनता हैं।७। वपन आदि संस्कार केवल यजमान के लिए है, इसलिए उसे यजमान और अध्वर्यु दोनों को समान रूप से मानना ठीक नहीं है।८। तप भी फल सिद्धि का कारण होता है, इसलिये वपन आदि के समान तप भी यजमान का कर्म है।९। तथा लोक में देखा जाने के समान ही वाक्य शेष भी उक्त अर्थ को सिद्ध करता है।१०।

वचनादितरेषां स्यात्।११। गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्।१२। तथा कामोऽर्थसंयोगात्।१३। व्यपदेशादितरेषां स्यात्।१४। मन्त्रश्चाऽकर्मकरणास्तद्वत्।१५। विप्रयोगे च दर्शनात्।१६। द्व्याम्नातेषूभौ द्वयाम्नानस्याऽर्थवत्त्वात्।१७। ज्ञाते च वाचनं, न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति।१८। याजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं स्युः।१९। अध्वर्युर्वा तदर्थो हि, न्यायपूर्वं समाख्यानम्।२०।

वाक्य-विशेष से ऋत्विजों का कर्म भी तप माना गया है।११। तथा वेद द्वारा तप कर्म आदि की व्यवस्था नहीं। क्योंकि वह कर्म सबका नहीं, गौण है।१२। जैसे तप यजमान का कर्म है, वैसे ही फल की इच्छा भी यजमान ही करे, क्योंकि फल का योग उसी के लिए है।१३। ऋत्विज् भी उक्त कामना करते हैं, यह वाक्य से सिद्ध होता है।१४। जिन मन्त्रों में आहुति आदि क्रियात्मक नहीं, यजमान अपनी कामना का फल पाने के लिए उसका पाठ करे।१५। और अन्य देश में प्रवास करने पर भी प्रार्थना का विधान मिलने से उक्त कथन पुष्ट होता है।१६। जिन मन्त्रों का दो बार पाठ किया जाता

हो, उदका पाठ भी यजमान और अध्वर्यु दोनों को करना चाहिये। क्योंकि इनके दो बार पाठ से सार्थकता होती है।१७। मन्त्रार्थ का जानने वाला यजमान ही यज्ञ में पठनीय मन्त्र पढ़े। क्योंकि, मन्त्रार्थ का न जानने वाला यजमान इसके योग्य नहीं होता।१८। द्वन्द्व संज्ञक बारहों कर्म यजमान करे। क्योंकि यजमान सम्बन्धी प्रकरण में उनका कथन मिलता है।१९। (समाधान) अध्वर्यु को द्वादश कर्म कर्तव्य हैं। क्योंकि, उनका अध्वर्यु के लिए उपक्रम किया गया है। यजमान काण्ड में उनका कहा जाना उचित ही है।२०।

विप्रतिषेधे करणः, समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां, यता विशेषः स्यात्।२१। प्रैषेषु च पराधिकारात्।२२। अध्वर्युस्तु दर्शनात्।२३। गौणो वा कर्मसामान्यात्।२४। ऋत्विकफलं करणेष्वर्थवत्वात्।२५। स्वामिनो वा तदर्थत्वात्।२६। लिङ्गदर्शनाच्च।२७। कर्मार्थं तु फलं, तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात्।२८। व्यपदेशाच्च।२९। द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाऽविशेषात् सर्वकर्मणाम्।३०।

विरोध होने पर होता उन कर्मों को करे या अध्वर्यु द्वारा अनुष्ठित कर्म होता करे। क्योंकि, उसका उसी से सम्बन्ध है। अन्य कर्म मैत्रावरुण संज्ञक ऋत्विज् का कर्तव्य है। क्योंकि उसमें होता की समीपता का विशेष योग कहा गया है।२१। प्रैषकर्त्ता और प्रैषणकर्त्ता में भेद है। क्योंकि उसका विधान अलग से है।२२। उस प्रैष का करने वाला अध्वर्यु है, क्योंकि ऐसा भेद देखा जाता है।२३। (समाधान) अध्वर्यु में कर्म पाया जाने से, उस वाक्य में अध्वर्यु शब्द गौण समझना चाहिये।२४। अध्वर्यु ऋत्विज् के लिए फल की प्रार्थना करे, यह उचित ही है, यही सार्थक माना गया है।२५। (समाधान) यजमान के लिए यज्ञ होने से, यजमान ही उसका भोक्ता

है। इसलिए यज्ञ के फल की प्राथना भी यजमान के लिये होती है ।२६। इसी प्रकार के लक्षण देखे जाते हैं ।२७। 'करण' मन्त्र में ऋत्विजों ने अपने लिये फल की प्रार्थना की है, यह यजमान के कर्म की वृद्धि के लिए है। उस वृद्धि में यजमान का फल निहित है ।२८। तथा अध्वर्यु और यजमान दोनों में फल को समान रूप से प्रार्थना भी पाई जाती है ।२९। द्रव्यों के संस्कार रूप धर्म सब कर्मों के निमित्त है। क्योंकि प्रकरण से उनका अविशेष सम्बन्ध देखा जाता है ।३०।

निर्देशात्तु विकृतापूर्वस्याऽनाधकारः ।३१। विरोधे च श्रुति विशेषादव्यक्तः शेषे ।३२। अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमान-संयोगात् ।३६। विकृतौ सवार्थः शेषः प्रकृतिवत् ।३६। मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ।३५। सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ।३६। आधानेऽपि तथेति चेत् ।३७। नाऽप्रकरणत्वादङ्गस्यातन्निमित्तत्वात् ।३८। तत्काले वा लिङ्ग-दर्शनात् ।३९। सर्वेषां वाऽविशेषात् ।४०। न्यायोक्ते लिङ्ग-दर्शनम् ।४१। मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ।४२। भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत् ।४३। स्यात्प्रकृतिलिङ्गाद्वैराज-वत् ।४४।

विकृति- याग में बर्हि आदि के धर्मों का सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि, उस विकृति में उनके कार्य का विधान मिलता है ।३१। विधृति और पवित्रे में असंस्कृत बर्हि का विनियोग है। यदि संस्कृत और असंस्कृत दोनों का विनियोग मान लें तो वाक्य विशेष से विरोध सिद्ध होगा ।३२। प्राकृत पुरोडाश का एक देशीय निश्चय अपनय होने योग्य है। क्योंकि, ऐसा होने पर विद्यमान का संयोग होता है ।३३। प्रकृति याग के समान प्रकृति याग में विधान किया गया उपांशु रूप अङ्ग और प्रधान इष्टियों के निमित्त है ।३४। (समाधान)

अंग का वह धर्म विधान नही किया जाने से उपांशु धर्म का विधान प्रधान के लिए है ।३५। श्येन-याग में आज्य द्रव्य का होना सम्भव न होने से विधान किया गया घृत, उस याग के अङ्गभूत इष्टियों का धर्म कहा है । क्योंकि उसका याग के साथ विशेष सम्बन्ध होता है।३६। (शङ्का) जैसे, मक्खन घृत श्येन-याग के अङ्गों का धर्म कहा हैं, वैसे ही अग्न्याधान का भी धर्म है, यदि ऐसा कहें तो ?।३७। [समाधान] नवनीताज्य उसके लिए न होने से अग्न्याधान का प्रकरण नहीं है । इसलिये पूर्वोक्त कथन मान्य नहीं ।३८। (पूर्व पक्ष) वह आज्य सुत्यादिन में होने वाली इष्टियों का अंग है । ऐसे ही लक्षण मिलते हैं।३९। (समाधान) वह आज्य श्येन याग के सभी अंगों का धर्म है । क्योंकि उसका विधान सामान्य रूप से है ।४०। प्रकरण में आया 'नवनीत' वाक्य सम्पूर्ण अंग का होना सिद्ध करता है । क्योंकि, ऐसे ही लक्षण मिलते हैं ।१४। सवनीय पुरोडाशों का मांसल प्रकृति द्रव्य है । क्योंकि द्रव्य विधायक वाक्यो से ऐसा ही सिद्ध होता है ।४२। (शङ्का) अन्य पद की समीपता न होने से मांस पद का मांसल अर्थ मानना ठीक नहीं, यदि ऐसा कहें तो ? ।४३। (समाधान) जैसे 'वैराज' को बताने वाले साम शब्द की समीपता से वैराजपृष्ठ के वाचक हो जाते हैं, वैसे ही सवनीय आदि शब्द के सामीप्य से मांस शब्द भी मांसल हो सकता है ।४४।

[इस अध्याय में मुख्य रूप से इस बात का विवेचन किया है कि यज्ञ की विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में किसका कितना महत्व है, कौन-सा दर्जा है ? वैसे तो उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रत्येक क्रिया का यथाविधि सम्पन्न किया जाना आवश्यक है, फिर भी बड़े यज्ञों में परिस्थितिवश ऐसी समस्यायें आया करती है जब क किसी को शीघ्र और किसी को देर से करने की आवश्यकता प्रतीत होती हैं । इसी दृष्टि से मीमांसाकार ने जिन क्रियाओं के विषय में साधारण ऋत्विजों

कर्मकाण्ड कराने वाले पण्डितों को शङ्का रहती है, उनके विषय में तर्क और शास्त्र-प्रमाण द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक प्रकरण में किस क्रिया को मुख्य और किसको गौण माना जाय—किसको 'शेष' तथा किसको 'शेषी' बतलाया जाय। इसका विवेचन करते हुए बहु-संख्यक अन्तर्गत विषयों पर भी प्रकाश पड़ा है जिनसे कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते हैं। उदाहरण के लिए चौथे पाद में यजमान की पत्नी के यज्ञ में भाग लेने का वर्णन है और बताया है कि यदि वह यज्ञ-काल में रजस्वला हो जाय तो क्या व्यवस्था करनी चाहिये। इससे विदित होता है कि उस युग में सामान्यतः स्त्रियाँ यज्ञ में भाग लेती थीं और सब प्रकार की क्रियायें पति के साथ ही करती थीं। इस बात से वर्तमान समय के उन लोगों को शिक्षा-ग्रहण करनी चाहिये जो कहते हैं कि स्त्रियों को वैदिक कर्मों के करने अथवा यज्ञादि में भाग लेने का अधिकार नहीं है।

एक सूत्र में यह भी कहा गया है कि प्रजा को सदुपदेश देकर सुमार्ग पर चलाने वाले विद्वानों, पण्डितों को राज्य-दन्ड और उत्पीड़न आदि के भय से मुक्त रखना चाहिये, जिससे वे प्रजा-शिक्षण का कार्य ठीक ढंग से कर सकें। इससे यह प्रकट होता है कि यज्ञ का बाह्य-स्वरूप धार्मिक होते हुए भी उसका आन्तरिक उद्देश्य प्रजा में सदाचरण, सुव्यवस्था और शान्ति का प्रचार करना भी होता था। यज्ञों में राजा अथवा बड़े धनवान लोग जो बहुत बड़ी धन-राशि खर्च करते थे, वह किसी न किसी रूप में प्रजा से ही प्राप्त की जाती थी। यदि प्रजा सुखी, समृद्ध, सन्तुष्ट न रहेगी तो यज्ञादि का निर्विघ्न और सब प्रकार से सफलता के वातावरण में सम्पन्न होना कठिन हो जायगा। इस दृष्टि से प्रजा में सुव्यवस्था और सन्तोष का ध्यान रखना उचित है।

अष्टम पाद के सूत्र, ९, १०, ११ में एक महत्वपूर्ण बात यह कही गई है कि यज्ञ-कर्म केवल धन व्यय करने ही सिद्ध नहीं होता

वरन् उसके लिए कुछ तप, कष्ट-सहन, श्रम भी करना आवश्यक है। धन तो मनुष्य को उत्तराधिकार में अथवा किसी गड़े हुए खजाने के मिल जाने से प्राप्त हो जाता है। उसे खर्च करके ही पुण्य मिल जाय यह बात उपयुक्त नहीं जान पड़ती। इसलिए धर्म-शास्त्र में यज्ञ कर्त्ता के लिए दो दिन या तीन दिन तक उपवास करने और बाद में भी बहुत संयमपूर्वक अल्पाहार का विधान किया है। यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों के लिए भी नियम बनाया गया है कि वे रात्रि के समय भोजन न करें अर्थात् दिनभर में एक समय ही खाय। इसका उद्देश्य यही है कि यज्ञ-काल में शरीर शुद्ध और हल्का रहे और उसके प्रभाव से मन में भी किसी प्रकार की असत् भावनायें उदित न हों। यदि खान-पान में असावधानी बरती जायगी, स्वादिष्ट और तर माल अधिक मात्रा में खा लिए जायेंगे तो उनसे आलस्य और प्रमाद का होना तो स्वाभाविक ही हे, साथ ही चित्तवृत्तियों का चञ्चल होना तथा तरह-तरह की कुकल्पनाओं का उठना भी सम्भव है। आजकल यज्ञादि में ऐसे दृश्य प्रायः देखने में आते भी हैं जब कि यज्ञ कराने वाले पंडित-गण मुफ्त का बढ़िया भोजन पाकर आवश्यकता से अधिक खा जाते हैं, और अनेक बार इसके फलस्वरूप उसी समय या बाद में बीमार पड़ जाते हैं। इसलिए मीमांसाकार ने पहले ही इस सम्बन्ध में उपदेश देकर इस अवसर पर संयम और तप की मनोवृत्ति रखना आवश्यक बता दिया है।

सप्तम पाद के अन्तिम सूत्र में जो निर्देश दिया है उससे विदित होता है कि यज्ञ-कर्म कराने वालों को अध्ययनशील तथा ज्ञानवान होना चाहिए। केवल ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से किसी को यज्ञ करने-कराने का अधिकारी नहीं मान लिया जा सकता। यज्ञ वास्तव में सर्वसाधारण का हित साधन करने वाली एक प्रणाली है, इसलिए इसका उचित रीति से सम्पादन वे ही लोग कर सकते हैं जिन्होंने

धार्मिक तथा लौकिक विद्याओं का भली प्रकार अनुशीलन किया हो और जो हृदय से लोक कल्याण के महत्व का अनुभव करते हों। पुस्तक में से केवल मन्त्र पढ़ कर 'स्वाहा' कर देने को ही वास्तविक यज्ञ समझ लेना भूल की बात है। जो व्यक्ति यज्ञ के मूल तत्व लोकहित अथवा जन-कल्याण को नहीं समझ पाता या उसकी उपेक्षा करता है, वह यज्ञ कराने का अधिकारी भी नहीं हो सकता।

षष्ठ पाद के ३८-३९ सूत्रों में यह विवेचन किया गया है कि यदि धर्म-शास्त्र में लिखी हुई यज्ञ-सामगी प्राप्त न हो सके तो उससे मिलती-जुलती पर कुछ घटिया वस्तु से भी काम चलाया जा सकता है। इससे मीमांसकार की व्यवहारिकता प्रकट होती है और यह विदित होता है कि जो लोग सामग्री अथवा अन्य उपकरणों के बढ़िया तथा बहुमूल्य होने पर बहुत अधिक बल देते हैं उनका दृष्टिकोण ठीक नहीं हैं। सामग्रो के मिलने न मिलने में एक कारण तो देश-भेद होता है। एक स्थान में एक वस्तु अधिक मात्रा में और सुलभता से मिलती हैं और दूसरे स्थान में उसी के सदृश्य पर कुछ भिन्नता रखने वाली वस्तु सुविधा-पूर्वक प्राप्त होती है। अब मान लीजिए कि धर्मग्रंथ लिखने वाले या भाष्यकार ने अपने प्रदेश में सुविधापूर्वक प्राप्त होने वाली वस्तु का उल्लेख कर दिया, तो यह आवश्यक नहीं कि हम दूसरे प्रदेश में यज्ञ करते समय ठीक उसी वस्तु को लाने का आग्रह करें। ऐसा करना शक्ति और धन का अपव्यय ही माना जायगा। इसलिये मीमांसा के मत से ऐसे प्रसङ्गों में अनावश्यक हठ या कट्टरता का परिचय न देकर व्यवहारिकता का ध्यान रखना ही आवश्यक है और मूल-उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कार्य-संचालन करना ही उचित है।]

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥



चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद

[तीसरे अध्याय में इस बात पर विचार किया गया था कि कौन कर्म शेष है और कौन उसका शेषी-कर्म है। अब चौथे अध्याय में अन्य दृष्टिकोण से वर्णन किया जा रहा है कि यज्ञ सम्बन्धी कर्मों में "कौन प्रयोजक और कौन प्रयोज्य है।" दूसरे शब्दों में कौन कर्म निमित्त है और कौन नैमित्तिक। इसमें सबसे पहले यागार्थ और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।]

अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ।१। यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सा, ऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् ।२। तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय: शस्त्रस्यानतिशङ्क्यत्वान्न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते; तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः ।३। अविशेषात्तु शास्त्रस्स्य यथाश्रुति फलानि स्युः ।४। अपि वा कारणाऽग्रहणे तदर्थमर्थस्याऽनभि सम्बन्धात् ।५। तथा च लोकभूतेषु ।६। द्रव्याणि त्वविशेषेणाऽऽनर्थत्वात् प्रदोयरेन् ।७। स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्तस्माद्यथाश्रुतिस्युः ।८। चोद्यन्ते चार्थकर्मसु लिङ्गदर्शनाच्च ।१०।

अब क्रतर्थ और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में विचार करते हैं क्योंकि वह कर्मों के प्रयोज्य-प्रयोजक भाव का ज्ञान करता है ।१। जिस कर्म से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है और जिसे करने की इच्छा स्वयं ही होती है वह पुरुषार्थ है। सुख का साधन कर्म से पृथक नहीं है।२।

सुख का विचार त्याग देने पर भी कर्म को जानना चाहिये क्योंकि चाहे वे याग की दृष्टि से आवश्यक न हों और क्रतर्थ न माने जायें, तो भी पुरुषार्थ के रूप में उनका उपयोग है ।३। शङ्का हो सकती है कि तब समिधादि कर्म भी 'पुरुषार्थ' होने चाहिये क्योंकि उनका शास्त्र भी प्रजापति-व्रत संज्ञक है ।४। किसी प्रमाण के न मिलने से उक्त प्रजापति संज्ञक कर्म पुरुषार्थ माने गये हैं। प्रमाणाभाव से उनका किसी प्रधान कर्म से सम्बन्ध नहीं हो सकता ।५। ऐसी ही मान्यता सब लोगों में पाई जाती है ।६। शङ्का है कि सब द्रव्य—यज्ञायुध भी पूर्णतः अग्नि में हवन करने चाहिए। ऐसा न करने से विधान व्यर्थ हो जायँगा । ७ । इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यज्ञीय द्रव्यों का अपने-अपने कार्य के अनुसार प्रयोग करना चाहिए। उनका विनियोग शास्त्रीय विधान के अनुसार किया जाय ।८। हवन विधि के लिये पुरोडाश आदि का विधान किया गया है ।९। चिन्हों, लक्षणों से भी यही अर्थ ठीक जान पड़ता है ।१०।

तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् । ११ । एकश्रुतित्वाच्च । १२ । प्रतीयत इति चेत् । १३ । नाऽशब्दं तत्प्रमाणत्वात्पूर्ववत् । १४ । शब्द वत्ता् पलभ्यते तदागमे हि द्रश्यते यस्य ज्ञान हि यथाऽन्येषाम् । १५ । तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् । १६ । तथा च लिङ्गम् । १७ । आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत् । १८ । चोदनायां त्वनारम्भो विभक्तत्वान्न ह्यन्येन विधीयते । १९ । स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतत्वाऽऽश्रया द्विगुणीभावः । २० ।

यज्ञ में दान दिये जाने वाले पशुओं में एक या अधिक संख्या होने का विचार आवश्यक नहीं है ।११। कहा जाता है कि श्रुतियों में प्रायः एक संख्या में ही पशु-दान का वर्णन है, यद्यपि शास्त्रों में जो

विधान पाया जाता है, जैसे "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—इसमें एक या अनेक की संख्या का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तो भी, लौकिक और न्याय की दृष्टि से इसे एक पशु के अर्थ में ही मानना ठीक है। यही अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होता है क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि सुन्दर कानों वाली, केसर के समान रूप वाली तथा आकाश के सदृश्य वर्ण वाली गायें साँड सहित दान करे ।१२-१६। साथ ही शास्त्रों में जो पशुओं के दान का आदेश दिया है उसका आशय गायों के दान से ही है, बैलों का अर्थ उससे नहीं लेना चाहिये ।१७। अब "स्विष्ट कृत" कर्म की अदृष्टार्थता का वर्णन करने हुए कहते हैं कि प्रधान आहुतियों के पश्चात् स्विष्टकृत कर्म के रूप में शेष आहुति दी जाती है वह भी याग के समान शास्त्रीय कर्म हो ।१८। कुछ लोग शङ्का करते हैं कि स्विष्टकृत कर्म प्रधान कर्म का एक अंश ही है और उसका पृथक रूप से फल प्राप्त नहीं हो सकता ।१९। इस पर मीमांसा का मत है कि स्विष्टकृत, संस्कार की पूर्ति का अङ्ग होने के साथ ही पृथक फलोत्पादक भी है ।२०।

अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम् । २१ । एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् । २२ । संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् । २३ । मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च । २४ । पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् । २५ । अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधीयते । २६ । पशावनालम्भाल्लोहितशकृतोरकर्मत्वम् । २७ एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसं योगात् । २८ । निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् । २९ । न शेषसन्निधानात् । ३० ।

अब फल की प्राप्ति के अर्थ द्रव्य तथा कर्म की समता और विषमता का विवेचन किया जाता है ।२१। एक कर्म गर्म दूध में

दही डालकर उसके ठोस अंश (आमिक्षा या छेना) और जलीय अंश को पृथक्-पृथक कर लेना है। इस में आमिक्षा ही प्रधान है, जलीय अंश तो अपने आप उत्पन्न हो जाता है। यह आमिक्षा ही विश्व देवताओं को समर्पित किया जाता है।२२-२४। सोम को खरीदने के लिये गौ ले जाते हुए "पद-कर्म" गौण है।२५। यज्ञ के लिये जिन कपालों (मिट्टी के ठीकरे आदि में पुरोडाश पकाये जांय फिर उनमें छिलकों की राख आदि को भर दें। इसी प्रकार दान के लिए लाये गए पशु को खिलाने के लिए लाल रङ्ग की घास को छोटे टुकड़ो में काट कर रखे। ये दोनों कर्म मुख्य नहीं अनुषङ्गिक हैं।२५-२७। स्विष्टकृत कर्म में पुरोडाश के एक भाग को काट कर जो कर्म किया जाता है उसमें स्विष्टकृत कर्म प्रधान नहीं है। इस पर शङ्का की जाती है कि अर्थापत्ति प्रमाण से किसी अन्य पुरोडाश की कल्पना होती है। पर मीमांसाकार इसे ठीक नहीं मानते, क्योंकि वे स्विष्टकृत कर्म को शेष हानि से सम्बन्धित मानते हैं जिससे उसके लिए पृथक् पुरोडाश की आवश्यकता स्वीकार नहीं की जा सकती।२८-३०।

कर्म कार्यात् । ३१ । लिङ्गदर्शनाच्च । ३२ । अभिधारणे विप्रकर्षादनुयाजवत् पात्रभेदः स्यात् । ३३ । न वा पात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात् । ३४ । हेत्वाच्च सहप्रयोगस्य । ३५ । अभावदर्शनाच्च । ३६ । सति सव्यवचनम् । ३७ । न तस्येति चेत् । ३८ । स्यात्तस्य मुख्यत्वात् । ३९ । समानयनं तु मुख्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् । ४० ।

पुरोडाश मुख्य कर्म के लिए ही प्रस्तुत किया जाता है। शास्त्र में भी इसी बात का कथन किया गया है।३१-३२। प्रश्न किया जाता है कि क्या यज्ञ में प्राजापत्य हवियों के लिए 'जुहू' से पृथक अन्य घृत-पात्र रखने का विधान है।३३। इसका उत्तर दिया जाता है

प्रयाज का एक अंश होने के ही कारण उसके लिए पृथक पात्र की आवश्यकता नहीं ।३४। साथ ही क्रतु पशु तथा प्राजापत्य पशुओं को एक साथ पुण्य का देने वाला कथन करने से उन दोनों की एकता सिद्ध होती है ।३५। इस प्रकार प्राजापत्य पशु सम्बन्धी हवियों के अभिधारण का कहीं उल्लेख नहीं मिलता और सव्य कथन किया है, इससे भी उनके अभिधारण की बात सिद्ध नहीं होती। सव्य-वचन अभिधारणभाव का सूचक नहीं हो सकता। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि प्रयाज शेष से अभिधारण नहीं होता ।३६-३९। इसके आगे 'उपभृत' और 'जुहू' संज्ञक स्रुवाओं से 'आज्य' (घृत) ग्रहण करने के सम्बन्ध में विवेचन करते हैं ।४०।

वचने हि हेत्वसामर्थ्यम् ।४१। तत्रोत्पत्ति रविभक्ता स्यात् ।४२। तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ।४३। औपभृतं तथेति चेत् ।४४। स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ।४५। तदष्टसङ्ख्यं श्रवणात् ।४६। अनुग्रहाच्च जौहवस्य ।४७। द्वयोस्तु हेतुसमार्थ्यं श्रवणं च समानयने।४८।।

इस सम्बन्ध में कुछ व्यक्ति यह शङ्का करते हैं कि 'उपभृत' और 'जुहू' स्रुवाओं में उपस्थित आज्य के विनियोग का कोई विधान नहीं है और उनको सुविधानुसार किसी भी तरह प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके समाधान में यह है कि 'जौहव' आज्य प्रयाजों के लिए है और औपभृत प्रयाज और अनुयाज दोनों के लिये ।४१-४४। इस पर कुछ अशङ्का करते हैं कि जिस प्रकार "जौहव" प्रयाजों के लिये है वैसे अपभृत को केवल अनुयाजों के लिए क्यों न माना जाय ? ।४५। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि 'जौहव' के वर्णन में जिस प्रकार अनुयाजों का निषेध कर दिया गया है वैसा निषेध औपभृत के सम्बन्ध

में नहीं पाया जाता ।४६। जुहू से चार-बार उपभृत से आठ बार आज्य ग्रहण करने का विधान है। कुछ लोग इसे 'चार बार का दुगुना' कहते हैं। यद्यपि इन दोनों का तात्पर्य एक ही है, पर श्रुति के शब्द और अर्थ को बदलना अनुचित होने से 'आठ बार' ही कहना उचित हैं।४७-४८।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

[इस द्वितीय पाद में यज्ञ में दान के लिए लाए गये पशुओं को बांधने के लिए यूप-निर्माण का वर्णन आरम्भ होता है। जङ्गल से यूप बनाने के लिए जो काष्ठ लाया जाता है उसे छीलने से जो छिलका छीलन आदि निकलती है उसको 'स्वरु' कहते हैं। जो इस पाद के आरम्भ में प्रतिपक्षी की तरफ से यह शङ्का की जाती है कि 'स्वरु' यूप बनाते समय स्वयम् ही उत्पन्न हो जाने वाला एक गौण पदार्थ है, या वह भी यूप की तरह एक स्वतन्त्र और मुख्य द्रव्य है और उसके लिए भी अलग काष्ठ लाने का विधान है? इस सम्बन्ध में पहले प्रतिपक्षी की शङ्का को प्रकट करते है—]

स्वरुस्त्वनेकानिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् । १ । जात्यन्तराच्च शङ्कते । २ । तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् । ३ । शकलश्रुतेश्च । ४ । प्रतियूपं च दर्शनात । ५ । आदाने करोति शब्दः । ६ । शाखायां तत्प्रधानत्वात । ७ । शाखाया तत्प्रधानत्वादुपवेषेण विभागः स्याद्वैषम्यात । ८ । श्रुत्यपायाच्च हरणे जुहोतिर्योगसामान्याद द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् । १० ॥

क्योंकि 'स्वरु' यूप-निर्माण की क्रिया से भिन्न क्रिया द्वारा निष्पन्न होता है अतः उसका विधान स्वतन्त्र मानना चाहिये ।१। स्वरु उसी जाति की लकड़ी से बनाया जाय जिससे यूप बनाया जाय ।२। इसके उत्तर में 'मीमांस' का कहना है कि 'स्वरु' यूप का एक अंश ही होता है, अतः उसका स्वतन्त्र स्थान मानना निरर्थक है। उसके लिए अलग लकड़ी लाने की कोई आवश्यकता नहीं । 'स्वरु' तो यूप बनाते समय स्वयं ही निकल आता है और पशुओं का 'अंजन' संस्कार करने के काम आता है। जितने भी यूप बनाये जायेंगे उन सभी से 'स्वरु' निष्पन्न होने का कथन है, इससे उसकी प्रधानता सिद्ध नहीं होती ।३—५। 'यूपस्य स्वरु करोति' वाक्य में जो 'करोति' शब्द आया है उसका अर्थ यह नहीं कि 'स्वरु' बनना हमारा उद्देश्य, और मुख्य कार्य है, उसका अर्थ है 'आदान' अर्थात् स्वयं ही प्राप्त हो जाना ।६। वृक्ष की शाखाओं को भी विधि पूर्वक लाये। इन शाखाओं के मूल अथवा मोटे हिस्से से यज्ञशाला में काम आने वाले विभिन्न उपकरण बनायें जायें और छोटी डालियाँ बछड़ों को हाँकने के काम में लाई जायें। श्रुति में भी ऐसा ही भाव प्रकट किया गया है ।७—९। वृक्ष की छोटी शाखाओं को प्रस्तर सहित आहवनीय अग्नि में डाला जाय ।१०।

प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ।११। अर्थेऽपीति चेत् ।१२। न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ।१३। उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात् ।१४। संयवनार्थाना या प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ।१५। प्रासनवन्मैत्रावरुणस्य दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ।१६। अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात्स्रग्वत् ।१७। कर्मयुक्ते च दर्शनात् ।१८।

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तच्छ्रुतिहेतुत्वात्तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ।१६। सौमिके च कृतार्थत्वात् ।२०।

इस सम्बन्ध में यह शङ्का की जाय कि शाखा का डालना 'प्रतिपत्ति कर्म' है या 'अर्थ कर्म' तो कहा जायगा कि वह 'प्रतिपत्ति कर्म' ही है। शङ्का करने वाले द्वितीया विभक्ति के कारण इसे 'अर्थ कर्म' मानते हैं, पर यह विनियोग की दृष्टि से सत्य सिद्ध नहीं होता ।११। ।१३। यज्ञ में कुछ जल छान कर 'प्रणीता' नामक पात्र में, रखा जाता हैं। उसे पुरोडाश बनाने के आटे को सानने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। शेष जल को वेदी पर छिड़क दिया जाता है। प्रतिपक्षी इस छिड़कने को अर्थ-कर्म बतलाते हैं, पर मीमांसाकार इसे प्रतिपत्ति कर्म मानते हैं, क्योंकि मुख्य उद्देश्य आटा सानना है, वेदी पर छिड़कना नहीं ।१४-१५। ज्योतिष्टोम में अध्वर्यु यजमान को दण्ड देता है। उसे सोम का मूल्य दे दिया जाने पर मैत्रावरुण नामक ऋत्विक को दे देना चाहिये। शङ्का करने वाले का कहना है कि यह दण्ड प्रदान करने का अर्थ 'अर्थ-कर्म' (प्रधान) नहीं है वरन 'प्रतिपत्ति कर्म' है। पर मीमांसाकार का कहना है कि जिस प्रकार उद्गाता को माला देना 'अर्थ-कर्म' है उसी प्रकार 'मैत्रावरुण' को दण्ड का दान भी 'अर्थ-कर्म' ही हैं। अन्य स्थानों में भी मैत्रावरुण का वर्णन इस दण्ड के सहित ही किया गया है जिससे उक्त अर्थ सिद्ध होता है ।३६-१८। जिस पदार्थ का अन्य अर्थ में विनियोग हो तो वह वह प्रतिपत्ति रूप ही है ।१६। ज्योतिष्टोम याग में सोम लिप्त पात्रों को 'अवभृथ' में ले जाय, यह भी 'प्रतिपत्ति कर्म' है ।२०।

अर्थंकर्म वाऽभिधानसंयोगात् ।२१। प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद्देशार्थाऽवभृथश्रुतिः ।२२। कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ।२३। नियमार्थो वा पुनः श्रुतिः ।२४।

तथा द्रव्येषु, गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ।२५। संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ।२६। यजति चोदनाद्रव्यदेवताक्रियं: समुदाये कृतार्थत्वात् ।२७। तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिक: स्यात् ।२८। ददातिरुत्सर्गपूर्वक: परस्वत्वेन सम्बन्ध: ।२९। विधे: कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेश: स्यात् ।३०। अपि वोत्पत्तिसंयोगादर्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतु: स्यात् ।३१।

प्रतिपक्षी इसे अर्थ-कर्म कहते हैं, क्योंकि उनके मत से 'अवभृथ' का आशय यज्ञ से ही हैं। पर 'मीमांसा' का कहना है 'अवभृथ' का आशय देश विशेष अथवा किसी विशेष स्थान से है ।२१—२२। अब कर्त्ता, देश तथा काल सम्बन्धी नियमों पर बिचार करते हैं। प्रतिपक्षी कहता है कि इनका निर्णय कर्मानुष्ठान में स्वयं ही हो जाता है इसलिए शास्त्र में विस्तार सहित इसका विवरण नहीं पाया जाता। दर्शनकार इसे मानता हुआ भी कहता है कि इस विषय का स्वयं निर्णय हो जाने पर भी नियम की दृष्टि की जानकारी के लिए विधान में इसका उल्लेख होना उचित ही है ।२३—२४। जैसे कर्ता आदि का विधान नियम की जानकारी की दृष्टि से उपयोगी है वैसे ही गुण का विधान भी नियम की दृष्टि से ही है ।२५। अवघात आदि संस्कारों में भी, नियम की ही प्रधानता माननी चाहिये ।२६। 'याग' शब्द का तात्पर्य द्रव्य (सामग्री) देवता तथा क्रिया इन तीनों का समुदाय है। परमात्मा के उद्देश्य से द्रव्य के त्याग का नाम ही 'याग' है ।२७। जिस प्रकार परमात्मा के उद्देश्य से द्रव्य की आहुति देने को याग कहते हैं वैसे ही बिना किसी उद्देश्य के अथवा किसी निम्न कोटि के देवता के नाम पर अग्नि में द्रव्य का त्याग करना होम है २८। सोम को यज्ञशाला में लाने पर 'बर्हि' नामक वनस्पति द्वारा उसकी जो 'इष्ट' की

जाती है, क्या वह भिन्न-भिन्न हवनों में भिन्न-भिन्न वनस्पतियों द्वारा की जानी चाहिये ? इस शङ्का के उपस्थित होने पर मीमांसा का कथन है कि भिन्न-भिन्न वनस्पतियों का प्रयोग अनावश्यक है, बर्हि का ही तीनों के साथ सम्बन्ध होना चाहिये ।२६।३१।

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ।१। उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ।२। फलं तु तत्प्रधानायाम् ।३। नैमित्तिके विकारत्वात्क्रतुप्रधानमन्यत्स्यात् ।४। एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ।५। शेष इति चेत् ।६। नार्थपृथक्त्वात् ।७। द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतु-धर्मत्वात् ।८। पृथक्त्वाद्व्यवतिष्ठेत ।९। चोदनायां फला-श्रुतेः, कर्ममात्रं विधीयेत, न ह्यशब्दं प्रतीयते ।१०।

दूसरे पाद में यज्ञ के प्रधान और गौण कर्मों की विवेचना करके तथा कई कर्मों का उदाहरण देकर अब द्रव्य, संस्कार तथा अङ्ग कर्मों का यज्ञार्थ वर्णन करते हैं। इस सम्बन्ध में मीमांसा का मत है कि ये तीन 'क्रत्वर्थ' है पुरुषार्थ नहीं ।१। इसका जो वर्णन किया गया है उसमें फल का सम्बन्ध पुरुष से न होकर द्रव्य से पाया जाता है ।२। समस्त यज्ञक्रिया द्रव्य-साध्य हैं और क्रिया के अनुकूल फल मिलता है, इसलिए द्रव्य, संस्कार और क्रिया तीनों की प्रधानता मानी जाती है ।३। मिट्टी के पात्रों का प्रयोग काम्य कर्मों में विहित है, नित्य कर्मों में उनका उपयोग करने का विधान नहीं है ।४। दही आदि पदार्थ नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार के कर्मों के लिए काम में लाए

जाते हैं। यदि इस सम्बन्ध में यह शङ्का की जाय कि दही एक कर्म का शेष है, इससे उसका प्रयोग दोनों प्रकार के कर्मों में नहीं किया जा सकता, तो उसका समाधान यह है कि इस प्रकार दधि का प्रयोग ही विभिन्न प्रयोजनों से बताया गया है, इसलिए उसका दोनों में विनियोग होना अनुचित नहीं है।५—७। ज्योतिष्टोम में ब्राह्मणों के लिए पयोव्रत (दूधाहार), क्षत्रिय के लिये जो की लपसी का भोजन, वैश्य के लिए आमिक्षा (दूध की फुटकी) या छेना के भोजन का विधान है। यद्यपि ये व्रत पुरुषों के भोजन से सम्बन्धित है, पर उनका उद्देश्य यही है कि पुरुष सशक्त रहकर यज्ञ को पूर्ण कर सके, इसलिए ये क्रत्वर्थ हैं।८। इनमें पुरुष का जो उल्लेख है वह व्यवस्था की दृष्टि से है।९। विश्वजित याग का वर्णन पढ़कर यह शङ्का होती है कि उनमें कहीं फल का उल्लेख नहीं हैं, अतएव वह 'अफल' कर्म है।१०।

अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेन गम्येतार्थानामर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतोप्य समर्थानामानन्तर्येप्यसम्बन्धस्तस्माच्छ्रुत्येकदेशस्सः।११। वाक्यार्थश्च गुणार्थवत्।१२। तत्सर्वार्थमनादेशात्।१३। एकं वा चोदनैकत्वात्।१४। स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्।१५। प्रत्ययाच्च।१६। क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः।१७। फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्।१८। अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात्।१९। काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो, यथा यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थं।२०।

इसके उत्तर में मीमांसा का कथन है कि यज्ञ-कर्म की विवेचना करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों में समस्त वैदिक विधान सम्बन्धी वचन सफल अर्थयुक्त ही पाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में यदि कोई वाक्य फल सहित वर्णन न किया हो तो भी उसके अर्थ के आधार पर फल की

कल्पना स्वयमेव की जा सकती है ।११। यदि इस प्रकार 'विश्वजित' यज्ञ के फल की कल्पना न की जायगी तो वह वाक्य एक गुण का विधायक बन जायगा। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं उक्त यज्ञ अपने नामानुसार सब फलों का देने वाला है । पर यह भी ठीक नहीं क्योंकि वाक्य से किसी एक ही फल के होने का अनुमान हो सकता है। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार अन्य सब याग प्रधानतया स्वर्ग-फल देने वाले हैं वैसे ही विश्वजित याग भी स्वर्ग फलप्रदायक है ।१२-१५। याग करने वाले मनुष्य भी प्रायः स्वर्ग फल उद्देश्य से ही उसका अनुष्ठान करते हैं, इसलिए विश्वजित याग का फल स्वर्ग प्राप्ति होना सवथा समुचित है ।१६। 'त्रयोदशरात्र' नामक सत्र का फल प्रतिष्ठा-प्राप्ति लिखा है, पर कार्ष्णाजिनि मुनि के मत से यह अर्थ-वाद (प्रशंसात्मक) वाक्य ही हैं ।१७। यह मत उचित नहीं है, क्योंकि जब वेद वाक्य में फल का स्पष्ट उल्लेख है तो उसे मानना ही चाहिये। इस प्रकार के प्रसङ्ग में विश्वजित याग की तरह अपनी कल्पना से काम लेने की कोई आवश्यकता नहीं ।१८। जुहू आदि यज्ञ उपकरणों का फल-वर्णन अर्थवाद (स्तुति रूप) हो सकता है, क्योंकि वे एक 'अङ्गी' के अगंमात्र हैं।१६। अब काम्य-कर्मों के फल के विषय में कहते हैं कि उनका मुख्य फल भी स्वर्ग होना सम्भव है ।२०।

वीते च कारणे नियमात् ।२१। कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ।२२। अङ्गे गुणत्वात् ।२३। वीते च नियमस्त-दर्थम् ।२४। सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ।२५। फलो-पदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात् ।२७। योगसिद्धिर्वार्थस्योत्प-त्त्यसंयोगात् ।२८। समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्वात् ।२९। कालश्रुतौ काल इति चेत् ।३०।

यदि जिस कामना से याग किया जा रहा है वह बीच में ही पूर्ण हो जाय तो भी उस अनुष्ठान को समाप्ति तक किया जाता है, इससे भी प्रतीत होता है कि काम्य-कर्म का मुख्य फल स्वर्ग ही है ।२१। पर वह ठीक नहीं, काम्य-कर्म के विधान में उसका जो फल बतलाया गया है उसका मुख्य फल तो वही माना जायगा । स्वर्ग प्राप्ति उसका गौण फल हो सकता है और जो यह कहा गया है कि अनुष्ठान के मध्य में ही कामना पूरी हो जाने पर भी यज्ञ-कर्म का अन्तिम विधि तक निर्वाह किया जाता है, उसका कारण प्रतिज्ञा-पालन का भाव है, अर्थात् जब हमने एक बार किसी यज्ञ का सङ्कल्प कर लिया तो उसे पूरा करना कर्तव्य है ।२२—२४। यज्ञ-विधान में बतलाया है कि 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ सब फलों के लिये है । इसमें शङ्का होती है कि दर्शपौर्णमास याग स्वयमेव सब फल प्राप्त कराने वाला नहीं है बरन् उसके साथ जो अन्य कर्म अङ्ग रूप किये जाते हैं उनको मिलाकर सब फलों की प्राप्ति होती है । पर यह ठीक नहीं, क्योंकि जब शास्त्र में दर्शपौर्णमास को सब फलों का देने वाला स्पष्टत: कथन किया है तो उससे विपरीत नहीं हो सकता ।२५—२६। दूसरा शङ्का यह है कि जब 'दर्शपौर्णमास' याग सब फलों के देने वाला है तो उसके एक बार अनुष्ठान से ही सब प्रकार के फलों की प्राप्ति हो जानी सम्भव है, जैसे आग जलाने से गर्मी और प्रकाश एक साथ ही मिल जाते हैं । पर मीमांसाकार के मत से यह ठीक नहीं । 'दर्श-पौर्णमास" सब फलों के देने वाला है, पर जिस फल के उद्देश्य से उसका अनुष्ठान किया गया है वही फल प्राप्त होगा । विभिन्न प्रकार के फलों की प्राप्ति के लिए पृथक-पृथक अनुष्ठान के विधेय हैं ।२७—२८। अब सौत्रामणी आदि यागों के अङ्गभूत कर्मों की विधि के सम्बन्ध में कहते हैं कि अङ्गाङ्गिभाव को जानने से ही वे कर्म सार्थक हो सकते हैं ।

इस सम्बन्ध में यह शङ्का की जाती है कि ये साथ में किये जाने वाले कर्म अङ्गाङ्गि रूप नहीं, पर कालक्रम से आगे-पीछे किये जाने वाले कर्म भी हो सकते हैं। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।२९।३०।

नासमवायात्प्रयोजनेन ।३१। उभयार्थमिति चेत् ।३२। न शब्दैकत्वात् ।३३। प्रकरणादिति चेत् ।३४। नोत्पत्तिसंयोगात् ।३५। अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ।३६। उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ।३७। फलसंयोगस्त्वचोदिते, न स्यादशेषभूतत्वात् ।३८। अङ्गानां तूपघातसंयोगे निमित्तार्थः ।३९। प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम् ।४०। अपवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यत्स्वकाले स्यात् ।४१।

यह तर्क इसलिए ठीक नहीं कि स्वतन्त्र कर्म का फल भी पृथक होता है, जबकि अंग रूप कर्म अफल होता है। इसलिए उक्त कर्मों को अंग और अंगी से रूप में ही मानना चाहिये।३१। 'दर्शपौर्णमास' याग के विधान में पौर्णमास याग को समाप्त करके 'वैमृध' नामक कर्म करने का आदेश है। इस पर शङ्का की जाती है कि वह 'दर्श' अनुष्ठान का अंग है या 'पौर्णमास" का। शङ्का करने वाला उसे दोनों का ही अंग बतलाता है। पर मीमाँसाकार का मत है कि एक कर्म एक साथ दो अनुष्ठानों का अंग नहीं हो सकता, इसलिए उसे पौर्णमास कर्म का ही अंग मानना चाहिये।३२–३५। ज्योतिष्टोम याग में प्रकरण में कहा गया है कि "अग्निमारुत" शस्त्र के पश्चात् 'प्रयाज' नामक होम करे। यहाँ पर प्रश्न होता है कि यह 'प्रयाज' होम 'अग्निमारुत' का एक अंग रूप है अथवा कालक्रम से किया जाने वाला अन्य विधान है। इसका समाधान यह है कि 'प्रयाज' होम ज्योतिष्टोम याग का एक अंग माना गया है उसका वैदिक वर्णन में स्पष्ट

विधान है। तब उसे "अग्निमारुत" का अङ्ग न मान कर कालक्रम से किया जाने वाला एक कर्म ही मानना चाहिए ।३६। "दर्शपूर्णमास" याग के अनन्तर 'ज्योतिष्टोम' याग का विधान पाया जाता है उसके सम्बन्ध में शङ्का की जाती है कि इनको एक दूसरे का अङ्ग रूप मानें या दोनों को स्वतन्त्र माना जाय ? इसका उत्तर है कि इन दोनों का फल पृथक-पृथक मिलता है इससे इनको अङ्ग रूप न मानकर स्वतन्त्र याग ही मानना उचित है। दोनों का एक साथ वर्णन करने का कारण यह है कि "दर्शपूर्णमास" के पश्चात् "ज्योतिष्टोम" का अनुष्ठान करने से दोनों का महान फल प्राप्त होता है ।३७। पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् जो "वैश्वानरेष्टि" नामक कर्म किया जाता है उसके सबन्ध में शङ्का की जाती है कि उसका फल पिता को मिलेगा या पुत्र को ? इसका उत्तर यह है कि पुत्र के उद्देश्य से कर्म किया गया है अतः उसी को फल मिलेगा यह कर्म 'जातकर्म' संस्कार से सम्बन्धित है ।३८-३९। एक शङ्का यह भी है कि अङ्ग रूप कर्मों का अनुष्ठान प्रधान काल में होना चाहिये अथवा मुख्य अनुष्ठान के पश्चात् ? इसका समाधान यह है कि अङ्ग रूप कर्मों का अनुष्ठान अपने-अपने नियत कालों में किया जाना चाहिये ।४०-४१।

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनंगत्वम ।१। आप वाऽङ्गमतनिज्याःस्युस्ततोविषिष्टत्वात् ।२। मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ।३। सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्न हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ।४। प्रकरणाविभागे च विप्रति-

षिद्धंत्वुभयम् । ५ । अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य । ६ । भलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् । ७ । दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् । ८ । नित्यश्च ज्येष्ठशब्दत्वात् । ९ । सार्वरूप्याच्च । १० । नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयो ; कर्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य । ११ ।

अब राजसूय यज्ञ में "देवन" (तोपखाने की कवायद) के सम्बन्ध में शङ्का की जाती है कि वह "राजसूय याग" का अङ्ग है या नहीं ? इस सम्ब्रन्ध में मीमांसा का मत है कि "देवन" आदि को याग रूप नहीं माना जा सकता और वे "राजसूय" याग का एक अङ्ग ही हैं ।१-२। फिर शङ्का की गई कि इन क्रियाओं का वर्णन अभिषेक के अवसर पर ही मिलता है । अतः इनको केवल अभिषेचनीय क्रिया का अङ्ग पर ही माना जाय अथवा 'राजसूय" का ? इसका उत्तर यह है कि "अभिषेचनीय" कोई पृथक अनुष्ठान नहीं है, वरन् ये सब एक "राजसूय" अनुष्ठान के ही अङ्ग रूप है ।३-४। फिर प्रश्न किया गया कि सौम्य आदि हवियों को उपसदों का अंग मानना ही उचित है । परस्पर में विरुद्धता होने के कारण एक ही विषय में अंग-रूपता और तत्कालता दोनों बातें नहीं मानी जा सकतीं । इसके समाधान में कहा गया है कि सौम्य आदि हवियों में कालक्रम का ही अन्तर है क्योंकि उपसदों के साथ अंगांगि होने की कोई विशेषता उनमें नहीं मिलती ।५-६। फलयुक्त "संग्रहणी" इष्ठ "अमन" होमों में प्रधान है और 'अमन' होम गौण होने से उसका अंग है ।७। याग-कर्म में व्यवधान के कारण किसी देवता के कुपित होने पर जो "दधिग्रह" क्रिया की जाती है प्रतिपक्षी के मतानुसार यह नित्य नहीं नैमित्तिक है, क्योंकि उसका उपयोग आवश्यकता पड़ने पर ही किया जाता है । दूसरी शंका यह भी है कि दधिग्रह को तो सब ग्रहों से ज्येष्ठ माना गया है इससे

उसको नित्य मानना चाहिये। फिर यह सब देवताओं का स्वरूप है, इससे इसे नित्य मानना ठीक है। इन दोनों मतों का समाधान करते हुए मीमांसाकार ने कहा है कि याग-किया में व्यवधान पड़ने की बात अर्थवाद (स्तुति रूप) है। अध्वर्यु तथा यजमान से इस कर्म का कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं होता। दधिग्रह और नैमित्तिक उभयरूप न होकर सदैव नित्य ही है।८-११।

वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यः समानसंख्यत्वात्। १२। पक्षे वोत्पन्नसंयोगात्। १३। षट्चितिः पूर्ववत्स्यात्। १४। ताभिश्च तुल्यसंख्यानात्। १५। अर्थवादोपपत्तेश्च। १६। एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन। १७। विप्रतिषेधात्ताभि समानसङ्खचत्वम्। १८। पितृयज्ञः स्वकालत्वानङ्ग स्यात्। १९। तुल्यवच्च प्रसंख्यनात्। २०। विप्रतिषिद्धं चःदर्शनात्। २१।

पूर्वपक्ष का कथन है कि 'वैश्वानर' इष्ट नित्य-कर्म है, क्योंकि अन्य नित्य कर्मों के साथ उसका समान भाव से वर्णन किया गया है।१२। इसके उत्तर में कहा गया है कि यह कर्म नित्य नहीं नैमित्तिक है। इस सम्बन्ध में विधायक वाक्य से यही भाव प्रकट होता है।१३। शंका है कि छठी 'चिति' पूर्व पाँच चितों की भाँति नित्य है क्योंकि उसका वर्णन भी पिछली पांच 'चितियों' के समान ही पाया जाता है। अर्थवाद के उत्पन्न होने से भी यही आशय प्रतीत होता है। पर मीमांसा इसका निराकरण करके कहता है कि पाँच 'चितियाँ' शास्त्रानुसार नित्य हैं, पर छठी को नैमित्तिक कहा गया है, इसलिए उसे वैसा ही मानना चाहिये।१४-१८। पितृ-यज्ञ दर्श यज्ञ का अंग नहीं है वरन् काल की भिन्नता से वह एक स्वतन्त्र कर्म है। उसका उल्लेख "दर्शपूर्णमास" आदि के समान किया गया है और

अमावस्या को अन्य यज्ञ का निषेध होने पर भी पितृ-यज्ञ का विधान है, इसके उक्त तथ्य की सिद्धि होती है ।१९।२१।

पश्वङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात् ।२१। यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् । २३ अर्थवादश्च तदर्थवत् ।२४। स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ।२५। निष्क्रयश्च तदङ्वत् ।२६। पश्वङ्गं वार्थकर्मत्वात् ।२७। भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ।२८। दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ।२९। अपि वांगानि कानिचिद्येष्वंगत्वेन संस्तुतिः; सामान्यादभिसंस्तवः ।३०। तथाचान्यार्थंदर्शनम् ।३१।

वह रस्सी जिससे पशु को यूप से बाँधा जाता है यूप का अंग है अथवा पशु का यह एक प्रश्न है ? पूर्व पक्ष उसे पशु का अंग वतलाता है क्योंकि वह उसी को बाँधने को आती है । पर मीमांसा कहता कि उस रस्सी का संस्कार यूप के साथ होता है इसलिये वह यूप का ही अंग है । अर्थवाद की दृष्टि से भी रस्सी यूप का ही अंग सिद्ध होती है ।२२-२४। 'स्वरु' यूप का अंग हैं, क्योंकि वह उसी का एक अंश है । उसे यूप का निष्क्रय (छीलन) बतलाया है इससे भी यही सिद्ध होता है । इस पर मीमांसा 'स्वरु' को पशु का अंग वतलाता है, क्योंकि वह पशु के 'अंजन' कर्म में उपयोग में आता है । और यूप का अंश होने पर भी उसके लिये वह किसी दृष्टि से उपयोगी नहीं ।२५-२८। पूर्व पक्ष कहता है कि दर्श तथा पौर्णमास याग में जितने याग है वे सब प्रधान हैं, क्योंकि उनका विधान समान रूप से पाया जाता है । इसका समाधान यह है कि उन यागों में 'आघार' आदि ऐसे कर्म भी हैं जो अंग रूप है । विकृत यागों में प्रयाजों का कथन होने से भी आघारादि अंग रूप सिद्ध होते हैं ।२९-३१।

अवशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् । ३२। नानक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् । ३३ । पृकक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः,श्रुतितो व्यपदेशाच्च, तत्पुनर्मुख्यलक्षणं, यत्फलवत्त्वं, तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गंस्याद्, भागित्वात् कारणस्याश्रुतेश्चान्यसम्बन्धः । ३४ । गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते, नङ्षूपपद्यन्ते । ३५ । तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाभिसम्बन्धैः । ३६ । उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् । ३७ । तथा चान्यार्थदर्शनम् । ३८ । ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् । ३९ । गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात्कारणश्रुतिस्तस्मात्सोमः प्रधानं स्यात् । ४० । तथा चान्यार्थदर्शनम् । ४१ ।

इस पर शंका की जाती है कि यदि अर्थवाद (स्तुति) के कारण 'आधार' को अङ्ग रूप माना जाय तो 'आग्नेय' याग की भी वैसी ही स्तुति पाई जाती है। तब उसको भी अंग रूप मानना चाहिये। इसका समाधान करते हुए मीमांसाकार कहते हैं कि विकृत यागों में 'प्रयाजों' का विधान नहीं मिलता। केवल छैः यागों के दों त्रिकों में दर्श और पौर्णमास का नाम आता है, अन्यत्र उनका उल्लेख नहीं है। श्रुति और व्यपदेश से भी उक्त अर्थ की सिद्धि पाई जाती है। वे त्रिक ही प्रधान याग हैं और उन्हीं का फल कथन किया है। उन यागों के साथ जो अन्य याग सहकारी याग के रूप में किये जाते हैं। और जिनका कोई फल कथन नहीं किया गया वे अंग रूप माने जाने चाहिये। 'आधार' का भी कोई पृथक फल सुनते में नहीं आता, अतः वह भी प्रधान याग के साथ अंग रूप माना जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त 'दर्शपूर्णमास' के जो गुण विधान में है वे आधार आदि के नहीं हो सकते ।३२ ३५। इस पर शंका की जाती है कि जिस प्रकार आधार आदि को अंग कथन करने वाले वाक्य हैं उसी प्रकार

आग्नेय आदि को प्रधान यागों का अंग रूप मानने का कथन भी श्रुति में पाया जाता है। उसका समाधान यह है कि जीव मात्र की उत्पत्ति की दृष्टि से आग्नेय आदि को यज्ञ के सिर की उपमा दी गई है। उसका अभिप्राय अंग या अंश होना नहीं मानना चाहिए। अंगता का स्पष्ट उल्लेख 'आधार' आदि के लिये ही पाया जाता है।३६-३७। दर्श और पौर्णमास यागों में आहुतियों की जो संख्या बताई गई है उससे भी यह आशय प्रकट होता है।३८। ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत जो अन्य याग किये जाते हैं उनका समानता के रूप में वर्णन किया गया में, अतः उनको समान रूप में प्रधान मानना चाहिए ३९। इसका निराकरण करते हुए मीमांसा कहता है कि 'ज्योतिष्टोम' के अन्तर्गत होने वाले सोम-याग से उसका जो सम्बन्ध है उसके आधार पर उसे प्रधान माना जाना चाहिए पर 'दक्षिणीय' आदि अंग स्वरूप याग ही माने जाते हैं। श्रुति में भी 'दक्षणीय' का अंग रूप से ही वर्णन पाया जाता है।४०-४१।

[इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य यज्ञ-सम्बन्धी प्रयोजन और प्रयोज्य विषयों का विवेचन करना है। प्रत्येक कर्म में कौन मुख्य है और कौन उसका अंग या साधन रूप है इस विषय पर बड़े विस्तार के साथ विचार किया गया हैं और छोटी-छोटी बातों का भी निर्णय तर्कों और प्रमाणों द्वारा किया गया है। इससे विदित होता है कि उस समय में यज्ञ विधि बहुत विस्तृत और पेचीदा हो गई थी और उसकी क्रियाओं के सम्बन्ध में पण्डितों अथवा कार्य-कर्त्ताओं में मतभेद उत्पन्न होता रहता था। महर्षि जैमिनि ने मतभेद के आधार पर उत्पन्न इसी प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए इस अध्याय में प्रयत्न किया है। इसमें उन्होंने प्रत्येक विषय में पूर्व पक्ष द्वारा उठाई गई शंकाओं को प्रथम कथन करके तत्पश्चात् श्रुति के प्रमाणों से

उसका ठीक रूप प्रतिपादित किया है। उन्होंने यहाँ तक विचार किया है कि यज्ञ में पशुओं को बाँधने के लिये जो लकड़ी के 'यूप' बनाये जाते हैं उनका बक्कल तथा छीलन ही यज्ञ में 'स्वरु' के रूप में ग्रहण किया जाय अथवा उसे अन्य प्रकार की लकड़ी लाकर भी प्रस्तुत किया सकता है ? पशुओं को बाँधने की रस्सी का सम्बन्ध यूप से माना जाय या पशु से ? 'प्रणीता' नामक यज्ञीय-जलपात्र में शेष जल को वेदी पर छिड़कना मुख्य कर्म है या सहायक कर्म है ? मिट्टी के बर्तनों का नित्य कर्म में उपयोग किया जाय या नहीं ? कौन कर्म और द्रव्य नित्य है तथा कौन नैमित्तिक ? एक प्रकार के यज्ञ में जो कई प्रकार के अंग-स्वरूप संस्कार, क्रियाएँ तथा उपकर्म होते हैं उनमें से किसको मुख्य और किसको गौण माना जाय ?

मीमांसा-दर्शन में इस सम्बन्ध से जो विवेचन किया गया है उससे प्रकट होता है कि उस युग में यज्ञ-याग ही सबसे मुख्य और सर्वत्र प्रचलित सामाजिक कार्य और उत्सव माने जाते थे। उनका उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति तो माना ही जाता था, पर सम्भवतः सामाजिक प्रतिष्ठा और प्रभाव भी उनके आधार पर ही प्राप्त होता था। इसीलिये स्थान-स्थान पर उनके लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के लाभों का उल्लेख किया गया। जैसे आजकल विवाह यज्ञोपवीत, मुण्डन और दाह-संस्कार में भिन्न-भिन्न स्थानों की प्रथाओं और क्रियाओं में कई प्रकार का अन्तर दिखाई पड़ता है और पुराने तथा नये विचार के लोगों द्वारा की गई व्यवस्था, सजावट तथा सामग्री में भी बहुत कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार की अवस्था उस समय भी उपस्थित हो गई होगी और उन क्रियाओं के कराने वाले पण्डित तथा यज्ञ कराने वालों में अनेक विषयों पर मतभेद पैदा होता

होगा। इसलिये महर्षि जैमिनि ने मीमांसा-दर्शन द्वारा इस वात का उद्योग किया कि इन विषयों का स्पष्टीकरण करके एक ऐसी सर्वमान्य तथा देशव्यापी पद्धति निश्चित कर दी जाय जिससे यज्ञ-कार्य में किसी प्रकार का मतभेद और व्याघात उत्पन्न न हो। यद्यपि समय और परिस्थितियों के बदल जाने से आज हमको इन अनुषंगिक विषयों को महत्ता अनुभव नहीं होती, पर उस समय इनकी आवश्यककता अनुभव की जाती थी और इसी से महर्षि जैमिनि ने प्रत्येक क्रिया के यथातथ्य रूप का निर्णय करने का प्रयत्न किया है।]

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥



पंचम अध्याय

प्रथम पाद

[चौथे अध्याय में यज्ञीय कर्मों के 'प्रयोज्य-प्रयोजक' भाव का वर्णन किया गया है। अब पाँचवें अध्याय में यज्ञ सम्बन्धी विविध कर्मों के क्रम पर विचार किया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रुति के वाक्य ही सबसे मुख्य प्रमाण हैं। जहाँ कोई विशेष स्थिति हो वहाँ वाक्यों के आन्तरिक आशय के अनुसार भी निर्णय किया जा सकता है। तात्पर्य यही है कि विविध कर्मों को क्रम से करने पर ही इष्ट फल की प्राप्ति सम्भव होती है।]

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥ १ ॥ अर्थाच्च ॥ २ ॥ अनियमोऽन्यत्र ॥ ३ ॥ क्रमेण वा नियम्येत, क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥ ४ ॥ अशाब्द इति चेत्स्याद्वाक्य शब्दत्वात् ॥ ५ ॥ अर्थकृते चाऽनुमानं स्यात्क्रत्वेकत्वे, परार्थवात्स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धस्तस्मात्स्वशब्दमुच्यते ॥ ६ ॥ तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ७ ॥ प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥ ८ ॥ सर्वमिति चेत् ॥ ९ ॥ नाकृतत्वात् ॥ १० ॥

श्रुति में प्रतिपादित यज्ञ – विधान में विभिन्न कर्मों का जो क्रम नियत कर दिया गया है, वही प्रधान है। पर कहीं कहीं वाक्यों के मूल आशय को समझ कर स्वाभाविक क्रम अपनाया जा सकता है। जैसे विधान में पहले लिखा है कि 'अग्निहोत्र किया जाय।' और फिर लिखा है कि "यज्ञार्थ लपसी पकावे।" अब यहाँ पर लपसी पकाने का

आदेश दूसरे नम्बर पर दिया गया है, पर बिना लपसी के प्रस्तुत हुए अग्निहोत्र हो ही नहीं सकता। इसलिए यहाँ कार्य की व्यवस्था को ध्यान में रख कर क्रम निश्चित करना चाहिये ।। १–२ ।। जहाँ इन दोनों का अभाव हो वहाँ अपनी समझ से जिसे ठीक समझा जाय उसी को पहले कर लिया जाय। ३। यज्ञ में 'प्रयाजों' के अनुष्ठान में क्रम और नियम रखना चाहिए। ४। इनमें शङ्का है कि पाठक्रम का ज्ञान शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। वाक्य या शब्दों से पदार्थों का ही बोध हो सकता है। इसका समाधान है कि क्रम शब्दों द्वारा नियन्त्रित नहीं तो भी याग – क्रिया में अङ्गों की प्रधानता की दृष्टि से क्रम का पालन करना ही ठीक है। ५–६। पाठक्रम के जो बाधक अर्थ लिखे हुए मिलते हैं उनसे भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। ७। इसी तरह पशु संस्कारों में भी एक के पश्चात दूसरे का क्रम जानना चाहिए। ८। शङ्का है कि उक्त संस्कार सब पशुओं के एक साथ क्यों न किए जाय। इसका समाधान है कि श्रुति में ऐसा विधान नहीं पाया जाता है। ९–१०।

क्रत्वन्तरवदिति चेत् ।११। नासमवायात् ।१२। स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ।१३। मुख्यक्रमेण वाङ्गानां तदर्थत्वात् ।१४। प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद्यथाक्रमं प्रतीयेत् ।१५। मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्प्रयोगरूपसामर्थ्यात्तस्मादुत्पत्तिदेशः सः ।१६। तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात् ।१७। विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति ।१८। विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्वाद्यथाशिष्टम् ।१९। अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनुमानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ।२०।

पुनः शंका की जाती है जैसे 'सौर्य' आदि यागानुष्ठान में सब संस्कार एक साथ होते हैं वैसे ही पशुओं में क्यों न किये जायें ? समाधान है कि पशुओं का दान एक साथ न किया जाकर अलग-अलग होता है, इसलिये उनका संस्कार भी एक--एक करके क्रम से होना ठीक है । ११--१२ । कहीं क्रम का ज्ञान स्थान के अनुसार भी होता है । १३ । इसलिए मुख्य-- याग में कर्मों का जो क्रम नियत हो उसके अंगों में भी उसी क्रम के अनुसार कार्य करना चाहिए । १४ । 'पौर्णमास' याग में मुख्य--क्रम के स्थान पर अंगों का अनुष्ठान पाठक्रम के अनुसार करना चाहिए, क्योंकि उसके सम्बन्ध में उस प्रकार का स्पष्ट विधान मिलता है । १५ । यदि कर्मों के क्रम के सम्बन्ध में वेद मन्त्रों तथा ब्राह्मण तथा ग्रंथों में किसी प्रकार का विरोध दिखाई दे तो उस अवस्था में 'ब्राह्मण---ग्रन्थों' के बजाय मन्त्र--पाठ को प्रधानता देनी चाहिए । १६ । प्रतिपक्षी कहता है कि विकृत – याग के क्रमानुसार ही होना चाहिए । इसका उत्तर है कि यदि दोनों प्रकार के क्रमों में कहीं विरोध दिखाई दे उसे प्रकृति क्रमानुसार ही करना चाहिए । १७–१८ । शङ्का है कि आग्नेय आदि तीनों विकृति—यागों के लिए उतना ही समय लगाना चाहिए जितना 'साकमेध' आदि प्रकृति यागों में लगाया जाता है, क्योंकि विकृति यागों में प्रकृति यागों का आधार ग्रहण करना चाहिए । १९ । इसका समाधान है कि उक्त तीनों याग जिन समयों में लिखे हैं उन्हीं में करने चाहिए । प्रकृति याग कालों में ही उन्हें किया जाय ऐसी बात नहीं कही गई है । २० ।

कालोत्कर्ष इति चेत् । २१ । न तत्सम्बन्धात् । २२ । अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तम् उत्कर्षे स्यात् । २३ । तदादि वाऽभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् । २४ । प्रवृत्त्या कृतकालानाम् । २५ । शब्दविप्रतिषेधाच्च । २६ । असंयोगात्त वैकृतं

तदेव प्रतिकृष्येत ॥ २७ ॥ प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात् ॥ २८ ॥ तथापूऽर्वम् ॥ २९ ॥ सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वै गुण्यात् ॥ ३० ॥

फिर शङ्का है कि इन कालों का आशय अगामी दिन के उन्हीं कालों से भी लगाया जा सकता है, तो इसका उत्तर देते हैं कि ऐसी बात नहीं है, इन प्रातःकाल आदि कालों का उसी एक ही दिन से सम्बन्ध है । २१–२२ । पूर्वपक्ष का कथन है कि 'ज्योतिष्टोम' याग के 'अनुयाज' और 'प्रयाज' दोनों में जैसे दिन बढ़ाया और घटाया जाता है वैसा ही होना चाहिए । इससे प्रधान याग के अंगों को अपने-अपने काल का लाभ मिल जाता है ? इसका उत्तर है कि इन अंगों को जिस क्रम से करना कहा गया है उसी प्रकार होना चहिए । काल का ध्यान रख कर यदि उस क्रम में अन्तर कर दिया जायगा तो अनुष्ठान का उद्देश्य ही नष्ट हो सकता है । २३–२४ । जिन प्रोक्षाणादि कर्मों का अनुष्ठान काल ज्ञात होता है उनका प्रथम अनुष्ठान होना चाहिए । शब्दार्थ का विरोध होने पर भी उक्त अर्थ सिद्ध होता है ।।२४–२६।। विकृति मात्र यूप का छेदन और अपकर्ष होना चाहिए ।।२७।। पुरोडाशों पर उपकार करने वाला अनुयाज कर्म दक्षिणाग्नि में होने वाले 'पिष्टलेप होम' और 'फलीकरण होम' का उत्कर्ष (ऊपर के प्रकरण से सम्बन्धित) नहीं कर सकता । २८ । जैसे प्रयाज उक्त दोनों होमों का उत्कर्ष नहीं हो सकता वैसे ही प्राकृत वेदि अभिवासान्त अङ्ग समूह का आकर्षक (नीचे वाले प्रकरण से सम्बन्धित) नहीं हो सकता ।। २९ ।। पूर्वपक्ष है कि प्रातः सवन उत्कर्ष को प्राप्त होकर माध्यन्दिन सवन का भी उत्कर्ष करता है उसी तरह 'सान्तारनीया' नामक इष्टि भी अग्नि होत्र का उत्कर्ष करती है । यदि ऐसा न किया जाय तो कर्म गुण रहित हो जाता है । यदि इसे न माना जाय तो उक्त दोनों कर्मों में व्यवधान हो जाता है ।।३०-३१।।

अव्यवायाच्च ॥ ३१ ॥ असम्बन्धात्तु नोत्कर्षेत् ॥ ३२ ॥ प्रापणाच्च निमित्तस्य ॥ ३३ ॥ सम्बन्धात्सवनोत्कर्षः ॥ ३४ ॥ षोडषी चोक्थ्यसंयोगात् ॥ ३५ ॥

इस पर मीमांसाकार का कथन है कि यदि उक्त इष्टि स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हो जाय तो उससे अग्निहोत्र का उत्कर्ष नहीं हो सकता क्योंकि उन दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं। अग्निहोत्र का समय सायंकाल रखा गया है यह नहीं कहा गया है कि 'सान्तापनीया' इष्टि के समाप्त होने पर अग्निहोत्र उसके पश्चात् ही किया जाय। अतः अग्निहोत्र अपने नियत समय सायंकाल को ही होना चाहिये ॥ ३२–३३ ॥ यदि प्रातः सवन से माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष होता है तो उसका कारण यह है कि वे परस्पर सम्बन्धित हैं ॥ ३४ ॥ इसी प्रकार 'उक्थ्य' ग्रह के उत्कर्ष से षोडशी ग्रह का भी उत्कर्ष होता है, क्योंकि वे दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं ॥ ३५ ॥

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥ १ ॥ सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥ २ ॥ कारणादभ्यावृत्तिः ॥ ३ ॥ मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकेन ॥ ४ ॥ सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेषां तद्गुणत्वात् ॥ ५ ॥ संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥ ६ ॥ वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादिः स्यात् ॥७॥ कारणाद्वाऽनवसर्गः स्याद्यथा पात्रवृद्धिः ॥ ८ ॥ न वा शब्दकृतत्वान्न्या-

यमात्रभितरद्दर्थात्पात्रविवृद्धिः । ६ । पशुगुणे तस्ये तस्याप-वर्जयेत् पश्वेकत्वात् । १० ।

बाजपेय याग में दान दिये जाने वाले पशुओं के 'उपकरण' आदि संस्कार समग्र रूप कर देना चाहिये यह पूर्व पक्ष का कथन है ? इसका समाधान यह है कि समस्त पशुओं का एक संस्कार एक साथ करके तब दूसरा संस्कार तत्पश्चात् किया जाय। पर यदि कोई बहुत बड़ी बाधा सामने आ जाय तो एक-एक पशु का समग्र रूप से भी संस्कार किया जा सकता है । १–३ । मुष्टि, कपाल, अवदान, अञ्जन, अभ्यञ्जन, वपन तथा पावन इस संस्कारों में एक-एक का निर्वाप आदि रूप अनुष्ठान होना चाहिये। इसका समाधान है कि ये सब संस्कार एक ही कार्य की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, अतः इन्हें एक साथ ही करना चाहिये । ४--५ । अवदान संयुक्त होम प्रकरण में जो केवल अवदान से उपक्रम किया गया है वह होम पर्यन्त समझना चाहिये ।६। अञ्जन आदि सम्पूर्ण संस्कारों का समग्र रूप से अनुष्ठान होना चाहिये क्योंकि श्रुति वाक्य का ऐसा ही आशय है । ७ । पूर्व पक्ष कहता है कि 'अनुयाज' नामक होमों में 'पृषराज्य' धारणार्थ पत्रान्तर की कल्पना करली जाती है, वैसे ही प्रकृति यागों में अध्वर्यु रूप सहकारी न मिलने पर 'अवस्टजेत' की कल्पना होनी चाहिये। इसका उत्तर है कि विधान् वाक्य के अनुसार प्रत्येक यूप में समग्र रूप से ही अनुष्ठान होना चाहिये । ८--९ । पूर्व पक्ष कहता है कि प्रत्येक दान दिये जाने वाले पशु के उद्देश्य से जो एक-एक पुरोडाश हवन किया जाता है, उनमें एक-एक पुरोडाश में यावत अवदानों का अनुष्ठान होना चाहिये । १० ।

दैवतैर्वैककर्म्यात् । ११ । मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् । १२ । नानाबीजे एकमुलूखलं विभवात् । १३ । विवृद्धिर्वा नियमानु-

पूर्व्यस्य तदर्थत्वात् । १४। एकं वा तण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थ-त्वात् । १५। विकारे त्वनयाजानां पात्रभेदोऽर्थदात् स्यात् । १६। प्रकृतः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम् । १७। मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रु तित्वादशव्द-त्वात्प्राकृतानां व्यवायाः स्यात् । १८। अन्ते तु वादरायण-स्तेषां प्रधानशव्दत्वात् । १९। तथा चान्यार्थदर्शनम् । २०। कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देश, स्यात्ः तेनप्रत्यक्षसंयोगान्न्यायमात्र-मितरत् । २१। प्राकृताच्च पुरस्ताद्यत् । २२। सन्निपातश्चे-द्यथोक्तमन्ते स्यात् । २३।

उपरोक्त कथन का समाधान करते हु' कहते हैं कि प्रत्येक पुरोडाश का प्रथम 'दैवत', फिर 'सौत्रिषकृत' तत्पश्चात् 'एड' अवदान होकर फिर होम होना चाहिये, क्योंकि ये तीनों अवदान पृथक-पृथक होने पर भी एक ही कर्म हैं । ११ । अवदान काल में जो मन्त्र पढ़ा जाता है उसके उच्चारण लाघव होने से भी उक्त अर्थ ही ठीक है ।१२। यज्ञ-कर्म के लिए जो अन्न द्वारा प्रस्तुत इष्टियां हों उनके लिए अन्न स्वच्छ करने के लिये एक ही ऊखल पर्याप्त है। पूर्व पक्ष का कथन है कि विधान में अन्नों का कई प्रकार से संस्कार करने का जो नियम बताया है उस दृष्टि से कई ऊखल होने चाहिये। इसके उत्तर में मीमांसा उक्त वाक्य का आशय का आशय एक ही ऊखल होना बत-लाता है । १३--१५ । अग्निषोमीय पशु-याग में अनुयाज तथा प्रयाज के पात्र का भेद होना चाहिये । १६ । प्रकृत यागों में 'नारिष्ट होमों' का वर्णन पहले आया है इसलिए उपहोम उनके अन्त में होना चाहिये। क्योंकि प्रधान से पूर्व गौण को स्थान नहीं दिया जा सकता । १७। आत्रेय मुनि का मत है कि प्रधान होमों के पश्चात् और नारिष्ट होमों से पूर्व 'उप-होमों' का अनुष्ठान होता है क्योंकि प्रधान होमों की तरह

उनका विधान इसी प्रकार श्रुति में बताया गया है। नारिष्ट होमों का उप-होमों के पीछे अवश्य अनुष्ठान होना चाहिये क्योंकि वह आनुमानिक है ॥ १८ ॥ पर बादरायण मुनि इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि प्रकृति यागों में नारिष्ट होमों का प्रथम विधान किया गया है और उप-होमों का तत्पश्चात्, इसलिए उसी क्रम से अनुष्ठान उचित है। कहा गया है कि अग्निषोमीय की अपेक्षा आग्नेय याग प्रथम होना चाहिये क्योंकि 'अग्निषोम की अपेक्षा अग्नि' की उपस्थिति प्रथम होती है ॥ १९-२० ॥ राजसूय याग में विनदेवादि क्रियायें माहेन्द्र स्त्रोत के साथ अभिषेकपूर्व सम्पन्न होनी चाहिये ॥२१॥ जिसका प्राकृत दृष्टि से पूर्व पाठ किया गया हो उसका अनुष्ठान भी पूर्व ही होना चाहिये ॥२२॥ यदि प्रकृति और विकृति दोनों संस्कारों का एक साथ करने का अवसर आ जाय तो वैकृत का प्राकृत से पश्चात् अनुष्ठान होना चाहिये ॥ २३ ॥

॥ द्वितीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्य तस्तोपदियेत ॥ १ ॥ अपि वा सर्वसङ्ख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत् ।२। स्वस्थानात्तु विवृध्येरन्कृतानुपूर्व्यत्वात् ।३। समिध्यमानवतीं समद्धिवतीं चान्तरेण धाम्याः स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात् ।४। तच्छब्दो वा ।५। उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् ।६। स्तोम विवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्युरतया हि दृष्टं द्वादशाहे ।७। पर्यास इति चान्तख्या ।८। अन्ते वा तदुक्तम् ।९। वाचनात्तु द्वादशाहे ।१०।

पूर्व पक्ष का कथन है कि जिस प्रकार प्रत्येक अनुयाज के साथ 'पृषदाज्य' के सम्बन्ध का विधान है, वैसे ही प्रत्येक 'प्रयाज' के साथ एकादश संख्या के सम्बन्ध का विधान किया गया है। इसलिए प्रयाज भेद से एकादश संख्या की भी अनुपात के अनुसार वृद्धि होनी चाहिए। इसके समाधान में कहा गया है कि एकादश संख्या की पूर्ति के लिए सब प्रयाजों की द्विरावृत्ति होकर अंतिम प्रयाज की द्विरावृत्ति होनी चाहिए। उक्त एकादश संख्या सब प्रयाजों के लिए विधान की गई है। १-२। अपने-अपने स्थान में प्रत्येक उपसद् की द्विरावृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रकृति-याग में उनके अनुष्ठान का यही क्रम नियत किया गया है। ३। पूर्व पक्ष कहता है कि 'समिध्यमान तथा सामिध्य' पद वाली दोनों सामधेनियों के मध्य में निवेश होना चाहिए क्योंकि वाक्य शेष में द्यावा-पृथिवी शब्द से उक्त दोनों स मधेनियों का उल्लेख करके उनके मध्य में 'धाम्या' नाम से आगन्तुक मन्त्रों का कथन किया है। ४। इसका समाधान है कि उक्त वाक्य-शेष में जो 'धाम्या' पद आया है उसका आशय समस्त आगन्तुक मन्त्रों से नहीं किन्तु केवल दो मन्त्रों से है। ५। उक्त 'धाम्या' नामक दो मन्त्रों के अन्त में 'अध्याम्या' मन्त्र का निवेश पाये जाने से भी यही अर्थ निकलता है। ६। पूर्व पक्ष का कथन है कि 'बहिष्पवमान' स्तोत्र में आगन्तुक मन्त्रों का पर्यास पूर्व निवेश होना चाहिए, क्योंकि 'द्वादशाह' नामक याग में ऐसा ही देखा जाता है। यहाँ पर 'पर्यास शब्द का अर्थ 'बहिष्पवमान स्तोत्र' के अन्तिम तीन मन्त्रों से है। ७–८। इसका समाधान है कि आगन्तुक मन्त्रों के चार आरम्भिक 'त्रिकों' का 'बहिष्पवमान स्तोत्र' के अन्त में निवेश होता है और 'द्वादशाह' के याग में जो आगन्तुक त्रिकों का मध्य में निवेश होता है तो वहाँ उसका वैसा ही विधान पाया जाता है॥ ९–१०॥

अतद्विकारश्च । ११। तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् । १२। अन्ते तत्तरयोर्दध्यात् । १३। अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु वचनात् । १४। ग्रहेष्टकमोपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् । १५। क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वादनान्नपूर्वस्य । १६। अन्ते स्युरव्यवायात् । १७। लिङ्गदर्शनाच्च । १८। मध्यमायां तु वचनाद् ब्राह्मणवत्यः । १६। प्राग्लोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् । २०।

पर 'अतिरात्र' नामक याग में 'द्वादशाह' की भाँति निवेश नहीं हो सकता। 'द्वादशाह' की विकृति 'अहीन-सत्रादि' यागों में भी 'वृषण्वत्' शब्द वाले मन्त्रों से भिन्न मन्त्रों का मध्य में निवेश नहीं हो सकता। ११--१२। पूर्व पक्ष कहता है कि माध्यान्दिन पवमान तथा आर्भव पवमान सामों के आधार पर प्रथम व द्वितीय त्रिक को छोड़ कर अन्तिम त्रिक में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिये । १३। इसका समाधान है कि गायत्री, बृहती तथा अनुष्टुप छन्द वाले मन्त्रों में ही आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिये। १४। पूर्व पक्ष कहता है कि अनारभ्य पठित ग्रह तथा इष्टका में सवन तथा चयन का शेष है। इसका समाधान है कि उक्त ग्रह याग का और इष्टकायें अग्नि का शेष है, क्योंकि विधान में उनको इसी प्रकार अंग रूप बतलाया है।१५-१६। पूर्व पक्ष कहता है कि चित्रिणी आदि इष्टकाओ का उपधान अन्तिम चिति में करना चाहिये क्योंकि इससे पठित इष्टकाओं में व्यवधान नहीं होता। उसके लक्षणों से भी ऐसा ही प्रकट होता है। इसका समाधान है कि चित्रिणी आदि इष्टकाओं का मध्यम चित में उपधान होना चाहिये, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य से ऐसा ही प्रतीत होता है। १७--१६। 'लोकपृणा' नामक इष्टकाओं से प्रथम चित्रिणी आदि का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिये, क्योंकि 'लोकपृणा' केवल छिद्रों को भरने के लिए है। २०।

संस्कृते कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात् । २१ । अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् । २२ । पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् । २३ । अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् । २४ । न्यायविप्रतिषेधाच्च । २५ । सञ्चिते त्वग्नि चिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य । २६ । क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् । २७ । अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् । २८ । परेणाऽऽवेदनाद्दीक्षितः स्यात्, सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात् । २९ । इष्ट्यन्तेवा तदर्था ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् । ३० ।

जो अग्नि पवमानेष्टि संस्कारों द्वारा संस्कारित हो, उसमें अग्निहोत्र करना कर्म-कर्तव्य है । २१ । आधान कर्म के अनन्तर आहिताग्नि व्रत कर्तव्य है, क्योंकि उसका आधान से सम्बन्ध है । २२ । पवमानेष्टियों से पहले अग्निहोत्रादि कर्म करना विधेय है । २३ । यह पूर्व पक्ष का कथन है । इसका समाधान यह है कि यह वाक्य अर्थवाद (स्तुति-रूप) है और 'ब्रह्मवादिनो मीमांसन्ते" वाक्य से भी नित्याग्निहोत्रादि कर्मों का निषेध प्रकट होता है । २४--२५ । अग्नि का चयन हो जाने पर अग्निचित्र नामक व्रत का अनुष्ठान कर्तव्य रूप है । इसका समाधान करते हुए कहा है कि यह व्रत याग समाप्त हो जाने पर करना चाहिये । चयन के बाद व्रत का विधान कहीं नहीं पाया जाता । २६--२७ । अग्नि का कर्म कारक द्वारा कथन होने से भी उक्त अर्थ सिद्ध नहीं होता । २८ । अध्वर्यु के कहने के पश्चात् दीक्षित व्यवहार करना चाहिये । दीक्षा सम्बन्धी वाक्यों से इष्टि, दण्ड आदि पदार्थों के साथ दीक्षा का सम्बन्ध पाया जाता है, 'दीक्ष पीया' नाम से भी यही आशय प्रतीत होता है । २९--३० ।

समाख्यानं च तद्वत् । ३१ । अंगवत्क्रतूनामानुपूर्व्यम् । ३२ । न वाऽसम्बन्धात् । ३३ । काम्यत्वाच्च । ३४ । आनर्थक्यान्नेति चेत् । ३५ । स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्व-

स्वरात् । ३६ । य ऐतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् । ३७ । लिंगाच्च । ३८ । अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात् । ३९ । तत्प्रकृतेर्वाऽऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते । ४० । प्रशंसा च विहरणाभवात् । ४१ । विधिप्रत्ययाद्वा, न ह्येकस्यात् प्रशंसा स्यात् । ४२ । एकस्तोमो वा क्रतुसंयोगात् । ४३ । सर्वेषां वा चोदना विशेषात्प्रशंसा स्तोमानाम् । ४४ ।

पूर्व पक्ष का कथन है कि प्रयाज आदि अंग कर्मों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार होता है। वैसे ही काम्ययागों का अनुष्ठान भी पाठक्रम के अनुसार ही होना चाहिये । ३१ । इसका समाधान है कि उक्त यागों में कोई सम्बन्ध न होने से पाठक्रमानुसार अनुष्ठान की बात सिद्ध नहीं होती। इसके साथ ही काम्ययागों के लिए इस प्रकार का विधान भी नहीं पाया जाता । ३१-३३ । इस पर शङ्का की जाती है कि काम्य-यागों का अनुष्ठान भी इच्छानुसार नहीं करना चाहिये ? ऐसा पाठक्रम निरर्थक सिद्ध हो जाएगा ? इसका उत्तर यह है कि जैसे नित्ययागों में 'सर्वसार' होम ज्ञानार्थ होने से सफल हो जाता है वैसे ही काम्यकर्मों का पाठक्रम भी ज्ञानार्थ होने से सफल समझा जा सकता है । ३४-३५ । सब यागों से पूर्व 'अग्निष्टोम' याग का अनुष्ठान आवश्यक है, क्योंकि प्रकरण में इसका कथन है और अन्य प्रमाणों से भी वह सिद्ध होता है । ३६-३७ । पूर्व पक्ष है कि ज्योतिष्टोम की शेष छै संस्थाओं के पूर्व भी अग्निष्टोम का अनुष्ठान किया जाना चाहिये ? । ३९ । इसका उत्तर है कि उक्त वाक्य से छै संस्थाओं का ही नहीं 'एकाह' आदि सम्पूर्ण यागों का भी तात्पर्य है । ४० । उक्त कथन में यह शङ्का की जाती है कि 'अग्निष्टोम' के सम्बन्ध में यह मत प्रशंसा रूप है। विकृति-याग होने के कारण एकाह आदि में आपत्ति और बिहार नहीं बन सकते । ४१ । इसका समाधान करते हैं कि विधि प्रत्यय

से आपत्ति विहार का कथन ठीक जान पड़ता है क्योंकि धर्म प्राप्ति के बिना प्रशंसा भी उत्पन्न नहीं हो सकती । ४२ । पूर्व पक्ष का कहना है कि 'अन्येन' शब्द से एक स्तोम याले याग का अर्थ ठीक जान पड़ता है इसका समाधान यह है कि 'अन्येन' शब्द से 'एकस्तोमक' और 'अनेक स्तोमक' सभी यागों को ग्रहण करना चाहिये । ४३–४४ ।

। तृतीय पाद समाप्त ।

चतुर्थ पाद

क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च । १ । अवदानाभिधारणाऽऽसादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात् । २ । यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् । ३ । लिङ्गदर्शनाच्च । ४ । वचनादिष्टिपूर्वत्वम् । ५ । सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तु नक्षत्राऽतिक्रमवचनात् तदर्थे नानर्थकं हि स्यात् । ६ । तदर्थं वचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वं । ७ । अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालविधाना दानन्तर्याद्विशङ्का स्यात् । ८ । इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् । ९ । उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् । १० ।

पाठक्रम का महत्व अर्थक्रम और श्रौतक्रम से कम पड़ जाता है, ये दोनों पाठक्रम की अपेक्षा प्रबल हैं । १ । अवदान, अभिघारण तथा आसादन इन तीनों का क्रम प्रवृत्ति क्रमानुसार होना चाहिये, यह पूर्व पक्ष है ? इसका समाधान है कि इन तीनों कर्मों का अनुष्ठान प्रदान के क्रमानुसार होना चाहिये। प्रमाण से यह होता है । २–४ । पूर्व पक्ष कहता है कि दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग करना कर्तव्य है ? इसका समाधान है कि कई शाखाओं में अग्न्याधान

सम्बन्धी वाक्य पाया जाता है, तदनुसार ज्योतिष्टोम अग्न्याधान के पश्चात होना चाहिए। विधान में अग्न्याधान ज्योतिष्टोम के अर्थ ही करने का वाक्य पाया जाता है। अग्न्याधान के पश्चात ज्योतिष्टोम न करने वाले पुरुष के प्रति पवमान हवियों की कर्तव्यता का कथन किया गया है उससे भी यही नियम ठीक प्रतीत होता है। अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम न करने वाले पुरुष को दर्शपूर्णमास याग करना अनिवार्य हो जाता है। ५-९। ब्राह्मण का ज्योतिष्टोम याग दर्श-पूर्णमास याग से पूर्व होना चाहिये, क्योंकि उत्कर्षता के नियम से ऐसा ही विधान पाया जाता है ? यह पूर्व पक्ष है, इसके सम्बन्ध में आगामी सूत्र में शङ्का करते हैं।१०।

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात्। ११। सर्वस्य चैककर्मत्वात्। १२। स्याद्वा विधिस्तदर्थेन। १३। प्रकरणात्तु-कालः स्यात्। १४। स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात्। १५। अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात्। १६। पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमाद् ब्राह्मणस्य वचनात्। १७। एकं वा शब्दसामर्थ्यात्प्राक् कृत्स्नविधानम्। १८। पुरोडाशस्त्वनिर्देशां तद्युक्ते देवताभावात्। १९। आज्यमपीति चेत्। २०।

कदाचित् ज्योतिष्टोम के अनन्तर केवल पौर्णमास याग करना ही कर्तव्य है, क्योंकि अर्थवाद वाक्य में केवल पौर्णमास शब्द ही पाया जाता है ? इस शङ्का का समाधान यह है कि उक्त वाक्य में 'पौर्णमास' शब्द से 'दर्शपौर्णमास याग' का ही आशय है, क्योकि वे दोनों मिल कर एक ही कर्म हैं। ११-१२। यह भी हो सकता है कि उक्त वाक्य में 'पौर्णमास' शब्द 'दर्शपौर्णमास' याग का परिचायक न हो वरन् उससे ज्योतिष्टोम याग के ही किसी अन्य अङ्ग के अनुष्ठान का अभिप्राय हो ? इसका समाधान यह कि उक्त अर्थवाद वाक्य में

ज्यतिष्टोम याग के पश्चात् 'दर्शपौर्णमास' याग का आनन्तर्य रूप काल का विधान मानना ठीक है ।१३-१४ । पूर्व पक्ष है कि ज्योतिष्टोम याग अपने काल में होना चाहिए क्योंकि प्रधान होने के कारण उसके काल में बाधा नहीं पड़ सकती ? इसका समाधान है कि विधान में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध पाया जाता है अग्न्याधान के काल का नहीं । १५-१६ । पर ब्राह्मण द्वारा किये गए ज्येतिष्टोम याग के पीछे पौर्णमास याग का अनुष्टान नियम से होना आवश्यक है । १७ । शब्दों का अर्थ करने से यह भी प्रकट होता है कि 'अग्निषोमीय' से पूर्व ब्राह्मण कर्तृक ज्योतिष्टोम याग कर्तव्य है । १८ । पर ऊपर के विधान में 'अग्निषोमीय' के साथ याग शब्द न आने से केवल पुरोडाश याग का अर्थ ग्रहण करना ही उचित है । १९ । दूसरा मत यह है कि उक्त अग्यिषोमीय याग से आज्य यागका ग्रहण करना चाहिए ।२०।

न मिश्रदेवतात्वात्वादैन्द्राग्नवत् । २१ । विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिस्तयोः प्रत्यक्षाशष्टत्वात् ।२२। द्वैयहक्काल्ये तु यथान्यायम् ।२३। वचनाद्वैककाल्यं स्यात् ।२४। सान्नाय्याग्नीषोमीयविकराद्दूर्ध्वं सोमात्प्रकृतिवत् ।२५। तथा सोमविकरा दर्शपूर्णमासाभ्यास ।२६।

उपरोक्त सूत्र के मत का समाधान करते हुए कहते हैं कि जैसे ऐन्द्राग्न-याग मिश्र देवताक है वैसे ही आज्य-याग मिश्र भी देवता है । २१ । प्रकृति याग के अनन्तर होने वाले 'एन्द्राग्न' आदि विकृति-याग एक दिन में पूर्ण होने वाले हों, क्योंकि विकृति यागों मे प्रकृति-कालता का नियम है । २२ । इस पर पूव पक्ष का कथन है कि उक्त यागों के दो दिन व्यापी होने पर भी 'प्रकृतिवाद विकृति कर्तव्या' इस वाक्य का विरोध नहीं होता ? इसका समाधान है कि उक्त याग एक ही दिन में हो, ऐसा वावय विशेप पाया जाता है ।।२३—२४।।

जैसे 'सांनाय्य' तथा 'अग्निषोमीय' दोनों याग ज्योतिष्टोम के पश्चात् होते हैं वैसे ही उक्त दोनों यागों के विकृति याग पीछे होने चाहिये और जैसे सांनाय्य तथा अग्निषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग के पीछे होता है वैसे ही ज्योतिष्टोम के विकृति यागों का अनुष्ठान 'दर्शपौर्णमास' याग के पीछे होना चाहिये। २५-२६।

[इस अध्याय में जिस 'कर्मों के क्रम' का निरूपण किया गया है वह एक ऐसा विषय है कि जिसका महत्व वर्तमान समय में बहुत थोड़े लोग ही हृदयंगम कर सकते हैं। पर जिस युग में इस देश में यज्ञों की धूम थी और राजा तथा बड़े धनवान लोग ही यज्ञ-याग नहीं करते थे वरन् ब्राह्मण भी दान द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को पुनः परोपकारार्थ यज्ञ कर्म में ही लगा देते थे, उस समय वे समस्यायें निरन्तर उठती रहती थीं कि कौन कर्म पहले और कौन पीछे किया जाय। काल प्रभाव से ऐसी प्रथा और संस्थाओं में मतभेद उत्पन्न हो ही जाता है और विभिन्न सम्प्रदायों अथवा वंशों के विद्वान् अपना प्रभाव और श्रेष्ठता प्रकट करने के लिए शास्त्र-वाक्यों के पृथक-पृथक अर्थ करके क्रियाओं के कर्म और महत्व में हेर-फेर करने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह देखकर महर्षि जैमिनि ने देश भर की यज्ञ-क्रियाओं में एकरूपता लाने के लिए मीमांसा दर्शन की रचना की और उसमें ऐसा प्रयत्न किया कि यज्ञ सम्बन्धी समस्त मतभेदों और भिन्नताओं का अन्त हो जाय। इसलिए उन्होंने प्रत्येक विषय को शङ्का समाधान या प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा जिससे प्रति-पक्षियों की शङ्काओं का निवारण हो जाय अथवा महर्षि जैमिनि के अनुयाइयों को आवश्यकता पड़ने पर अपनी प्रणाली और रीति-नीति का समर्थन करने की सामर्थ प्राप्त हो जाय। यही कारण है कि उन्होंने प्रधान और गौण यागों तथा उसके अंगों के अनुष्ठान की विधियों का बहुत ही छान-बीन

कर विवेचन किया और मूल सिद्धान्तों के साथ ही छोटी-बड़ी प्रत्येक क्रिया के सम्बन्ध में जो शङ्का प्रचलित थीं उनका पूरी तरह निराकरण कर दिया।

यद्यपि अब प्राचीन यज्ञों का उस रूप में प्रचलन न रहने से लोग मीमांसा-दर्शन की बातों को सहज में समझ भी नहीं सकते और उनमें जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है तथा जिन युक्तियों से काम लिया गया हैं उनके आशय को ठीक ढङ्ग से ग्रहण नहीं कर सकते, तो भी यह विषय काफी महत्वपूर्ण और आकर्षक है और कुछ न सही तो प्राचीनता के नाते ही प्रत्येक मनुष्य को इसका महत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इससे उस समय की सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है और विदित होता है कि यज्ञ-प्रथा ने सामान्य जनता तथा विशेष वर्ग की लोगों को भी किस प्रकार अभिभूत कर रखा था।



षष्ठ अध्याय

प्रथम पाद

[पाँचवे अध्याय में यज्ञ-सम्बन्धी अनेक प्रकार के अनुष्ठानों, क्रियाओं तथा छोटे-बड़े यज्ञों का क्रम बतलाया गया है कि कौन-सा कर्म किस कर्म के आगे और कौन पीछे करना चाहिये, तथा यह भी कि आवश्यकता पड़ने पर उनमें किस प्रकार परिवर्तन करना शास्त्रानुकूल कहा जा सकता है। अब इस छठे 'अधिकाराध्याय' में यह निरूपण किया गया है कि यज्ञ-कर्मों का अधिकार किसको है और किसको उनका निषेध है।]

द्रव्याणां कर्मसयोगे गुणत्वेनाऽभिसम्बन्धः ।१। असाधकं तु तादर्थ्यात् ।२। प्रत्यर्थं चाऽभिसयोगात् कर्मतोह्यभिसम्वन्धस्तमात्कर्मोपदेशः स्यात् ।३। फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्र सर्वाधिकारं स्यात् ।४। कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते ।५। लिंगविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः ।६। तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ।७। जातिं तु बादरायणोऽविशेषात्; तस्मात् स्यपि प्रतीयेत; जात्यथस्याऽविशिष्टत्वात् ।८। (अ) विभक्त्येति क्षेत्र । चोदित्वाद्यथाश्रुति ।९। द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्याद् द्रव्य संयुक्तं क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यः समानयोगित्वात् ।१०।

पूर्व पक्ष का कथन है कि द्रव्यों का कर्म-संयोग की दृष्टि से गौण स्थान है अर्थात् मुख्य उद्देश्य कर्म है और द्रव्य उसका साधन होने से गौण है? इसका समाधान है कि यज्ञ का उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति है।

यहाँ पर स्वर्ग का आशय प्रीति-प्रेम से है, अतः यत्र कर्म का मूल आशय स्वर्ग अथवा प्रीति ही है, उसे कर्म कहना उपयुक्त नहीं जान पड़ता। जब यह कहा जाता है कि 'स्वर्ग के लिये यज्ञ करो' तब स्वर्ग ही प्रधान हुआ और यज्ञ उसका साधन बन गया।१-३। क्योंकि यज्ञादि कर्मों से श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है और श्रेष्ठ फल की इच्छा सब को होती है, अतः यज्ञ का अधिकार स्त्री–पुरुष सब को है। वैदिक कर्मों के अधिकार सम्बन्धी श्रुतियों में स्त्रियों के यज्ञ कराने का अधिकार निषेध नहीं है।४–५। एतिशायन ऋषि का मत है कि 'श्रुति वाक्य' में पुलिंग में कथन मिलता हैं, इस कारण स्त्रियों का अधिकार स्वीकार नहीं किया जा सकता। अज्ञात भ्रूण (गर्भ) के हनन सम्बन्धी श्रुति से भी यज्ञ का अधिकारी पुरुष ही है।६–७। पर बादरायण आचार्य का मत है कि वेद–वाक्य में पुलिंग समस्त मनुष्य जाति का बोधक है न कि केवल पुरुषों का। इससे यज्ञाधिकार में स्त्रियों का भी अधिकार होना चाहिए। वेद प्रतिपाद्य होने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है।८–९। इसमें शङ्का है कि यज्ञ द्रव्य द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है और द्रव्य पुरुषों के ही अधिकार में रहता है। स्त्रियाँ तो खरीदी और बेची जाती हैं उनका धन पर अधिकार कैसे हो सकता है। ऐसी दशा वे यज्ञ की अधिकारिणी बन कर उसे किस प्रकार सम्पन्न कर सकती है ?।१०।

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ।११। तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ।१२। फलोत्साहाऽविशेषात् ।१३। अर्थेन च समवेतत्वात् ।१४। क्रस्य धर्ममात्रत्वम् ।१५। स्ववत्तामपि दर्शयति ।१६। स्ववतोस्तु वचनादककर्म्यं स्यात् ।१७। लिङ्गदर्शनाच्च ।१८। क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ।१९। फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाऽभिसम्बन्धः ।२०।

स्त्रियों को उनके पिता, भाई आदि बेच देते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उनका सम्पत्ति पर कोई स्वत्व नहीं होता। अगर वे स्वयं परिश्रम करके धनोपार्जन करके यज्ञ करने की बात सोचें तो भी सम्भव नहीं। क्योंकि जब उन पर पति का अधिकार है तो उनका कमाया धन भी उसी का हो जाता है? ।११-१२। अब इसका समाधान करते हैं कि वैदिक कर्मों तथा पुण्य कर्मों का उत्साह पुरुषों की तरह स्त्रियों में भी देखा जाता है। याज्ञवल्क्य के पूछने पर मैत्रेयी ने अपना उद्देश्य मुक्ति ही बतलाया। विवाह-संस्कार के समय भी दम्पत्ति को यह उपदेश दिया जाता है कि तुम दोनों मिल कर धर्म-अर्थ-काम का सम्पादन करो। इससे स्त्री भी धन की अधिकारिणी सिद्ध होती है। स्त्रियों के बेचने की बात गलत है। वह धर्म-क्रिया है जो विधि के अनुसार की जाती है। बेचना तो वह है कि एक निश्चत रकम लेकर नीच-ऊँच का विचार न करके कैसे भी दे दिया जाय ।१३-१५। शास्त्र में दम्पत्ति का एक ही धर्म बतलाया गया है, इससे स्त्रियाँ पति की सम्पत्ति में से उचित धर्म कार्य कर सकती हैं ।१६। शास्त्र में स्त्री–पुरुष दोनों के लिए एक ही धर्म के बोधक वाक्य मिलते हैं। यह भी कहा गया है कि स्त्री-पुरुष दोनों को मिल कर एक कर्म करने से वह पूर्व होता है ।१७–१८। पूर्व पक्ष फिर कहता है कि जब स्त्री का मूल्य लेकर उसे दिया जाता है तब वह धन की स्वामिनी नहीं हो सकती? ।१९। इसका समाधान है कि स्त्री धर्म रूप फल को चाहती है, इसलिये धन से उसका भी सम्बन्ध सिद्ध होता है ।२०।

फलवत्तां च दर्शयति । २१ । द्व्याधानं च द्वियज्ञवत् । २२ । गुणस्य तु विधानत्वात्पत्न्या द्वितीयाशब्दः स्यात् । २३ । तस्या यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् । २४ । चातुर्वर्ण्यमविशेषात् । २५ । निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये

ह्यसम्बन्धः, क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः । २६ । निमित्तार्थे च बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात् । २७ । अपि वाऽन्यार्थ-दर्शनाद्यथाश्रुति प्रतीयेत् । २८ । निर्देशात्तु पक्षे स्यात् । १६ । वैगुण्यान्नेति नेत् ।३० ।

शास्त्र में भी स्त्री-पुरुष के मिल कर यज्ञ करने और उसके द्वारा फलचतुष्टय प्राप्त करने का कथन है ।२१। पूर्व पक्ष है कि जहाँ विधान में 'दो पुरुषों' के अग्न्याधान करने का उल्लेख है वहाँ उसका आशय राजा और उसके पुरोहित के मिल कर यज्ञ करने से है ? ।२२। इसका समाधान है कि दो अग्न्याधान के उल्लेख में 'दूसरे' का आशय पत्नी से ही है । साथ ही शास्त्र में यह भी आया है कि यद्यपि स्त्री की योग्यता वेदाध्ययन और आशीर्वाद की दृष्टि से पुरुष तुल्य नहीं होती पर उसे यज्ञ में अग्न्याधान का अधिकार है ।२३-२४। पूर्व पक्ष है कि चारों वर्णों का वैदिक कर्मों में अधिकार है । ब्राह्मणादि उच्च वर्णों में कोई विशेषता प्रकट नहीं होती । अत्रेय ऋषि का कथन है कि श्रुति के वाक्यों से प्रमाणित होता है अग्न्याधान का अधिकार ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तीन वर्णों का ही है, शूद्र का उससे सम्बन्ध नहीं । बादरि ऋषि का मत है कि नैमित्तिक सामर्थ्य-योग्यता से अधिकार उत्पन्न होता है । इस दृष्टि से वैदिक कर्मों में सब का अधिकार सिद्ध होता है । यजुर्वेद में भी कहा गया है कि जैसे परमात्मा वेद वाणी का सब को उपदेश करता है वैसे ही मनुष्यों को भी बिना भेदभाव के करना चाहिये ।२५-२८। पूर्व पक्ष है कि वेदों में यात्रादि कर्मों का अधिकार तीन वर्णों को प्रतीत होता है । शूद्र ब्रह्म विद्या से रहित होते हैं, उनके लिये उपनयन विधि में व्रत का उल्लेख भी नहीं है, इससे उनका अधि-कार नहीं हो सकता ।२९-३०।

न काम्यत्वात् । ३१ । संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् । ३२ । अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत् । ३३ । गुणाधित्वान्नेति चेत् । ३४ । संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः । ३५ । विद्यानिर्देशान्नेति चेत् । ३६ । अवेद्यत्वादभावः कर्माणि स्यात् । ३७ । तथा चान्यार्थदर्शनम् । ३८ । त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धत्वात् । ३९ । अनित्यत्वात्त नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्य संयोगः । ४० ।

उपर्युक्त कथन का समाधान करते हुए मीमाँसा का मत है शूद्रों में भी कामना पाई जाने से उनका अधिकार सिद्ध होता है। संस्कारों के कारण ब्राह्मणादि वर्णों की प्रधानता मानी जाती है, पर शूद्र भी अपनी योग्यता का प्रमाण देकर उपनयन और वैदिक कर्मों का अधिकारी बन सकता है ।३१-३२। पूर्व-पक्षी फिर शङ्का करता है कि वेदों के कथन द्वारा ही यह प्रतीत होता है कि शूद्रों को इस प्रकार का अधिकार नहीं है। वेदों में 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत' आदि वाक्य मिलता है, उसमें शूद्रों को पाद स्थानीय बतलाया है, फिर वे वेदों का अध्ययन भी नहीं कर सकते ? इसका समाधान है कि उपनयन संस्कार विद्या के आधार पर होता है। इसलिए जो विद्या प्राप्त करले उसी का अधिकार माना जायगा ।३३-३५। जब शूद्रों को विद्या का अधिकार नहीं तो वे विद्या के ज्ञाता कैसे हो सकते हैं ? ।३६। इसका समाधान है कि विद्या का सामर्थ्य न होने से ही वह शूद्र कहा जाता है और उपनयन का अधिकारी नहीं माना जाता, पर यदि वह विद्वान बन जाये तो वह भी अधिकारी है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं, जैसे 'छान्दोग्य' उपनिषद् में सत्यकाम जावाल को योग्यता के आधार पर अधिकारी मान लिया गया था ।३७-३८। अब पूर्व पक्ष है कि तीनों वर्णों में भी धनवान को ही यज्ञ का अधिकार है,

क्योंकि उसके लिए द्रव्य का होना आवश्यक है। इसका समाधान है कि धनी या गरीब होना कोई स्थायी बात नहीं है। गरीब भी अवसर पाकर धनवान हो सकता है, अतः अधिकार सब को है।३९-४०।

अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ।४१। उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् ।४२। अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यत् ।४३। वचनाद्रथकारस्याधाने सर्वशेषत्वात् ।४४। न्यायो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।४५ अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात् ।४६। आनर्थक्यं च संयोगात् ।४७। गुणार्थमिति चेत् ।४८। उक्तममनिमित्तत्वम् ।४९। सौधन्वनावस्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरत् ।५०। स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् ।५१। लिंगदर्शनाच्च।५२।

अङ्गहीन को भी वैदिक कर्मों का अधिकार है। धर्म का सम्बन्ध जीवात्मा से है, जो अङ्गहीन में भी होता है ।४१-४२। जिसके तीन ऋषि न हों ऐसा ऋत्विक यज्ञ कराने का अनधिकारी है।४३। रथकार को अग्न्याधान करने का अधिकार ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है। वह तीनों वर्णों का ही अङ्ग है। शास्त्रों में रथकार को शूद्र नहीं कहा गया है और उसे अधिकारी माना गया है ।४४-४५। शूद्र को अग्न्याधान का अधिकार इसलिये नहीं दिया गया, क्योंकि वह कर्म रहित होता है। इसलिये उसे अग्न्याधान का अधिकार देने से अनर्थ हो सकता हैं।४६-४७। फिर शङ्का है कि विद्या का गुण प्राप्त करके तो शूद्र अग्न्याधान का अधिकारी बन सकता है? इसका उत्तर है कि यह सिद्धान्त ठीक है, जाति का आधार योग्यता और सामर्थ्य पर ही है।४८-४९। यह शङ्का है कि यदि ऊँच नीच का भेद कर्म पर है तो सुन्दर धनुषधारी क्षत्रिय सर्वोत्तम ब्राह्मणों से

भी श्रेष्ठ मानने चाहिये। इसका उत्तर है कि वेदाध्ययन की दृष्टि से ब्राह्मण शीर्ष स्थानीय हैं इससे वे ही श्रेष्ठ हैं।५०। नौका बनाने वाले निषादों को यज्ञ का अधिकार है ऐसा प्रमाण मिलता है।५१-५२।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

पुरुषार्थैकसिद्धत्वात्तस्य तस्याधिकारः स्यात् ।१। अपि वोत्पत्तिसंयोगाद्यथा स्यात् सर्व दर्शनं तथाभावोऽविभागे स्यात् ।२। प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामो प्रयोगे स्यात् ।३। प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ।४। तादर्थ्यें न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वत्कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ।५ । अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात् प्रयोगायोपदिश्येतः प्रत्यर्थं हि विधि श्रुतिर्विषाणावत् ।६। अन्यस्यापीति चेत् ।७। अन्यार्थनाभिसम्बन्धः ।८। फलकामो निमित्तमिति चेत् ।९। न नित्यत्वात् ।१०।

मनुष्य का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार फलों की सिद्धि है। इसके लिये प्रत्येक वर्ण वाले को अपने-अपने अधिकारानुसार प्रयत्न करना चाहिये।१। जन्म काल के संयोग से अन्तः करण की बनावट—निर्माण जैसा हो जाता है उसी के अनुसार वर्ण-भेद भी हो जाता है।२। वेद में पुरुष को कर्मों का कर्त्ता माना गया है। तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र होता है।३। शङ्का होती है कि वेद में पुरुष को प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र कहा है, तो भी लोक में वह अनेक बातों में परतन्त्र दिखाई देता है? इसका समाधान यह है कि कर्त्ता रूप से मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र हैं, पर उस कर्म का फल भोगने में परतन्त्र है। इसी से उसकी स्वतन्त्रता अपूर्ण जान पड़ती है।४-५। जिस प्रकार पशु अपने सींग से बदन को खुजला

सकता है और किसी वृक्ष से घिसकर भी उसी कार्य को कर सकता है, वह इस कार्य में स्वतन्त्र है, पर इनके फल स्वरूप जो सुविधा या असुविधा उत्पन्न हो जाय उसे अनिवार्य रूप से भोगना होगा ।६। शङ्का है कि एक व्यक्ति के किये हुये कर्म का फल दूसरा व्यक्ति नहीं भोग सकता ? इसका उत्तर है कि इस प्रकार का कोई सम्बन्ध या नियम नहीं है ।७—८। फिर शङ्का है कि जो व्यक्ति किसी दूसरे के लाभार्थ कार्य करता हो उसका फल उस दूसरे को प्राप्त होता है। इसका उत्तर यही है कि कर्म के सम्बन्ध में परमात्मा का नियम अटल है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ सकता ।६-१०।

कर्म तथेति चेत् ।११। न समवायात् ।१२। प्रक-मात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वात् ।१३। फलार्थि-त्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ।१४। नियमो वा तन्निमित्त त्वात्कर्तुंस्तत्कारणं स्यात् ।१५। लोके कर्मणि वेदवत्ततो-ऽधिपुरुषज्ञानम् ।१६। अपराधेपि च तैः शास्त्रम् ।७। अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः, शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं, तस्मार्थेन गम्येताप्राप्ते बा शास्त्रमर्थवत् ।१८। प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात्प्रतिषिद्धानां, विभक्तत्वादकर्मणाम् ।१६। शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधोयतेः तयोरसमयायित्वात्तादर्थ्य विध्यतिक्रमः ।२०।

फिर प्रश्न किया जाता कि एक के द्वारा कमाये धन का दूसरे को भोग करते हम प्रत्यक्ष देखते हैं ? तो इसका उत्तर है कि जीव का अपने कृत कर्मों के साथ जो सम्बन्ध है वह मिट नहीं सकता और जो दूसरे का धन भोग करने को पा जाता हैं तो वह उसके पुराने या नये कर्मों का फल होता है। यदि कभी किसी को बिना इस प्रकार

के सम्बन्ध के किसी का धन मिल जाता है तो वह अपने आप ही नष्ट हो जाता है अथवा रोग दुर्घटना आदि कोई ऐसी बाधा उपस्थित हो जाती है जिससे वह उसका भोग कर ही नहीं सकता ॥११ – १२॥ फिर शङ्का है कि यदि प्रारब्ध की ऐसी प्रबलता हैं तो मनुष्य का कर्म करने में स्वतन्त्र कहना व्यर्थ है ? इसका उत्तर यह है कि प्रारब्ध रूप कर्म मनुष्य को केवल भोग देने के लिए होते हैं। वर्तमान समय के क्रियमाण कर्मों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । उनको मनुष्य यथारूप भला या बुरा करके आगे के लिये वैसी ही प्रारब्ध बना सकता है ।१३। फिर शङ्का है कि मनुष्य जो कुछ कर्म करता है वह भोग के लिये ही करता है। तब यदि प्रारब्ध द्वारा उसके भोग नियत हैं तो उसी प्रकार के कर्म करने पड़ेंगे। ऐसी अवस्था में उसे कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं कह सकते । इसका उत्तर है कि प्रारब्ध द्वारा नियत बुरे-भले भोगों को भोगता हुआ भी मनुष्य आगामी कर्मों को किसी भी प्रकार कर सकता है ।१४ – १५। पूर्व पक्ष कहता है कि जब कर्म विधि-निषेध रूप किये जाते हैं तो संसार में वही वेद का काम दे सकते हैं अन्य वेद को मानने से क्या प्रयोजन है ? जैसे कोई अपराध करने पर उसके लिये दण्ड देने वाला शास्त्र संसार में बनाया गया है, उसी प्रकार मनुष्य के प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक कार्यों के लिए भी लौकिक शास्त्र काम दे सकता है, वेदों की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों से अगोचर विषयों का ज्ञान वेदरूप शास्त्र से हा हो सकता है । यदि ईश्वर और पारलौकिक विषयों का ज्ञान अपने आप हो जाता तो शास्त्र को न मानने की बात कही जा सकती थी। शास्त्र का ज्ञान देवता (ईश्वर) का आश्रय लेने से ही हो सकता है ।१६—१९। निषिद्ध पदार्थों और कर्मों का ज्ञान शास्त्र द्वारा होता है ।२०।

तस्मिस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् ।२१। अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन् ।२२। अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो विधीयते ।२३। एतस्मिन्नसंभवन्नर्थात् ।२४। न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ।२५। दर्शनात्काललिंगानां कालविधानाम् ।२६। तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्त्तेत ।२७। तथा हि लिंगदर्शनम् ।२८। तथान्तःक्रतु युक्तानि ।२९। आचाराद्गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ।३०। ब्राह्मणस्य तु सोम विद्याप्रजमृणवाक्येन सयोगात् ।३१।

शास्त्र का अर्थ हृदयङ्गम करने से ही मनुष्य का उद्देश्य पूरा हो सकता है। जो शास्त्र इस प्रकार का उपदेश नहीं करता तो वह निरर्थक हो जाता है। मनुष्य को जन्म-काल से ही शास्त्रों के विधान का पालन करना चाहिये ।२१—२२। उपनयन विधि में चाहे सब कर्म वेदोक्त न हों, तो भी वेदानुकूल होने से उनका पालना कर्तव्य है ।२३। पूर्व पक्ष कहता है कि अग्निहोत्र आदि कर्मों का विधान है अतः उनको निरन्तर करता रहे। इसका उत्तर यह है कि अनुष्ठान करना आवश्यकीय है, पर रात-दिन सदैव अग्निहोत्र करते रहना असम्भव है। इसलिए उसे नियत समय पर ही किया जाना चाहिये ।२४—२५। जैसे 'दर्श पौर्णमास' यज्ञ के लिए पूर्णमासी तथा अमावस्या को करने का विधान बना दिया गया है। इसी प्रकार प्रातः और सायंकाल के समय यज्ञ करने का नियम भी पाया जाता है ।२६—२९। जिस प्रकार 'दर्श पूर्णमास' आदि यागों का समय नियत है उसी प्रकार विकृत यागों का भी समय नियत किया गया है ।३०। अब ब्राह्मण आदि के तीन ऋणों के विषय में पूर्व पक्ष कहता है कि जैसे दर्श पूर्णमास याग आदि करना नैमित्तिक नियम है उसी प्रकार आचार स्वरूप ब्रह्मचर्य आदि भी नैमित्तिक हैं। इसका

उत्तर है कि यज्ञ, ब्रह्मचर्य और प्रजा उत्पत्ति ये तीन कर्म तीन ऋणों को चुकाने के उद्देश्य से माने गये हैं, इसलिये ये नित्य व्रत है, नैमित्तिक नहीं हो सकते ।३१—३२।

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

तृतीय पाद

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ।१। अपि-वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधानेह्यर्थ निवृत्तिर्गुण मात्रमितरत्तदर्थत्वात् ।२। तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्मात्प्रधानेनाऽभिसम्बन्धात् ।३। कर्माऽभेद तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषा-मुपदेशः स्यात् ।४। अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि प्रयोगे-स्याद्यथा क्रत्वन्तरेषु ।५। विध्यपराधे च दर्शनात्समा तेः ।६। प्रायश्चित्तविधानाच्च ।७। काम्येषु चैवमर्थित्वावात् ।८। असंयोगात्तु नैव स्याद्विधेः शब्दप्रमाणत्वात् ।९। अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ।१०।

सर्व शक्तियों के स्रोत परमात्मा की ओर प्रवृत होना प्राणियों का धर्म है। यज्ञादि का अनुष्ठान भी परमात्मा की ओर प्रवृत्ति के लिये ही किया जाता है। पर ये साधन जड़ और एकदेशीय हैं। परमात्मा में सच्ची और पूरी प्रवृत्ति होने से ही मनुष्य सबसे बड़े लाभ का भागीदार बनता है। अन्य गुण पूजा उपासना आदि गौण हैं ।१—२। परमात्मा की तरफ से उदासीन रहना दोष की बात है इसलिए मनुष्य को उससे अवश्य सम्बन्ध जोड़ना चाहिये ।३। आचार्य जैमिनि का मत है कि प्रयोग में एक वचन का व्यवहार होने से सब शाखाओं में कर्मों में भेद है और सब अङ्गों का कथन है ।४।

एक प्रकार के अनुष्ठानों से समानता पाये जाने से सब शाखाओं की विधियाँ एक-सी देखने में आती हैं ।५। उक्त कर्मों की पूर्ति में विधान तथा दोष एक समान माना जाने से कर्म को एक मानना चाहिये ।६। इसलिये इनके प्रायश्चित्त के विधान में भी एकता पाई जाती है ।७। शङ्का है कि काम्य कर्मों में भी अर्थी सब शाखाओं में एक-सा पाया जाता है, इससे भी अभेद सिद्ध होता है ? ।८। समाधान है कि विधि रूप शब्द प्रमाण के पाये जाने से ऐसा नहीं हो सकता और अङ्कहीन होने से भी ठीक नहीं ।९। यदि यह कहा जाय कि फिर तो काम्य-कर्म सन्ध्या वन्दनादिक के समान ही समझे जाने चाहिये तो इसका उत्तर है कि सन्ध्या आदि न करने पर मनुष्य पर प्रत्यक्ष दोष आता है पर काम्य कर्मों में ऐसी कोई बात नहीं ।१०।

क्रियाणामाश्रितत्वाद्द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् ।११। अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैककर्म्यंस्यान्नामधेयं च सत्त्ववत् ।१२। श्रुति प्रमाणत्वाच्छिष्टाभावेऽनागमोऽन्यस्याऽशिष्टत्वात् ।१३। क्वचिद्विधानाच्च ।१४। आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ।१५। नियमार्थः क्वचिद्विधिः ।१६। तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ।१७। न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थं संयोगात् ।१८। देवतायां च तदर्थत्वात् ।१९। प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तच्छ्रुतिः ।२०।

यदि हवन किये जाने वाले पदार्थों में कुछ अन्तर पड़ जाय तो उसकी क्रिया में कोई अन्तर नहीं माना जायगा ।११। द्रव्यों का भेद होने पर भी कर्म का भेद न होने से और रूप तथा शब्द में भी अन्तर न पड़ने से अग्निहोत्र की क्रियाओं को तत्वतः एक ही माना जाता है जैसे गौओं में भिन्नता रहने पर वे सब एक गो' जाति की ही मानी जाती हैं ।१२। पूर्व-पक्ष का कथन है कि श्रुति में जिस

द्रव्य के हवन का उल्लेख है उसके स्थान पर अन्य द्रव्य का प्रतिनिधि रूप प्रयोग करने का कोई शास्त्रीय विधान नहीं है। यदि कहीं विधान में बतलाये द्रव्य का सर्वथा अभाव होने के कारण उसके स्थान में दूसरा द्रव्य ले लिया जाय तो अपवाद ही माना जायगा, उसे विधि नहीं कहा जा सकता ? ।१३—१४। इसका समाधान है कि यज्ञ विधि में 'चावल के स्थान सर सांवां ले' इस प्रकार के द्रव्यान्तर के प्रमाण मिलते हैं।१५। पर इस प्रकार का प्रतिनिधि द्रव्य भी नियम के भीतर रहकर ही लेना चाहिये, क्योंकि जहाँ किसी द्रव्य को सामान्य रूप से लिया जाता है वहाँ उसका भी एक नियम बन जाता है।१६। शङ्का है कि यदि यज्ञ में सोम अथवा उसका प्रतिनिधि द्रव्य न लिया जाय तो क्या हानि है ? उत्तर है यदि इन दोनों में से कोई न होगा तो यज्ञ की पूर्ति नहीं हो सकती ।१७। पर देवता, अग्नि, मन्त्र और प्रमा आदि कर्म का प्रतिनिधि नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा करने से यज्ञ का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। देवता यज्ञ का मुख्य विषय है।१८–१९। निषिद्ध पदार्थों (जैसे मद्य मांस आदि) का यज्ञ में पूर्ण निषेध है।२०।

तथा स्वामिनः फलसामवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ।२१। बहूनां तु प्रवृत्तावन्यमागमयेदवैगुण्यात् ।२२। स स्वामी स्यात्संयोगात् ।२३। कर्मकरो वा क्रीतत्वात् ।२४। तस्मिंश्च फलदर्शनात् ।२५। स तद्धर्मा स्यात्तत्कर्मसंयोगात् ।२६। सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ।२७। निर्देशात्त विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ।२८। अशब्दमिति चेत् ।२९। नाऽनङ्गत्वात् ।३०।

क्योंकि यज्ञ का स्वामी अथवा यजमान उसका कर्म करके फल प्राप्त करता है इसलिये उसका भी प्रतिनिधि नहीं हो सकता, पर यदि

एक यज्ञ में अनेक यजमान हों और यज्ञ होते-होते उनमें से कोई मर जाय तो शेष कर्मों की पूर्ति के लिये वहाँ किसी अन्य को सम्मिलित करके स्थान की पूर्ति कर ले और वह यज्ञ फल का स्वामी माना जायगा ? इसका उत्तर है कि वह तो एक भृत्य अथवा कार्यकर्त्ता के समान यज्ञ की क्रियाओं का निर्वाह करता है वह फल का स्वामी नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र फल का अधिकारी स्वामी ही माना जाता है, नौकर नहीं माना जाता ।२१—२५। पर चूंकि वह यजमान का स्थानापन्न होता है । इसलिये वह यजमान के धर्म वाला होता है ।२६। अब हवनोपयोगी द्रव्यों के मिलते-जुलने प्रतिनिधियों का विवरण देते हैं कि चावल के स्थान पर नीवार (सांवाँ) का प्रयोग किया जा सकता है । खदिर की लकड़ी के यूप के स्थान में पलाश की लकड़ी का यूप बनाया जा सकता है । इसमें शङ्का की जाय कि इसका क्या प्रमाण है, तो विधान में खदिर और पलाश दोनों का यूप लिखा है । इसका आशय यही है कि पहले खदिर को ही ले जब वह न मिले तो पलाश को लेले ।२७—३०।

वचनाच्चऽन्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य ।३१। न प्रतिनिधौ समत्वात् ।३२। स्याच्छ्रुतिलक्षणे नित्यत्वात् ।३३। न तदीप्सा हि ।३४। मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात् ।३५। प्रवृत्तेऽपीति चेत् ।३६। नानर्थकत्वात् ।३७। द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ।३८। अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात् ।३९। विधिरप्येकदेशे स्यात् ।४०। अपि वाऽर्थस्य । शक्यत्वादेकदेशेन निर्वर्तेतार्थानामविभक्तत्वादगुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ।४१।

पर प्रतिनिधि का प्रतिनिधि नहीं लिया जाता। जैसे सोम के न मिलने पर 'पूतिका' नाम की लता से काम चलाया जाता है। यदि पूतिका भी न मिले तो उसकी जगह अन्य द्रव्य को प्रतिनिधि नहीं बनाया जा सकता है।३१-३२। पूर्व पक्ष है कि यदि अन्य पदार्थ प्रतिनिधि से मिलता हो तो उसे उसका प्रतिनिधि बना सकते हैं? पर यह तर्क ठीक नहीं है। पहले तो 'सोम' ही मुख्य थी, उसके अभाव में उससे मिलती-जुलती 'पूतिका' ग्रहण की गई। अब यदि उसकी जगह कोई अन्य द्रव्य लिया जाय तो उसकी समता पूतिका से होगी सोम का तो नाम ही उड़ गया, यह नियम विरुद्ध है।३३–३५। इस विवेचन से निश्चय होता है कि यदि मुख्य द्रव्य का मिलना असम्भव हो तो ही उसका प्रतिनिधि द्रव्य लेना उचित है।३४। यदि यज्ञ सम्बन्धी पुरोडाश आदि बना लेने के पश्चात भी मुख्य द्रव्य मिल जाय तो उसी को लेना चाहिये यह पूर्व पक्ष है?।३६। इसका समाधान है कि उस समय मुख्य द्रव्य का लेना निरर्थक है।३७। यदि मुख्य द्रव्य संस्कार हीन और प्रतिनिधि संस्कारित है तो भी मुख्य द्रव्य को ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि वह यज्ञ का अंग है।३८। पूर्व पक्ष का कथन है कि इस सम्बन्ध में प्रयोजन की पूर्ति को लक्ष्य में रख कर मुख्य और प्रतिनिधि का चुनाव करना चाहिये।३९। यदि मुख्य द्रव्य अल्प हो, प्रतिनिधि पर्याप्त हो तो भी मुख्य द्रव्य लेना महत्वपूर्ण है। अथवा मुख्य द्रव्य द्वारा प्रधान कर्मों की सिद्धि करनी चाहिये और प्रतिनिधि द्रव्य को बाद में होने वाले गौण हवनों काम में लाना चाहिये ॥४०—४१॥

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥



चतुर्थ पाद

शेषादद्व्यवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् । १ । निर्देशाद्वाऽन्यदागमयेतो । २ । अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणात् । ३ । निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत् । ४ । सर्वैर्वा समवायात्स्यात् । ५ । निर्देशस्य गुणार्थत्वम् । ६ । प्रधाने श्रुति लक्षणम् । ७ । अश्ववदिति चेत् । ८ । न चोदनाविरोधात् । ९ । अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि । १० ।

हवन के लिये जो पुरोडाश रखा गया है वह समाप्त हो जाय तो यज्ञ-शेष के लिये रखे हुए पुरोडाशों से हवन करना चाहिये। क्योंकि वह इसी लिए होता है। शास्त्र में उसे इसी लिये कहा है। मुख्य उद्देश्य यज्ञ है और सब पुरोडाश उसी के लिये बनाये जाते हैं।१-३। पूर्व पक्ष का कथन है कि यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों को यज्ञ-शेष भक्षण करना चाहिए, ऐसा निर्देश पाया जाता है । इसका समाधान है कि यज्ञ-शेष सब लोगों को मिल कर भक्षण करना चाहिये सभी लोग जो किसी रूप में यज्ञ में भाग लेते हैं उसके अधिकारी हैं।४-६। यदि यह कहा जाय कि वह यजमान और ऋत्विजों को भक्षण करना चाहिए, तो वह विषय गौण है ।७। प्रधान यजमान पुरोडाश-भक्षण करे, यह वाक्य उपलक्षण मात्र है ।७। पूर्व पक्ष का कथन है कि जिन यज्ञों में पशु बलि होता है उनमें यज्ञ-शेष-भक्षण एक अनर्थ ही होगा। इसका समाधान है कि मांस-भक्षण का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। शास्त्रों में ऐसे पाप-कर्म का सर्वथा निषेध है। मांस भक्षण की बातें सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है।८-९। पूर्व पक्ष है कि पुरोडाश सेंकने के कपालादिक का एक भाग टूट जाने पर प्रायश्चित करना चाहिये क्योंकि एक भाग से समस्त वस्तु का संयोग होता है? ।१०। इसका उत्तर आगे देते हैं।

न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि । ११ । स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न हि तस्य गुणार्थत्वेनानित्यत्वात् । १२ । गुणानां च परार्थत्वाद्वचनाद् व्यपाश्रयः स्यात् । १३ । भेदार्थमिति चेत् । १४ । नाशेषभूतत्वात् । १५ । अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् । १६ । क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्याऽवर्जनीयत्वात् । १७ । दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् । १८ । अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः । १९ । तद्धविः शब्दान्नेति चेत् । २० ।

उपरोक्त शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं कि एक भाग के विकारयुक्त होने पर प्रायश्चित अनावश्यक है सम्पूर्ण के नष्ट होने पर प्रायश्चित होना चाहिये । सब द्रव्य यज्ञार्थ होते हैं। एक भाग के नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण पदार्थ यज्ञ में अयोग्य नहीं हो सकता । विकरादि गुण-दोष मुख्य नहीं, पदार्थ ही मुख्य है । इसलिये जब तक द्रव्य काम लायक हो उसके लिये प्रायश्चित का प्रश्न नहीं उठता ।११-१३। फिर शङ्का करते हैं कि विकार पदार्थ का नाश करने वाला होता है? उत्तर है कि विकार अङ्गरूप होने से प्रायश्चित योग्य नहीं । बिल्कुल नष्ट हो जाने पर पदार्थ यज्ञ के अयोग्य होता है ।१४-१६। इसी प्रकार शङ्का होती है कि पुरोडाश का एक भाग जल जाने पर प्रायश्चित करना चाहिये या नहीं ? तो इसका उत्तर भी यही है कि सब के दग्ध हो जाने पर प्रायश्चित करना चाहिये एक भाग पर नहीं । क्योंकि ऐसा करने से तो यज्ञ के लिए कोई पुरोडाश नहीं मिल सकेगा । प्रत्येक पर कहीं न कहीं जलने का चिन्ह हो ही जाता है । शंका करते हैं कि विधान में तो कहा गया है कि पुरोडाश जलने पर प्रायश्चित किया जाय ? इसका उत्तर है कि वहाँ सबके जल जाने का आशय है एक अंश के जलने की बात नहीं है । उसका अर्थ यही है कि पुरोडाश

सब जल जाय तो अन्य पुरोडाश द्वारा आहुति प्रदान करे ।१७—१९। फिर शका करते हैं कि विधान में तो पुरोडाश द्वारा ही आहुति देने की बात है अन्य हवि का प्रयोग कैसे हो सकता है ? ।२०।

स्यादि ज्यागामी हविः शब्दस्तल्लिंगसंयोगात् । २१ । यथाश्रुतीति चेत् । २२ । तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् । २३ । होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् । २४ । उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम् । २५ । पुनराधेयमोदनवत् । २६ । द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः स्यात् । २७ । पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् । २८ । चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि । २९ । स प्रत्यामनेत्स्थानात् । ३० ।

उत्तर है कि विधान में जो शब्द है उससे यज्ञ सम्बन्धी कर्म का बोध होता है जले हुए पुरोडाश से उनका आशय नहीं है ।२१। पूर्वपक्ष कहता है कि यदि प्रातः संध्या के हवन में चूक हो जाय तो उसका प्रायश्चित पाँच प्याला चावल दान देकर करना चाहिए ? इसका उत्तर है कि हवन में चूकने से 'प्रत्ययवाय' दोष होता है । चावल दान देने से उसका प्रायश्चित नहीं होता ।२२—२३। अन्य यज्ञ शेष के समान हवन के पदार्थ और अभिषव (कूटे हुए सोम) का भक्षण दोनों प्रकार के (आहूति देने वाले तथा सोम को कूटने वाले) ऋत्विज कर सकते हैं ।२४—२५। जैसे नियत समय पर भोजन न हो पाये तो उसे पुनः करना चाहिये, इसी प्रकार सूर्योदय के पूर्व अग्न्याधान न हुआ हो तो उसे फिर करना चाहिए । दोनों काल (प्रातः सायं) हवन करने से द्रव्य की उत्पत्ति होती है ।२६—२७। 'पञ्च शराब' कर्म 'सांनाय्य' के स्थान में प्रतिनिधि कहा गया है । अथवा 'पंच शराव' कर्म इन्द्रिय अगोचर परमात्मा के प्रति द्रव्य रूप में प्रेरणा देने का

विधान है।२८—२९। इसमें शंका है कि 'पंच शराव' कर्म को तो दर्शयाग का प्रतिनिधि कहा गया है ? ।३०। इसका उत्तर आगे देते हैं—

अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् । ३१ । विश्वजिद प्रवृत्तो भावः कर्मणि स्यात् । ३२ । निष्क्रयवादाच्च । ३३ । वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् । ३४ । कालो वोत्पन्नसंयोगद्यथोक्तस्य । ३५ । अर्थापरिमाणाच्च । ३६ । वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्ग स्यात । ३७ । कालस्तु स्यादचोदनात् । ३८ । अनर्थकश्च कर्मसंयोगे । ३९ । अवचनाच्च स्वशब्दस्य । ४० ।

'पंच शराव' का विधान अमावस्या को किया जाता है अतः वह दर्सयोग का एक अङ्ग हो सकता है, उसका प्रतिनिधि नहीं हो सकता ।३१। विश्वजित याग जो शत्रु को जीत कर किया जाता है, वह कर्मों में प्रवृत्त कराने वाला है। उसका कर्ता किसी के वशीभूत न होकर स्वतन्त्र होता है और इससे इस याग का फल सर्वोपरि है ।३२—३३। दर्शपूर्ण मास याग में व्रत करने में पूर्व पक्ष है कि वह बछड़ों के दूध पीने के समय करना चाहिये। समाधान है कि जब बछड़े दूध के लिए छोड़े जायें उस समय से यजमान को व्रत आरम्भ करना चाहिए। यहाँ 'वत्स' या बछड़ा शब्द व्यक्ति के लिए नहीं वरन् काल के लिए आया है। इसमें पूर्व पक्ष है कि श्रुति में "वत्से नामावास्यायाम्" का जो विधान है, उससे तो प्रतीत होता है 'निर्वत्स' ही व्रत के अङ्ग हैं ? उत्तर है कि उस विधान से व्रत के काल का ही निर्देश है, व्रत की विधि की यहाँ चर्चा नहीं है। व्रत रूप कर्म के सम्बन्ध में वत्स की चर्चा निरर्थक है। 'वत्स' के लिए जो शब्द काम में आता है वह व्रत के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता ।३४ ४०।

कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तल्लिंगसंयोगात् । ४१ । कालार्थत्वाद्वोभयाः प्रतीयेत । ४२ । प्रस्तरे शाखाश्रयणवत् ४३।

कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् । ४४ । अतत्संस्कारार्थत्वाच्च । ४५ । तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् । ४६ । उपवेषश्च पक्षे स्यान् । ४७ ।

अब पूर्व पक्ष है कि यदि 'वत्स' शब्द से काल का अर्थ लिया जाय तो 'संनयत' (दूध और दही मिलाने का कर्म) से उस कर्म काल को लेना चाहिये क्योंकि ये दोनों काल के अर्थ में ही पाये जाते हैं ? ।४१—४२। इसका समाधान है कि जब रात्रि के समय हवनीय द्रव्य की शाखा तोड़ी जाती है तो उसी सध्याकाल से यममान व्रत करे। जिस समय शाखा दोहन और कुशा के उखाड़ने का कार्य होता है उस समय व्रत से रहना चाहिये । प्रातः काल यजमान के व्रत करने का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि प्रातः काल तो दर्श-याग करना ही है । अतः उससे पहले दिन संध्या से ही व्रत करना चाहिये ।४३—४७।

।। चतुर्थ पाद समाप्त ।।

पञ्चम पाद

अभ्युदये कालावराधादिज्याचोदना स्याद्यथा पञ्चशरावे । १ । अपनयो व विद्यमानत्वात् । २ । तद्रूपत्वाच्च शब्दानम् । ३ । आतञ्चानाभ्यासस्य च दर्शनात् । ४ । अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् । ५ । पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् । ६ । साग्नाय्येऽपि तथेति चेत् । ७ । न तस्यादुष्टत्वादविशिष्टं हि कारणम् । ८ । लक्षणार्था शृतिश्रुतिः । ९ । उपांशुयाऽवचनाद्यथा प्रकृति वा । १० ।

पूर्व पक्ष है कि यदि दर्श यज्ञ भूल से अन्य समय मे कर लिया जाय तो उसे 'पंच शराव' यज्ञ की भांति पुनः करना चाहिए ? इसका

उत्तर है कि ऐसी अवस्था में पुनः नई सामग्री लानी चाहिए, पर यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों को नये लाने की कोई बात नहीं है, क्योंकि दोष सामग्री में आया है, ऋत्विजों में तो कोई दोष आया नहीं। उक्त सामग्री के त्याग का हेतु यह है कि यदि प्रथम बार की सामग्री में कोई दोष उत्पन्न हो जाय तो अन्य सामग्री का विधान उसके स्थान में होना चाहिए।१—४। 'पंच शराव' यज्ञ में भी जब पात्रों में दोष आ जाने से उनमें रखा दूध दूषित हो जाता है तब उसे त्याग कर नया दूध लेने की विधि है।५—६। पर 'सांनाय्य' में इस प्रकार की शङ्का करना अनावश्यक है, क्योंकि एक तो दही शीघ्र खराब नहीं होता और दूसरे वह हवि के लिए नहीं वरन् अन्य पदार्थों का संस्कार करने के काम में आता है।७—८। पूर्व पक्ष है कि उपांशु-याग में सामग्री के दूषित होने की बात नहीं कही गई है। उसका प्रयोग सदैव यों ही हो सकता है? उत्तर है कि द्रव्य का स्वभाव ही दूषित हो जाने का है। इसलिये उपांशु-याग में भी सामग्री को शुद्ध करने या बदलने की आवश्यकता हो सकती है।९—१०। इनका कारण आगे कहते हैं—

अपनयो व प्रवृत्त्या यथेतरेषाम् ।११। निरुप्ते स्यात्त-त्संयोगात् ।१२। प्रवृत्ते प्रापणामित्तस्य ।१३। लक्षण-मात्रन्निमितरत् ।१४। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।१५। अनि-रुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपन-यात् ।१६। व्यूर्ध्वभाग्भ्यस्त्वालेखस्तत्कारित्वद्देवतापनस्य ।१७। विनिरुप्ते न मुष्टीनामपनयस्तद्गुणत्वात् ।१८। अपाकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ।१९। अभावाच्चेत-रस्य स्तात् ।२०।

अधिक समय बीत जाने पर सामग्री में विकार उत्पन्न हो जाने पर उसे बदलना आवश्यक है क्योंकि यज्ञ में विकार-युक्त द्रव्यों का

प्रयोग निषिद्ध है। जब द्रव्य काल प्रभाव से अन्य रूप में बदल जाता है तो उस को बदलना अनिवार्य है। निरुक्त में भी इस सम्बन्ध में जो शब्द दिया गया है उससे दूषित सामग्री त्याग-रूप सिद्ध होती है। यही बात अन्य उदाहरणों से ठीक प्रतीत होती है ।११–१४। अश्मरथ आचार्य का कथन है कि अभ्युदय दृष्टि से जिस सामग्री को शुद्ध नहीं किया गया हो उसे शुद्ध करना चाहिए जैसे चावलों को साफ करने की आवश्यकता पड़ती है ।१५। आलेखन आचार्य का कथन है सामग्री को त्याग ने की आवश्यकता नहीं। पर समस्त सामग्री ही दूषित हो जाय तो उसे बिल्कुल त्याग देना चाहिए। इसका कारण यह है कि एक प्रकार की दूषित सामग्री का प्रयोग करने से अन्य सब अदूषित सामगी भी अशुद्ध हो जाती है ।१६—१८। जब दूसरी शुद्ध सामग्री बिल्कुल न मिले तो दूषित सामग्री को ही साफ करके, धोकर शुद्ध बना लेना चाहिए ।१९। 'सांनाय्य' में दूध और दधि के मिलाने में विकार हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना आवश्यक है ।२०।

सान्नाय्यसंयोगातसन्नयतः स्यात् ।२१। औषधसंयोगाद्वोभयोः ।२२। वैगुण्यान्नेति चेत् ।२३। नातत्संस्कारत्वात् ।२४। साम्युत्थाने विश्वजित्क्रीते विभागसंयोगात् ।२५। प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ।२६। आदेशार्थेतरा श्रुतिः ।२७। दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ।२८। द्वादशाहस्तु लिङ्गात्स्यात् ।२९। पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ।३०।

किसी विशेष औषधि के मिलने से सामग्री में दोष उत्पन्न हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना चाहिए। इसमें शङ्का होती है कि औषधि विशेष को निकाल देने से कदाचित् सामग्री गुण रहित हो जायगी। इसका समाधान यह है कि औषधि विशेष को निकाल देने का

अर्थ सामग्री का संस्कार करना नहीं है, वह जैसी की तैसी बनी रहती है।२१—१३। सत्र के लिये दीक्षित पुरुष यदि यज्ञ के समाप्त होने के पूर्व ही उठ जाय तो उसे 'विश्वजित' याग करना चाहिये। सत्र के प्रवृत्त होने से ही 'विश्वजित याग' की सम्भावना पाई जाती है।२४-२५। यज्ञ कार्य के लिए यद्यपि सोम का ही विभाग करना लिखा है, पर यदि समस्त सामग्री का विभाजन कर लिया जाय तो कोई दोष नहीं है।२६। पूर्व पक्ष है कि ज्योतिष्टोम के लिए दीक्षित पुरुष उस कार्य में जितना चाहे उतना समय लगावे, शास्त्र में इसके लिये कोई कालावधिनियत नहीं है ? इसका उत्तर है कि विधान में ज्योतिष्टोम के लिए बारह दिन का नियम लिखा है, उसी का पालन करना चाहिए।२७ - २८। 'गवामयन' नामक सत्र किसी भी पूर्णमासी को करना चाहिए। इसके लिए किसी विशेष पूर्णमासी का नियम नहीं है—यह पूर्व पक्ष है। इसके पश्चात् दूसरा पूर्व पक्ष है कि यह सत्र चैत्र की पूर्णमासी को करना चाहिए।२९ – ३०। इन दोनों का समाधान आगे के सूत्र में है।

आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात्। ३१। माघी वैकाष्टकाश्रु तेः। ३२। अन्या अपीति चेत् ३३।। न भक्तित्वादेषा हि लोके। ३४। दीक्षापराधे चानुग्रहात्। ३५। उत्थाने चानुप्ररोहात्। ३६। अस्यां च सर्वलिङ्गानि। ३७। दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात्। ३८। उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम्। ३९। तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम्। ४०।

विधान में एकाष्टका एकादशी से व्रत करने का नियम है। यह एकादशी माघ में आती है। इसलिए 'गवामयन' सत्र माघ की पौर्णमासी से चार दिन पहले एकादशी को आरम्भ करना चाहिए।३१।

इसमें शङ्का है कि अन्य कृष्ण पक्ष की एकादशी भी एकाष्टका कहलाती है। इसका समाधान यही है कि लोक में माघ की एकादशी ही 'एकाष्टका' करके मानी जाती है। दीक्षा के अपराध के सम्बन्ध में भी माघ की एकादशी को ही 'एकाष्टका' कहा है। दूसरा प्रमाण यह भी है कि 'एकाष्टका' एकादशी वह है जिसमें नये पत्ते और अंकुर निकलते हैं। ऐसी एकादशी भी माघ शुक्ल की होती है। इन चिन्हों के पाये जाने से यह 'गवामयन' के लिए प्रशस्त है ॥३२—३६। पूर्व पक्ष है कि यज्ञ के लिये दीक्षा लेने पर पुरुष को नियत कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये। इसका समाधान यह है कि दीक्षा एक मुख्य कार्य के लिये ग्रहण की जाती है जो कि उत्कृष्ट माना गया है। इसलिये उस काल में नियत कर्मों के करने की आवश्यकता नहीं है। दीक्षित पुरुष के लिये प्रतिहोम की भी आवश्यकता नहीं है। दीक्षा काल में शास्त्र में होम का विधान पाया जाता है।३७—४०।

कालप्राधान्याच्च ।४१। प्रतिषिद्धाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टः ।४२। प्रतिहोमश्चेत्सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ।४३। प्रातस्तु षोडशिनि ।४४। प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् ।४५। प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ।४६। अतद्विकाराच्च ।४७। व्यापन्नास्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत्प्रतीयेत ।४८। विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ।४९। स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ।५०।

अवभृथ इष्टि के लिए भी प्रतिहोम का निषेध है।४१। यदि होम के लोप होने पर प्रतिहोम करे तो अग्निहोत्र सायंकाल को करे।४२। षोडशी इष्टि में प्रातःकाल प्रतिहोम करे।४३। साधनों के मर्दन (छिन्न-भिन्न-खण्डित) हो जाने पर सब इष्टियों में प्रायश्चित करना चाहिये। यह पूर्व पक्ष है ? उत्तर है कि प्रायश्चित के प्रकरण

में ही प्रायश्चित करना चाहिये। जहाँ उसकी आवश्यकता होती है वहाँ लिखा हुआ है।४४—४५। सब इष्टियों में भेदन निमित्तिक विकार एक समान नहीं होते, इसलिए सबमें प्रायश्चित विधान भी एक से नहीं हो सकते ।४६। जो पदार्थ आर्य-पुरुषों के लिए अयोग्य हो अर्थात् दूषित हो उसे जल में फेंक देना चाहिये ।४७। पूर्व पक्ष का कथन है कि उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों का एक काल में अपच्छेद होने से प्रायश्चित नहीं होता । इसका उत्तर है कि यदि विधान में एक काल का उल्लेख किया होता है तो प्रायश्चित न होगा, पर निमित्त विद्यमान होने से प्रायश्चित आवश्यक है ।४८—४६। इस प्रकार अपच्छेद होने पर एक प्रकार का प्रायश्चित होना चाहिये। क्योंकि दो प्रकार का प्रायश्चित सम्भव नहीं है ।५०।

तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् ।५१। प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ।५२। न चैकसंयोगात् ।५३। पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ।५४। यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसद्याद्यथेतरस्मिन् ।५५। अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्त-दावर्त्तेन कर्मपृथक्त्वात् ।५६।

पूर्व पक्ष का कथन है कि यदि दोनों प्रकार का प्रायश्चित एक याग में न हो सके तो दो यागों में हो सकता है। इसका उत्तर है कि उक्त प्रायश्चितों का एक ही याग से सम्बन्ध है। इसलिए ऐसे प्राय-श्चित में सर्वस्व दक्षिणा का प्रायश्चित कथन किया गया है ।५१–५३। यदि प्रतिहर्ता के पश्चात् उद्गात का अपच्छेद हो तो सर्वस्व दक्षिणा का प्रायश्चित होना चाहिये। यदि द्वादशाह आदि अहर्गण यागों में से जिस याग में उद्गाता अपच्छेद हो, तो उसी की आवृत्ति करे ।५४-५६।

।। पाँचवाँ पाद समाप्त ।।

षष्ठ पाद

सन्निपातेऽवैगुण्यात्प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा यजेरन् ।१। वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् ।२। न वाऽनारभ्यवादत्वात् ।३। स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ।४। न तत्प्रधानत्वात् ।५। औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ।६। अन्येनापीति चेत् ।७। नैकत्वात्तस्य चानधिकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात् ।८। सन्निपातात्तु निमित्तविघातं स्यात् बृहद्रथन्तरवद्विभक्तशिष्टत्वा-द्वसिष्ठनिर्वर्त्ये ।९। अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रयीयेत, स्वामित्वेनाभिसम्बन्धः ।१०।

एक कथन है कि यज्ञ-क्रिया के लिये जो १७ ऋत्विज लिये जाते है वे ही कल्प (गोत्र) के होने चाहिये जिसमें यज्ञ-कार्य में विगुणता उत्पन्न न हो। इस पूर्व पक्ष की शङ्का है कि जिस प्रकार शास्त्र में मृतक को छूने का निषेध है और फिर भी उसके सिर को उठाने को कहा गया है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न गोत्रों के ऋत्विजों में यज्ञ कराया जा सकता है ? इसका समाधान है कि विधान में कोई ऐसी बात नहीं मिलती। फिर पूर्व पक्ष का कथन है कि जैसे 'औदु-म्बरी' काष्ठ का यज्ञ में उपयोग कर सकते हैं वैसे ही भिन्न-भिन्न कल्प वालों को भी ऋत्विज नियुक्त कर सकते है ? यह कथन इस कारण ठीक नहीं कि 'औदुम्बरी' यज्ञ के लिये होती है और यज्ञ-कर्म का सम्बन्ध पुरुष से है ? फिर शङ्का है कि भिन्न-भिन्न कल्पों को यज्ञ में अधिकार है तो अन्य यजमान से भी यज्ञ की सिद्धि हो सकती है ? इसका उत्तर है कि अन्य यज्ञ के यजमान का अन्य यज्ञ में अधिकार कथन नहीं किया गया है। फिर शङ्का है कि यदि समान कल्प वालों का यज्ञाधिकार माना जाय तो फल का निमित्त ठीक नहीं रहता,

क्योंकि यजमान भिन्न-भिन्न हैं ? इसका समाधान है कि यजमानों का सम्बन्ध यज्ञ से स्वामी रूप में होता है इससे फल प्राप्ति में बाधा नहीं पड़ती ।१–१०।

साम्नोः कर्मवृद्धचैकदेशेन संयोगो, गुणत्वेनाभिसम्बन्ध-स्तस्मात्तत्र विघातः स्यात् ।११। वचनात्तु द्विसंयोगस्त-स्मादेकस्य पाणित्वम् ।१२। अर्थाभावात्तु नैवं स्यात् ।१३। अर्थानां च विभक्तत्वान्न तच्छ्रुतेन सम्बन्धः ।१४। पाणेः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ।१५। सत्राणि सर्ववर्णानाम-विशेषात् ।१६। लिङ्गदर्शनाच्च ।१७। ब्राह्मणानां वेतरयो रार्त्विज्याभावात् ।१८। वचनादिति चेत् ।।१६। न स्वा-मित्वं हि विधीयते ।२०।

उक्त प्रकरण में बृहत् और रथन्तर साम का दृष्टान्त भी दिया जाता है, पर वह उपयुक्त नहीं है ।११। अब 'कुलाय' नामक यज्ञ में भिन्न गोत्र वाले राजा तथा पुरोहित के अधिकार कहे जाते हैं। इसका उत्तर है कि विधान-वाक्य से ऐसा अर्थ प्रकट नहीं होता। दूसरा कारण यह भी है कि पुरोहित का याग ब्रह्म तेज की स्तुति करने वाला होता है और राजा का बल की ओर जो दोनों हाथों को मिला कर अञ्जलि देने का दृष्टान्त दिया जाता है उसका उत्तर है कि होम एक हाथ से ही हो सकता है। इससे भी एक ही पुरोहित से हवन करना सिद्ध होता है ।१२ १५। पूर्व पक्ष है कि सत्र नामक यागों में सब वर्णों को यज्ञ-क्रिया का अधिकार है ऐसा शास्त्रीय प्रमाणों से विदित होता है ? इसका उत्तर है कि क्षत्रिय और वैश्य वर्ण वालों के ऋत्विज होने का निषेध है, इससे सत्र का अधिकार ब्राह्मणों को ही है। फिर शङ्का है कि 'ऋद्धिकामा सत्रमासरी न' वाक्य से प्रकट होता है कि ऐश्वर्य की समृद्धि चाहने वालों को सत्र करना चाहिये। ऐसी

अभिलाषा वाले सभी वर्ण के होते हैं और उनको अधिकार है ? इसका उत्तर है कि यह कथन यज्ञ के स्वामी से सम्बन्ध रखता है ऋत्विज से नहीं ।१६-२०। इस पर आगामी सूत्र में शङ्का करते हैं।

गार्हपते वा स्यान्नामाविप्रतिषेधात् ।२१। न वा कल्पविरोधात् ।२२। स्वामित्वादितरेषामहीने लिंगदर्शनम् ।२३। वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् ।२४। सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ।२५। वैश्वामित्रस्य हौत्रानियमाद्भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः ।२६। विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ।२७। सारस्वते च दर्शनात् ।२८। प्रायश्चित्तविधानाच्च ।२९। साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ।३०।

सत्र के अन्तर्गत जो 'गार्हपत्य' नामक कर्म होता है उसमें क्षत्रिय, वैश्य को भी अधिकार होना उचित है ? उत्तर है कि ऐसा करने से गोत्र का विरोध हो जाता है, हाँ, 'अहीन' नामक याग में अन्य वर्ण वाले भी यजमान होते हैं ।२१-२३। पूर्व पक्ष का कथन है कि वसिष्ठ गोत्र वालों का ही सत्र में अधिकार है, उन्हीं को यज्ञ का 'ब्रह्मा' नियत करना चाहिये। इसमें एक कथन यह भी है सत्र में सब ब्राह्मणों का समान अधिकार है ? इसका उत्तर है कि भृगु, शुनक, वसिष्ठ गोत्र वालों का सत्र में अधिकार नहीं, विश्वामित्र गोत्र वालों का ही अधिकार है क्योंकि उन्हीं के होता होने का नियम पाया जाता है ।२४—२६। एक प्रश्न यह भी है कि "आहिताग्नि" (अग्नि का आधान करने वाले) और "अनहिताग्नि" (आधान न करने वाले) दोनों तरह के ब्राह्मणों को सत्र में अधिकार है ? इसमें एक युक्ति तो यह है 'सारस्वत' नामक सत्र में "अनाहिताग्नि" वालों का कथन पाया जाता है और दूसरे प्रायश्चित्त के विधान पाये जाने से भी यही अर्थ निकलता है ? इसका समाधान यह है कि सत्र का अनुष्ठान

दर्शपूर्णमास याग के पश्चात् कथन किया गया है जिसमें 'अग्न्याधान' कर्म होना आवश्यक है और यह कर्म अनाहिताग्नियों द्वारा नहीं हो सकता है ।२७—३०।

स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ।३१। सन्निवापं च दर्शयति ।३२। जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्संदेहे यथाकामो प्रतीयते ।३३। अपि वाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ।३४। प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ।३५। पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृ नियमः स्याद्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादितरान्प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात् ।३६। लिंगाच्चेज्याविशेषवत् ।३७। न वा संयोगपृथक्त्वाद् गुणस्वेज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ।३८। इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत ।३९।

उपरोक्त कथन में दोनों युक्तियों का समाधान यह है अग्नियों का आधार अपने-अपने स्वार्थ के लिये होता है और सब यजमानों की अग्नियों के मिलाप का श्रुतिवाक्य पाया जाता है ।३१—३२। पूर्व-पक्ष कि सत्र में आवश्यक होने पर अन्य यजमान के जुहू आदि पात्र लेकर कार्य सम्पादन किया जा सकता है ? इसका समाधान है कि नये पात्र लेने चाहिये । दूसरे यजमान के पात्र लेने का निषेध है, क्योंकि यदि वह इसी अवसर पर मर जाय तो उसके पात्र उसी के साथ जला देने का विधान है ।३३—३४। फिर कहते हैं कि यजमान के मर जाने पर जो प्रायश्चित कथन किया गया है उससे भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।३५। पूर्व पक्ष है कि 'अध्वर कल्पादि' विकृत यागों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों को अधिकार कथन किया गया है । 'सप्तदशो वै वैश्यः' वाक्य में १७ सामधेनियों वाला वैश्य होता है । इसका समाधान यह है कि याग और सामधेनियों में

अन्तर होता है । गुण के प्रति याग के प्रधान होने से वैश्यों का उसमें अधिकार नहीं हो सकता । वैश्य-स्तोम से वैश्यों के यजमान होने का स्पष्ट कथन पाया जाता है, इससे वह ठीक है ।३६—४०।

॥ षष्ठ पाद समाप्त ॥

सप्तम पाद

स्वदाने सर्वमविशेषात् ।१। यस्य वा प्रभुः स्यादिर-स्याऽशक्यत्वात् ।२। न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्याविशिष्टत्वात् ।३। अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ।४। नित्यत्वा-च्चनित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ।५। शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ।६। दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दानसंयोगात् ।७। अशेष-त्वात्तदन्तः स्यात्कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ।८। अपि वा शेषकर्म स्यात्क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।९। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।१०।

पूर्व-कक्ष है 'विश्वजित्' याग में यजमान को सर्वस्व दान करने का विधान है ? इसका समाधान है कि यजमान जिन वस्तुओं का स्वामी है उनके दान का है अन्य का नहीं, जैसे कई व्यक्ति स्त्री तक का दान कर देते हैं वह ठीक नहीं है । इस प्रकार राज्य की भूमि का दान नहीं किया जा सकता क्योंकि उस पर अन्य सम्बन्धियों पुत्र, पौत्र आदि का भी अधिकार है । अश्वों का भी दान नहीं करना चाहिये क्योंकि वे युद्ध के लिये अनिवार्य है ।१—४। इस पर शङ्का है कि जब 'आत्मदान' देने तक का विधान है तब घोड़ों आदि के दान में क्या बाधा है ? इसका उत्तर है कि आत्मा नित्य पदार्थ है, उसकी अनित्य पदार्थों से तुलना नहीं की जा सकती और न किसी प्रकार का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है ।५। शूद्रों को भी उक्त यज्ञ में दान देने का अधिकार है ।६। यह सब दान दक्षिणा काल में ही देना

चाहिये। यहाँ शङ्का है कि क्या दक्षिणा काल में याग की समाप्ति हो जाती है ? इसका उत्तर है कि नहीं, दक्षिणा के बाद भी पूर्णाहुति आदि कर्म शेष रहते हैं, जिनका प्रमाण श्रुति में मिलता है ।७-१०।

अशेषं तु समञ्जसमादाने शेषकर्म स्यात् ।११। नादानस्यानित्यत्वात् ।१२। दीक्षासु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात् ।१३। अहर्गणे च तद्धर्मः स्यात्सर्वेषामविशेषात् ।१४। द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ।१५। अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात् ।१६। लिङ्गदर्शनाच्च ।१७। विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ।१८। अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ।१९। अनुग्रहाच्च पादवत् ।२०।

पूर्व—पक्ष है कि यज्ञ-कर्म के पूर्ण होने पर समस्त बची हुई सामग्री को हवन कर देना चाहिये। इसी से यज्ञ-कार्य की पूर्ति होती है ? इसका उत्तर है कि उसमें जो पदार्थ भक्षण योग्य हों उन्हें यज्ञ शेष के रूप में भक्षार्थ रख कर अन्य सामग्री का हवन कर देना ठीक है। शङ्का है कि यज्ञ-शेष में सम्पूर्ण सामग्री का हवन कर देना लिखा है और यज्ञ-शेष का भक्षण करना भी लिखा है, इन परस्पर विरोधी बातों का क्या कारण है ? उत्तर है कि यज्ञ-शेष भक्षणार्थ ही होता है, पूर्णाहूति उससे अन्य सामग्री की ही दी जाती है ।११—१४। 'अहर्गण अष्टरात्र याग' विश्वजित् याग के समान होता है, अतः उसमें भी सर्वस्व दान की दक्षिणा दी जानी चाहिये। इस पर शङ्का है कि जैसे ज्योतिष्टोम याग में बारह सौ रुपये दक्षिणा का कथन है वैसा ही इसमें किया जाय ? इसका उत्तर है कि अहर्गण याग ज्योतिष्टोम से मिलता हुआ नहीं है, विश्वजित याग से मिलता है, अतः उसी का अनुकरण करना चाहिये। उसके विवरण से भी ऐसा ही प्रमाणित होता है ।१५—१७। पूर्व पक्ष है कि विकार रूप अहर्गण याग दोनों

अवस्थाओं में हो सकता है अर्थात् चाहे बारह सौ रुपया हो वा कम हो। उत्तर है कि बारह सौ से कम वाला उक्त याग नहीं कर सकता। शास्त्र में बारह सौ या अधिक का भाव पाया जाता है ।२०।

अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्तच्छ्रुतित्वात् ।२१। कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसङ्ख्यानात् ।२२। अनियमोऽविशेषात् ।२३। अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरेः सन्निधानात् ।२४। अर्थवादश्च तदर्थवत् ।२५। परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम् ।२६। तद्युक्ते च प्रतिषेधात् ।२७। निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात्पञ्चावत्तवत् ।२८। विधौ तु वेदसंयोगापदुदेशः स्यात् ।२९। अर्थवादो वा विधिशेष वात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।३०।

पूर्व पक्ष का कथन है कि विधान-वाक्य में 'अपरिमित' धन देने का उल्लेख है इसलिए किसी नियत संख्या का क्या प्रयोजन है? उत्तर है कि अपरिमित का आशय बारह सौ के समान संख्या धन से ही है, इस पर फिर शङ्का है कि 'तुल्य' कह देने से कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता इसलिए बारह सौ और अपरमित का समान अर्थ करना ठीक नहीं है? इसका उत्तर है कि "शतदेयं, स स्रदेयं, अपरिमित देयं।" इससे बहुत धन का आशय ही निकलता है। अर्थात् विश्वजित याग बहुत साधन सम्पन्न ही कर सकते हैं अन्य नहीं। इस 'अपरिमित' शब्द में अर्थवाद का भाव भी पाया जाता है, जैसे निन्दा-स्तुति को कुछ बढ़ा चढ़ाकर कह दिया जाता है, वैसे ही यह भी है ।२१—२५। पूर्व सृष्टि का उल्लेख करके कथन है कि उसमें भी मनुष्यों के धर्म वर्तमान की भाँति ही थे जैसे "सदाचारी पुरुष सौ वर्ष जीवित रहता है।" इस पर पूर्व पक्ष का कथन है कि पूर्व सृष्टि के मनुष्यों का उदाहरण ग्रहण करने का निषेध है? इसका उत्तर है कि जब पूर्व सृष्टि

के मनुष्यों के देह पञ्च भौतिक ही थे तो उनको मनुष्य-धर्मा मानना ही ठीक है उन्हें अलौकिक कल्पना करना अनावश्यक है। वेदों के वर्णन से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।२६—३०।

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु ।३१। अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ।३२। नासामर्थ्यात् ।३३। सम्बन्धादर्शनात् ।३४। स कुल्यः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसंभवात् ।३५। अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ।३६। विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्तरः स्यादिति लावुकायनः ।३७। संवत्सरो वा विचलित्वात् ।३८। सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् ।३९। अहानि वाऽभिसङ्ख्यात्वात् ।४०।

सहस्रों वर्ष की आयु आदि का कथन करना अर्थवाद है जैसे कहीं कहा है कि पूर्व कल्प में लोगों की आयु सहस्रों वर्ष की थी, किन्तु ऐसी आयु मनुष्यों की नहीं हो सकती। अगर उक्त मत को सत्य मानें तो वे लोग इन्द्रादि की तरह देव योनि के मानने पड़ेंगे। पर शास्त्र में उस समय के लोगों के भी अध्ययन-अध्यापन का जिक्र पाया जाता है जिससे वे मनुष्य धर्मा ही ज्ञात होते हैं। देवताओं में मनुष्य का स्वभाव पाया जाता है।३१—३३। अग्नि, वायु आदि जड़ देवों में अध्ययन—अध्यापन का कथन किस प्रकार किया जा सकता है। कार्ष्णाजिनि आचार्य का मत है कि जो सहस्र वर्ष की आयु लिखी है वह एक कुल या वंश की है, उसका आशय एक व्यक्ति से नहीं है। इस पर पूर्व पक्ष का कथन है कि शास्त्र वाक्य में जो 'कृत्स्न' शब्द आया है उससे एक व्यक्ति का ही आशय निकलता है? ।३४—३६। लावुकायन ऋषि का मत है कि सहस्र वर्ष के अध्ययन का आशय गौण है वास्तव में उसका अर्थ बहुत अधिक समय तक अध्ययन करते रहने

से है। दूसरा समाधान यह भी है कि "संवत्सर" शब्द एक अर्थ का वाचक नहीं है। कहीं उसका अर्थ वर्ष का होता है, कही ऋतुओं का और कहीं दिनों का। पूर्व पक्ष का कथन है कि उक्त वाक्यों में मनुष्यों की पद्धति के अनुसार मानवीय वर्ष का अर्थ ही लेना चाहिये ? इसका समाधान यह कि 'संवत्सर' दिन के अर्थ में भली प्रकार आता है क्योंकि एक दिन में छँओं ऋतुओं के वर्तने का वर्णन पाया जाता है।३७-४०।

॥ सप्तम पाद समाप्त ॥

अष्टम पाद

इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्यादपूर्वोऽप्याधानस्यसर्वशेषत्वात् ।१। इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतृन-संस्कृतेषु दर्शयति ।२। उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ।३। स सर्वेषामविशेषात् ।४। अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूत-निर्देशः ।५। जपो वाऽनग्निसंयोगात् ।६। इष्टित्वेन संस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवाच्यत्वात्।७। उभयोः पितृयज्ञवत् ।८। निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्नि-संयोगात् ।९। पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ।१०।

प्रजा की कामनार्थ 'चतुर्होत्र नामक होम अपूर्व होने पर भी पवमान इष्टि का साध्य होने से संस्कृताग्नि में ही कराया जाय, यह पूर्व पक्ष है ? समाधान है कि इष्टि रूप से जो स्तुति की जाती है उससे प्रकट होता है कि चतुर्होत्र को असंस्कृत अग्नि में करना चाहिए। फिर शंका है कि यदि उसे असंस्कृत अग्नियों में किया जाय तो फिर विधान की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि उपरोक्त होमों का उपदेश अपूर्व विधि से दिया गया है ? ।१—३। अन्य शंका है कि उपरोक्त विधि

तो अंगभूत–असङ्गभूत दोनों तरह के होमों का विधान करती है? उत्तर है कि जो कर्म यज्ञ के अंग नहीं हैं वे अनाहिताग्नियों से होते ही हैं। फिर शंका है कि अनाहिताग्नियों की इष्टि का कथन तो केवल अर्थवाद है, उसका अग्नि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता? उत्तर है कि इष्टि के रूप में वर्णन किए जाने से वह होम ही है कोरा अर्थवाद नहीं है दूसरे असंस्कृताग्नि होम करने का विधान पाया जाता है।४–७। पूर्व पक्ष कहता है कि जैसे पितृयज्ञ को आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दोनों प्रकार के पुरुष कर सकते हैं, वैसे चतुर्होम कर्म को दोनों ही प्रकार के पुरुष कर सकते हैं? इसका समाधान है कि चतुर्होम अनाहिताग्नि में ही किया जाता है, उसी अग्नि से उक्त होमों का सम्बन्ध है। पितृ-यज्ञ में तो आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों से सम्बन्ध के वचन पाये जाते हैं, इसलिए उसका दृष्टान्त चतुर्होम में नहीं लग सकता।८—१०।

उपनयन्नाधीत होमसंयोगात्। ११। स्थपतिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात्। १२। आधानं च भार्यासंयुक्तम्। १३। अकर्मं चोर्ध्वमाधानात्तत्समवायो कर्मभिः। १४। श्राद्धवदिति चेत्। १५। न श्रुतिविप्रतिषेधात्। १६। सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत्। १७। सोमपानात्तु प्रापर्णं द्वितीयस्य तस्मादुपच्छेत्। १८। पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत। १९। स्थपतीष्टिः प्रयाजदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चापवृज्येत्। २०।

पूर्व पक्ष है कि उपनयन काल में आहिताग्नि में हवन करे क्यों कि उसका होम के साथ सम्बन्ध पाया जाता है? इसका समाधान है कि उपनयन कर्म 'स्थपति' इष्टि के समान लौकिक अग्नि में ही करने चाहिए क्योंकि उनका उद्देश्य विद्याध्ययन में प्रवृत्त होना है और

अग्न्याधान का अधिकार विद्याध्ययन के बाद प्राप्त होता है। दूसरा कारण यह भी है अग्न्याधान का अधिकार स्त्रीयुक्त को ही है।११-१३। एक शङ्का यह है कि जो अग्न्याधान के पश्चात् भार्या ग्रहण करता है वह अकर्म है ? दूसरी शङ्का यह है कि श्राद्ध कर्म के समान उपनयन सम्बन्धी हवन आहित और अनाहित दोनों अग्नियों में किया जाता है ? इनका समाधान है कि उक्त प्रकार दो भार्याओं का विवाह निषिद्ध माना जाता है। सब प्रकार के प्रयोजनों के लिये होने से स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है, उसका उद्देश्य केवल प्रजोत्पत्ति नहीं है। सोम पीने वाला (वैदिक धर्मावलम्बी) दूसरी भार्या की अभिलाषा नहीं रखता।१४—१८। पितृयज्ञ आहिताग्नि (ब्राह्मण आदि) और 'अनाहिताग्नि' (शूद्र आदि) दोनों का कर्तव्य है, इसलिए उसे दोनों तरह से करने का विधान है।१६। स्थपति इष्टि प्रयाज के समान अग्न्याधान के आश्रय से होती है। इससे यज्ञ के अभिप्राय वाली होने से आहिताग्नि से सम्बन्धित है।२०।

अप वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात्। २१ ॥ अवकीर्णि पशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् । २२। उदगयनपूर्वपक्षाहः पुण्याहेषु दैवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् । २३। अहनि च कर्मसाकल्यम् । २४। इतरेषु तु पित्र्याणि । २५। याच्ञाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् । २६। नियतं वाऽर्थवत्वात्तस्सात् ।२७। तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् । २८। अनर्थकं त्वनित्यं स्यात्। २६। पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् । ३०।

उक्त कथन पर पूर्व पक्ष का मत है कि उक्त इष्टि का अनुष्ठान लौकिक अग्नि में होना चाहिए, क्योंकि अग्न्याधान कर्म सब के लिए नहीं है ? ।२१। जिस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य व्रत भंग हो जाय

उसे गर्दभ का स्पर्श करके 'अवकीर्णि इष्टि' का होम अनाहिताग्नि में करना चाहिये ।२२। चूड़ाकरण आदि कर्म पवित्र दिनों में किया जाय, क्योंकि स्मृति ग्रन्थों में ऐसे देव कर्मों को शुभ दिनों में करने का आदेश है । इस कर्म को दिन के समय ही करना चाहिए ।२४—२५। पूर्व पक्ष है कि भिक्षा और सोम का क्रम सब कालों में होना चाहिए, जैसा कि लोक-व्यवहार देखा जाता है ? इसका समाधान है कि भिक्षा आदि का काल नियत है । यदि इन कर्मों को नियमपूर्वक न किया जाय तो ये स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक हो सकते हैं ।२७—२८। अब पशुओं की रक्षा के सम्बन्ध में विचार करते हैं कि वेद के 'पशून-पाहि' मन्त्र में पशु रक्षा का कोई विशेष नियम नहीं है, अर्थात् सब प्रकार के पशुओं की रक्षा का उपदेश किया गया है ।२९-३०।

छागो वा मन्त्रवर्णात् ।३१। न चोदनाविरोधात् ।३२। आर्षेयवदिति चेत् ।३३। न तत्र ह्यचोदितत्वात् ।३४। नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात् ।३५। अनियमो वाऽर्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् ।३६। न वा प्रयोगसमवायित्वात् ।३७। रूपाल्लिंगाच्च ।३८। छागेन कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ।३९। रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ।४०। विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ।४१। स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ।४२। जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ।४३।

इस में पूर्व पक्ष की शङ्का है कि बकरे को मार कर हवन करने का तो वेद में आदेश है ? इसका समाधान है कि यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यह उक्त वेद मन्त्र का विरोधी है ।३१—३२। फिर शंका है कि 'आर्षेयं वृणीते' वाक्य के समान उक्त मन्त्र का आशय गो आदि विशेष पशुओं की रक्षा से ही है । सब पशुओं से उसका सम्बन्ध नहीं ?

इसका उत्तर है कि वेद मन्त्र में किसी विशेष पशु का उल्लेख नहीं है वरन् उसका आशय पशु मात्र से है ।३३–३४। फिर शङ्का है कि उक्त मन्त्र में सामान्य पशुओं की रक्षा का विधान है, पर छाग एक विशेष पशु है, इससे उसकी गिनती उन में नहीं हो सकती ? इसका उत्तर है कि वेद के आदेश में पशुओं में भेद नहीं किया गया है। वहाँ स्पष्ट कहा है "गौ माहिंमी अविमाहिंमी मा हिंसीरेकशफम्" (गाय मत मारो, भेड़ को मत मारो, खुर वाले पशुओं को न मारो) ।३५-३६। फिर शङ्का करते हैं कि 'छाग' के तो नाम से ही उसे मारने का अर्थ सिद्ध होता है, "यागार्थछिद्यतेति छाग" अर्थात् जो याग के लिये काटा जाय वह छाग है ? इसका उत्तर है कि उक्त कथन गलत है। उसका अर्थ बकरे से नहीं लगाया जा सकता। वरन् यज्ञ के लिए जो पदार्थ छेदे-काटे जाते हैं वे 'छाग' संज्ञा वाले हैं। रूपों में भिन्नता होने से 'छाग' से कोई जाति का आशय ग्रहण नहीं करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि यज्ञ में पशु-हवन रूप विकार इष्ट नहीं। ईश्वरीय ज्ञान वेदों में ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती। वेदों में अधिकांश जगह 'छाग' का प्रयोग यौगिक अर्थ में हुआ है और इस वर्णन से उसे कोई पशु-विशेष नहीं माना जा सकता ।३७–४१। यह भी कह सकते हैं कि 'छाग' एक विशेष प्रकार की वनस्पति या ओषध का नाम है जो हवन की सामग्री में पड़ती है। इससे भी वह बकरा सिद्ध नहीं होता ।४२–४३।

इस 'अधिकार अनधिकार' शीर्षक षष्ठम् अध्याय में यज्ञ-क्रिया सम्बन्धी अनेक विवादग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने के साथ ही कई विशेष महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है। जैसे प्रथम पाद में ही स्त्रियों के यज्ञाधिकार का प्रश्न उठाया है और विरोधी पक्ष की ओर से यह आपत्ति उपस्थित की गई है कि स्त्रियाँ तो बेची और

खरीदी जाती हैं, उनके पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती, इसलिए वे यज्ञ कार्य-जैसे धन-साध्य कर्म को कैसे कर सकती हैं ? पर मीमांसा कार ने सिद्ध कर दिया है कि स्त्री को शास्त्रों ने स्पष्ट शब्दों में अर्धाङ्गिनी और सहधर्मिणी घोषित किया है, अतः पति के धन में उसका भी स्वामित्व रहता हैं और वह यज्ञ की पूर्ण अधिकारणी हैं। द्वितीय पाद में कर्म करने में पुरुष की स्वाधीनता का विवेचन बहुत उपयुक्त हैं। जो लोग भाग्य को दोष लगा कर अपने दोषों पर पर्दा डालना चाहते हैं उनको मीमांसाकार ने बहुत फटकारा है। उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया है मनुष्य पूर्व कर्मों का फल (प्रारब्ध) भोगने में परतन्त्र अवश्य है, क्योंकि वह जो कुछ भी बुरा कर्म करता है उसका दण्ड तथा जो भला कर्म करता है उसका पुरस्कार स लोक और परलोक में अवश्य पायेगा। पर वर्तमान जीवन में नवीन कर्म करने में वह पूर्णतया स्वतन्त्र है और अपने भावी जीवन को जैसा चाहे वैसा बना सकता है।

साथ ही उन्होंने ६-२-१२ में यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया है एक व्यक्ति के कर्म का फल दूसरा नहीं पा सकता। जैसे लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति द्वारा कमाया धन दूसरे अमुक व्यक्ति को मिल गया। पर या तो उसे ऐसा लाभ अपने किसी पुराने कर्म के फलस्वरूप मिला है और यदि उसने छल कपट और जबर्दस्ती वह धन प्राप्त किया है तो अवश्य ऐसा कोई कारण पैदा हो जायगा जिससे धन पा जाने पर भी वह उसका उपभोग न कर सकेगा, उससे किसी तरह का सुख नहीं पा सकेगा। यदि ऐसा अन्धेरखाता होता तो ईश्वर के अटल नियमों में बाधा पड़ जाती और सब लोग ईमानदारी और परिश्रम के मार्ग को छोड़ कर ऐसा ही चालाकी और बेईमानी का मार्ग अपना लेते। इसके अतिरिक्त इस कथन से एक सिद्धान्त यह भी प्रकट होता

है जो लोग दूसरों से धार्मिक कृत्य कराके उसका पुण्य अपने लिए समझ लेते हैं वह भी एक भ्रम है। मनुष्य को उसी कर्म का फल प्राप्त हो सकता है जिससे वह स्वयं श्रद्धा और परिश्रम-पूर्वक करेगा।

दान देते समय विवेक से काम लेने का उपदेश ६-७-२, ३, ४ में दिया गया है। 'विश्वजित् याग' में सर्वस्व दान का विधान है, पर दर्शनकार ने स्पष्ट कर दिया है कि जो लोग उसमें स्त्री, राज्य की भूमि, सेना आदि का समावेश भी कर लेते हैं वे मूर्ख हैं। सर्वस्व दान का अर्थ अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति और उपयोग के पदार्थों से ही है। पर यदि हम स्त्री को भी अपनी सम्पत्ति समझ कर दान दे दें तथा अपने परिवार के अन्य व्यक्तियों के निर्वाह के साधनों—भूमि, जायदाद आदि को भी पण्डा जी को दे डालें तो यह अज्ञानता का ही द्योतक होगा।

यज्ञों में मांस के प्रयोग का प्रश्न बड़ा विवादग्रस्त है। यह तो मानना पड़ेगा कि बीच के समय में अज्ञान अथवा स्वार्थ के कारण यज्ञों में पशुओं को मारने की प्रथा प्रचलित हो गई थी और किसी किसी यज्ञ में तो इतने पशु मारे गये थे कि नदियों का पानी कोसों तक तक लाल हो गया था। पर प्रश्न यह है कि यह प्रथा वास्तव में शास्त्रीय है अथवा उस समय के स्वार्थ-लोलुप तथा धूर्त पुरोहितों ने शास्त्रों के अर्थ का अनर्थ करके यह दूषित कर्म प्रचलित करा दिया था? मीमांसादर्शन का कथन है कि यज्ञ-कर्म वेदों के विधानानुसार किया जाता है उसमें मांस का प्रयोग कदापि विहित नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में अष्टम पाद के अन्तिम बारह सूत्रों में यह विवाद उठाया गया है कि वेदों में जो पशु-हिंसा का निषेध किया गया है उसका आशय गाय, भैंस आदि बड़े और उपयोगी पशुओं से है। बकरा तो उस तरह का पशु नहीं है, उसका यज्ञ में काटना अनुचित नहीं? पर दर्शनकार ने बराबर इसी बात पर जोर दिया है कि वेदों के 'पशून् मा हिंसी'

वाक्य में पशुओं में कोई श्रेणी भेद या अन्य प्रकार का भेद-भाव नहीं किया गया है, अत: प्रत्येक पशु की हिंसा करना निषिद्ध है। फिर यज्ञ जैसे पवित्र और आत्म-कल्याण के लिए किए जाने वाले धर्मकृत्य में तो हिंसा का ख्याल भी न करना चाहिये। उस समय तो जीवमात्र के प्रति कल्याण और आत्म-भाव की भावनायें रखने से ही सद्परिणाम की प्राप्ति हो सकती है।

मांस-व्यवहार के सम्बन्ध में विचार करते हुए इसके अन्य पहलुओं पर भी विचार करना आवश्यक है। यह तो स्पष्ट है कि शास्त्रों में मांस को रजोगुण उत्पन्न करने वाला माना गया है और इसमें भी सन्देह नहीं कि वह बहुत शीघ्र सड़ने-गलने वाला पदार्थ है, जिससे उसकी प्रकृति शीघ्र ही तामसी बन जाती है। ऐसे आहार का समर्थन कोई भी सात्विक वृत्ति वाला--आध्यात्मिकता की अभिलाषा रखने वाला नहीं कर सकता। पर साथ ही हम इससे भी इन्कार नहीं कर सकते कि संसार में अधिकांश प्रदेशों में मांस का प्रयोग सदा होता रहा है और अब भी यदि दुनियाँ भर की जनसंख्या की दृष्टि से हिसाब लगाया जाय तो मांस का सर्वथा त्याग करने वालों की गिनती सौ में से एक या दो ही ठहरेगी। अन्य जातियों तथा देशों में तो इसका कोई प्रतिबन्ध है ही नहीं, हिन्दुओं में भी अधिकांश व्यक्ति न्यूनाधिक परिणाम में मांस का प्रयोग करने वाले हैं।

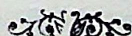
इसके अतिरिक्त इसका सम्बन्ध देश, काल और परिस्थिति से भी है। बहुत से प्रदेश ऐसे है जहाँ अन्नादि की पैदावार बहुत कम है और वहाँ के निवासी अधिकांश में शिकार द्वारा ही जीवन-यापन करते हैं। एक जमाना भी ऐसा था जब कि पृथ्वी पर कृषियोग्य भूमि कम थी, ज्यादातर भाग जङ्गलों, झीलों आदि से भरा हुआ था। उस समय भी जङ्गल के जानवरों का शिकार स्वाभाविक माना जाता था। कभी कभी अकाल या लम्बे युद्धों आदि के फलस्वरूप ऐसी स्थिति आ जाती

थी कि मनुष्य को विवश होकर ऐसे निषिद्ध पदार्थ का उपयोग करना पड़ता था, जैसे पौराणिक कथाओं के अनुसार घोर अकाल के समय विश्वामित्र ने कुत्ते का मांस खा कर प्राण-रक्षा की। इसलिए यदि किसी प्रदेश के निवासी, किसी जमाने में अन्नादि के अभाव से मांस का प्रयोग करने लग गये हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसी विवशता को शास्त्र से क्षम्य माना गया है।

पर जब हम अध्यात्म, आत्मोत्कर्ष की दृष्टि से विचार करते हैं तो यह स्पष्ट जान पड़ता है कि मांस का प्रयोग किसी भी तरह धर्म का साधक नहीं बाधक ही सिद्ध होगा। इससे निर्दयता, कठोरता स्वार्थपरता के भावों को प्रोत्साहन मिलेगा और मनुष्य की मनोवृत्ति सात्विकता से हट कर राजसी और तामसी बनने लगेगी। यह बात आत्म-कल्याण की दृष्टि से कदापि माननीय नहीं हो सकती। अतएव धार्मिक कृत्यों में मांस को स्थान दिलाने का समर्थन कोई बुद्धिमान और विचारशील व्यक्ति नहीं कर सकता।

॥ अष्टम पाद समाप्त ॥

❊ षष्टम अध्याय समाप्त ❊



सप्तमोऽध्याय

प्रथम पाद

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाधिकारं भावः स्यात् ।१। उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा सत्त्ववदैकधर्म्यं स्यात् ।२। चोदना शेषभावाद्वा ताद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरुन्नुत्पत्तोर्गुणभूतत्वात् ।३। सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सार्वत्रिकं प्रतीयेत् ।४। अविभागात्तु नैवं स्यात् ।५। द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ।६। उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात्ततश्च-कर्मभेदः स्यात् ।७। यदि वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात् ।८। अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववत्त्वात्प्रयोगस्यः कर्मणः शब्दभाव्यत्वाद्विभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात् ।९।

इस अध्याय में आचार्य देव ने इस सूत्र का उपन्यास किया है - श्रुति प्रमाण त्वादिति । जिस अपूर्व का जो भी शेष है उसे स्पष्टतया बतलाया जाता है और श्रुति के प्रमाण से यह सिद्ध किया गया है कि यह इस कर्म का शेष है । यहाँ प्रकरण के ही अनुसार धर्मों की व्यवस्था की जाती है ।१। यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है अतएव यजन और अपूर्व का भिन्न विभाग सम्भव नहीं होता है । जितने भी यजन हैं वे सभी अपूर्व वाले होते हैं । सत्त्वधर्म की भाँति समस्त अपूर्वों का यजि (यजन) से तुल्य सम्बन्ध होता है । जैसे गौ को पैर से नहीं स्पर्श करना चाहिये यहाँ पर गोत्व के सम्बन्ध से सफेद नीली आदि समस्त प्रकार की गौओं का ग्रहण होता है किन्तु यहाँ पर

सामान्य सम्बन्ध से ही यजन का अनुवाद किया जाता है। दर्श पूर्ण मास अथवा ज्योतिष्टोम से यजन करना चाहिए, यहाँ पर ज्योतिष्टोमादि की कर्तव्यता ही बतलाई जाती है उसकी विशेषता नहीं बताई जाया करती है।२। कर्म की प्रेरणा का शेष भाव होने से अपूर्वों के भेद होने से और यजन का उस प्रेरणा से गौण भाव रहने से प्रकरण के अनुसार ही उसकी व्यवस्था की जाती है। कम करने की कर्तव्यता 'दर्श पूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्यादि में बतलाई जाती है। यहाँ पर 'दर्शपूर्णमासौ' विशेष है और 'यजेत' यह सामान्य है। 'स्वर्ग कामो यजेत'—यहाँ पर भी वाक्य में फल का श्रवण नहीं होता है केवल कर्तव्यता ही बतलाई जाती है क्योंकि यजन के समाप्त होने पर ही अपूर्व हुआ करता है।३। सत्त्व को लक्ष्य करके जो भी कोई धर्म कहा जाता है वह सार्वत्रिक होता है। गौ की आकृति में धर्म श्रूयमाण होता है क्योंकि आकृति एक पदार्थ है। आकृति सहचारी पिण्ड के लक्षण का अर्थ वाली होती है जिस प्रकार 'गङ्गा से घोष है' यहाँ पर होता है। यहाँ पर तो इसे सार्वत्रिक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यजि का गुण भाव होने से यजन में धर्म श्रूयमाण नहीं होते हैं।४। अपूर्व प्रयुक्त जो धर्म बतलाये जाते हैं वे सब यजन प्रयुक्त ही समझने चाहिये क्योंकि धर्मों का यजन के साथ कोई विभाग नहीं होता है। कुछ धर्म प्रत्यक्ष रूप से द्रव्य में ही है। कुछ देवता में श्रूयमाण होते हैं और कुछ मन्त्रों में होते हैं। अतएव धर्मों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो यजि से ही होता है अपूर्व के साथ तो अनुमान द्वारा किया जाता है। जिस तरह घृत-पान कालान्तर में मेधा-स्मृति-बल और पुष्टि आदि किया करता है जोकि उसके फल होते हैं। इसी प्रकार से यजन भी फलादि किया करता है। अतः अदृष्ट और अश्रुत अपूर्व की कल्पना व्यर्थ ही है।५। दो प्रकार के अर्थों का मानना विप्रतिषिद्ध होता है अतः

यजि द्वारा प्रयुक्त ही समस्त धर्म होते हैं ।६। यजन में विधि का अभाव होने के कारण अपूर्व में प्रवृत्ति होती है । इसलिए अपूर्वार्थ होने से अपूर्व प्रयुक्त ही धर्म होते हैं । यजि में तो केवल धर्म श्रूयमाण होते हैं और किये जाते हैं वस्तुतः यजि प्रयुक्त वे नहीं होते हैं । इससे फिर कर्म का भेद हो जायगा ।७। यद्यपि अपूर्व धर्मों का प्रयोजक होता है तो भी अभिधान के समान सामान्यतया वह सर्व धर्म वाला होता है । जैसे उदरामय में पय का पान करना चाहिये यहाँ पर सब प्रकार के उदर रोगों में पय का पान किया जाता है । इसी प्रकार से किसी एक अपूर्व के जो धर्म हैं वे समस्त अपूर्वों के हो सकते हैं ।८। प्रयोग के पूर्ववत्त्व होने से और अर्थ के विभक्त न होने से अभिधानों में तो ऐसा हो सकता है किन्तु कार्यों को शब्द मान्य होने से विभाग होने के कारण शेष कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होगी । जो कर्म अन्यत्र निहित हैं उनकी अन्यत्र अप्रवृत्ति हो जायगी क्योंकि अपूर्वों का विभाग होता है ।९।

स्मृतिरिति चेत् ।१०। न पूर्ववत्त्वात् ।११। अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ।१२। समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारः स्यात् ।१३। श्येनस्येति चेत् ।१४। नासन्निधानात् ।१५। अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्थे ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेस्तद्वाचक समानं स्यात् ।१६।

जो स्मृति कहा गया है उसका क्या परिहार है । जब ऐसा प्रश्न होता है तो इसका उत्तर होता है कि यह स्मृति पूर्ववती होती है । यह प्रापित धर्मों का अनुवाद है । यह न्याय पूर्विका है, आप्तों की विधायिका नहीं है ।१०—११। अब प्रतिज्ञा और हेतु का पुनर्वचन स्वरूप निगमन किया जाता है । अग्न्याग्वाधादि अर्थ की शब्द भाव्य होने से प्रति प्रकरण में निबन्धन शब्द में अन्यत्र ही भाव होता है । इस सप्तम अध्याय के द्वारा ऐन्द्राग्नादि कर्मों के धर्म हैं । यही बताये

जाते हैं। वे धर्म अतिदेश से होते हैं। दूसरे स्थान पर विदित धर्मों का अन्यत्र जो देश किया जाता है वही अतिदेश होता है। जैसे-देवदत्त की भांति ही यज्ञदत्त को भोजन कराना चाहिये, यहाँ अतिदेश होता है। वह नाम और वचन से हुआ करता है। नाम अतिदेशिक कर्म संस्कार और यौगिक तीन प्रकार का होता है। वचनात्मक अतिदेश प्रत्यक्ष श्रुत और अनुमानिक दो प्रकार का होता है।१२। अब प्रत्यक्ष श्रुत श्येन सम्बन्धी वैशेषिक धर्म के इषु में अतिदेश के अधिकरण को बताया जाता है। समान में पूर्व तत्व होने से उत्पन्नाविकार होता है। यहाँ पर एक श्येन है और दूसरा इषु है। इषु में कुछ धर्मों का विधान करके इतर श्येन के समान है ऐसा कहते हैं। यहाँ पर यदि विधि है तो श्येन के धर्मों का इषु में अतिदेश किया जाता है। यह इषु ज्योतिष्टोम पूर्वक होने से पूर्व होने वाला है। श्येन ज्योतिष्टोम पूर्वक होता है उसमें भी ज्योतिष्टोमिक धर्म होते हैं। अतः वे श्येन और इषु में समान होते है। इसलिए उत्पन्नाधिकार होने से अनुवाद है।१३। ज्योतिष्टोमिकों का अनुवाद नहीं है श्येन के ग्रहण करने की सामर्थ्य से श्येन के वैशेषिक लोहितोष्णीय आदि धर्मों की विधि है। श्येन का यहाँ ग्रहण करना अर्थ वाला होता है।१४। इस तरह सर्वदा इतर शब्द के सन्निहित होने पर ही हुआ करता है। अतएव यहां असन्निधान से श्येन के वैशेषिकों का वाद युक्त नहीं होता है।१५। अन्य पक्ष के परि-ग्रहण में यहाँ श्येन के वैशेषिकों की यह विधि है, अपूर्वत्व होने से ज्योतिष्टोमिकों का अनुवाद नहीं है, इस प्रकार से यह प्रवृत्ति विशेष का करने वाला हो जायगा। अनुवाद होते हुए अप्रवृत्ति विशेष का करने वाला अनर्थक हो जायगा। इसलिए ज्योतिष्टोमिक विधि से जो श्येन वैशेषिक अधिक हैं वे यहाँ अतिदिश्यमान हो जाते हैं। उसका वाचक समान शब्द होता है।१६।

पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशः सन्निधानात् ।१७। सर्वस्य वैकशब्द्यात् ।१८। लिङ्गदर्शनाच्च ।१९। विहिताम्नानान्नेति चेत् ।२०। नेतरार्थत्वात् ।२१। एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ।२२। एककपालनां विश्वदेविकः प्रकृतिराग्रयणे सर्वहोमपरिवृत्तिदर्शनादवभृथे च सकृद द्व्यवदानस्य वचनात् ।२३।

चतुर्मास्यों के वैश्वदेव पर्व में आग्नेयादि पाँच हवियाँ होती हैं। ये पाँच हवि समस्त पर्वों में संचरण करती हैं। इसीलिए ये पञ्च सञ्चर कही जाती हैं। वहाँ उनमें सन्निधान होने के कारण केवल अर्थवाद का अतिदेश हुआ करता है। अर्थवादों के द्वारा इनका विधान होता है धर्म विधियों से नहीं होता। धर्म विधियों से जिनका विधान होता है वे हवि होती है। १७। अर्थवाद मात्र का ही अतिदेश होता है यह उचित नहीं है क्योंकि सविधिक और सार्थवादक समस्त काण्ड का अतिदेश होता है। समान शब्द ही इसका हेतु होता है।१८। वरुण प्रधासों में त्रिशत आहुतियों के लिङ्ग होने से विधियों का अतिदेश दिखलाई देता है।१९। विदित आम्नान से यह नहीं होता है—यदि ऐसा कहा जाता है तो इसका परिहार बताया जाता है ।२०। विधि के अतिदेश होने पर भी अग्नि मन्थन आदि आम्नानों की अनर्थकता नहीं होती है। दक्षिण वैहारिक मारुत्याख्य इतर हवि के अर्थ होने से विधियों के अतिदेश का यह ज्ञापक नहीं होता है।२१। जिस तरह वैश्वदेव आदि में एक कपाल और ऐन्द्राग्नि में द्वादश कपाल आम्नान है उसी भाँति यहाँ पर सविधिक और सार्थवादक काण्ड का अतिदेश होता है।२२। आग्रयण में समस्त होम की अपरिवृत्ति के देखने से एक कपालों की वैश्वदेविक प्रकृति होती है। अतएव यहाँ वरुण प्रधासिक एक कपाल का ग्रहण होता है। तथा अवभृथ में सकृद्द्व्यवदान का वचन होने से एक कपाल का ग्रहण होता है।२३।

॥ इति सप्तमाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

द्वितीय पाद

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद्यथाशिष्टम् ।१। शब्देस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्यात्पृथग्भवात्क्रियाया ह्यभिसम्बन्धः ।२। स्वार्थे वा स्यात्प्रयोजनं क्रियायास्तदंगभावेनोपदिश्येरन् ।३ शब्दमात्रमिति चेत् ।४। नोत्पत्तिकत्वात् ।५। शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात् ।६। स्वरस्येति चेत् ।७। नार्थाभावाच्छ्रुतेरसम्बन्धः ।८। स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ।९। लिंगदर्शनाच्च ।१०।

अब यहाँ रथन्तर आदि शब्दों को गीति विशेष का वाची बताने का अधिकरण है। स्तोमादि से विशिष्ट जो ऋक् है वह साम है। अभिधान शब्द से द्वारा उसकी प्रवृत्ति हुआ करती है वह प्रवृत्ति यथाशिष्ट होती है, प्रवक्ताओं ने जो शिष्यों के लिये की है। ये संस्कार के वाचक नहीं होते हैं क्योंकि इनका प्रयोग अकर्म काल में ही होता है। प्रयोजन का अभाव होने के कारण प्रोक्षणा वेक्षणादि कर्म के काल में संस्कार कर्म में साम का प्रयोग नहीं होता है।१। शब्दों के द्वारा अर्थ की विधि होने से अन्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती है। गान क्रिया का शब्द के साथ अभिसम्बन्ध होता है, शब्द का नहीं होता है। शब्द पृथक् ही अवस्थित होता है।२। अथवा स्वार्थ में प्रवर्त्तमान अभिवती कवती का अङ्गभाव से उपदेश करना चाहिए। यहाँ पर प्रयोजन अदृष्ट को कल्पित करना चाहिए। इस पक्ष में यह दोष होता है कि क्रिया के प्रयोजन की कल्पना की जाया करती है।३। यदि केवल शब्द ही कहा जावे जैसे रथन्तर शब्द का कवती में प्रयोग किया जाता है। कवती रथन्तर शब्द के द्वारा अभिलाषित हो जाया करता है। शब्द में तो कार्य का होना असम्भव है अतः अर्थ में कार्य

का ज्ञान किया जाता है ।४। नामी और नाम का औत्पत्तिक सम्बन्ध होता है । जो शब्द जिस अर्थ में औत्पत्तिक सम्बन्ध से प्रसिद्ध होता है वह अन्य अर्थ के बताने में असमर्थ हुआ करता है । गो शब्द के द्वारा अश्व कभी भी नहीं कहा जा सकता है ।५। यदि इस प्रकार से माना जावे तो यह अतिदेश शास्त्र अनर्थक हो जायगा क्योंकि वह अशक्याथ होता है ।६। साम शब्द से लोक में स्वर कहा जाता है। स्वर-नाद और घोष में समाज अर्थ वाले होते हैं । वह साम शब्द के द्वारा कहा जाता है। रथन्तर भी साम है । यदि नाम का अतिदेश नहीं होता है तो स्वर का अतिदेश हो जाना चाहिए ।७। अभिवती स्वर का कवती में अभाव होने से "कवतीषु रथं तदं जायति" इस श्रुति के पदों का परस्पर में अभि सम्बन्ध नहीं होता है । अतएव स्वर का अतिदेश नहीं होता ।८। बहुत से वर्ण और मात्राओं के अवि-भक्त होने से उपपत्तियों में अर्थात् उच्चारणों में स्वर होता है । सो यह अभिवती स्वर कवती में साधारण वर्ण समवेत होता है । अतएव स्वर का अनुवाद होता है ।९। इस अर्थ में लिङ्ग के दर्शन होने से यह सिद्ध हो जाता है । जो विद्यमान नहीं दिखलाई दिया करता है उसी के दर्शन के लिये यत्न किया जाता है। जिस प्रकार से घट को नहीं देखता हूँ इसलिये प्रदीप करता है। इस से रथन्तर और वृहद् का अनुवाद होता है ।१०।

अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरासु यथाश्रुति ।११। शब्दानां चासामञ्जस्यम् ।१२। अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैः ।१३। अद्रव्यं चापि दृश्यते ।१४। तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वा-दर्थो ह्यासामलौकिको विधानत् ।१५। तस्मिन्संज्ञाविशेषाः स्युर्विकारपृथक्त्वात् ।१६। योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभि-

विधीयन्ते । १७। अयोनो चपि दृश्यतेऽतथायोनिः । १८।
ऐकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत् । १६। स्यादर्थान्तरेष्व-
निष्पत्तेर्यथालोके। २०। शब्दानाञ्चसामञ्जस्यम् ।२१।

यदि स्वर का अनुवाद माना जाता है तो यथाश्रुत उत्तराओं का प्रयोग करना चाहिए जो कि स्वाध्याय के काल में श्रुत होते हैं। ऐसा होने पर कोई भी विकार श्रुत नहीं होता है। वहाँ पर रथन्तर-उत्तर का गायति यह अनुवाद मात्र अप्रवृत्ति विशेष के करने वाला अनर्थक हो जायगी। अतएव स्वर का अनुवाद युक्त नहीं होता है ।११। ऐसा मान लेने पर रथन्तर आदि साम शब्दों का असा-मञ्जक्य हो जायगा। यह रथन्तर अथवा बृहत् शब्द स्वर के साम शब्दत्व होने पर स्वर समुदाव में आनुपूर्वी से अवस्थित स्वरविशेष में प्रयुक्त होते हैं। वे भिन्न आनु पूर्वी वाले एक देश में असमञ्जस हो जाता है।१२। यहाँ पर धर्म लक्षणा का आश्रय लेना अगति है। अतः रथन्तरादि गान नामक संस्कार कर्म का वाचक होता है। यह शब्द गीति विशिष्ट ऋचा में देखा जाता है। अगृहीत विशेषण वाली बुद्धि विशेष्य में उत्पन्न नहीं हुआ करती है। इससे विशेषण का अभि-धान किया जाता है। विशेषण के प्रत्यक्ष होने से सहचरित विशिष्ट में प्रत्यक्ष होता है। अतएव ऋचा का शब्द से कोई संस्पर्श नहीं होता है। गायति शब्द के गान में प्रसिद्ध होने से रथन्तरादि शब्द का ग्रहण होता है। ह्रस्व दीर्घादि का विकार अन्य संस्कार कर्मों के द्वारा अविशिष्ट होता है।१३। और यह भी है कि साम अनृच दिखाई देता है। प्रजापति का हृदय अनृच माना जाता है। अतः यह सिद्ध है कि ऋचा में साम शब्द का प्रयोग नहीं होता है। गीति में ही साम का प्रयोग होना है जो ऋचा के बिना भी होती है।१४। विविध रूप होने से उसकी क्रिया अकर्म काल में शिक्षा एवं अभ्यास के ग्रहण

के लिया हुआ करती है । रथन्तरादि संज्ञा वाली ऋचा का अर्थ शिष्योपाध्याय के सम्बन्ध से विधान होने के कारण अलौकिक हुआ करता है ।१५। उस गान नामक संस्कार में विकारों के पृथक् होने से संज्ञा विशेष होते हैं । गान की तुल्यता होने पर भी उसमें कुछ विशेषता रहा करती है इसी लिये संज्ञाओं में पार्थक्य होता है ।१६। योनि शस्या ऋचायें तुल्य की भाँति इतर अर्थात् अयोनि शस्या ऋचाओं के द्वारा विधान की जाया करती हैं। "याम्याः शंसति" इत्यादि में 'शंसति' – इस शब्द से विधान होने के कारण तुल्यता हो जाती है ।१७। अयोनि में साम दिखलाई देता है । अतथा योनि साम दिखाई देता है । जिसकी जो योनी होती है उससे अन्य दृश में देखा जाता है ।१८। जहाँ दोनों का एक ही अर्थ हो वहाँ वैरूप्य (विरूपता) नहीं होता है । जिस प्रकार से रथन्तर गीतिका एक ही अर्थ होता है। उसकी योनि में प्रयोग के शिक्षित होने पर फिर उत्त-राओं में नहीं शिखाना चाहिए । यदि ऐसा कहते हैं ।१९। तो फिर अर्थान्तर में अनिष्यत्ति हो जायगी । जिस तरह पाक में ओदर और गुड़ का पाक भिन्न लक्षण वाला हुआ करता है । अतः वैरूप्य होता ही है ।२०। इस प्रकार से साम शब्द और ऋक् शब्दों का सामञ्जस्य हो जायगा । कवती शब्द ऋचा को हो बतलाता है और रथन्तर शब्द साम को बताता है ।२१।

।। इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीय पाद समाप्त ।।

तृतीय पाद

उक्तं क्रियाभिधानं यच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् ।१। अद्रव्यं वापि भागित्वात् ।२। नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ।३। प्रत्यक्षाद्गुणसंयोगात्क्रियाभिधानं स्यात्तदभावेऽप्रसिद्धं

स्यात् ।४। अपि वा सर्वत्र कर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात् ।५। विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वात् ज्योतिष्टोमिकानि पृष्ठान्यस्ति च पृष्ठशब्दः ।६। षडहाद्वा तत्र हि चोदनाः ।७। लिंगाच्च ।८। उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः ।९। द्वयोविधिरिति चेत् ।१०। न व्यर्थत्वात्सर्वशब्दस्य ।११।

आदि में नैयमिक का अग्निहोत्र शब्द नामधेय है यह कहा गया है। अन्यत्र श्रुति में उसका विधि प्रदेश होता है। यह अग्निहोत्र शब्द कर्म से संबद्ध है किन्तु उसके सहचरित दोहन आदि धर्मवत्ता को लक्षण शक्ति के द्वारा ज्ञान कराने में समर्थ होता है। अतः धर्म प्रदेश बताया जाता है।१। विपर्यास से कहते हैं कि ये दोनों कर्म अपूर्व में होते हैं अतएव इस नाम धेय का जुहोति भी भागी होता है इस कारण से दोनों का यह साधारण नाम धेय होता है। इसलिये धर्म प्रदेश नहीं होता है। २। नाम और नामी का औत्पत्तिक सम्बन्ध हुआ करता है। जिस अर्थ में जो नाम औसत्तिक सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है उसी में वह सदा जानने के योग्य होता है अन्य में नहीं होता है। यहाँ इतर के अभिधान में कोई हेतु नहीं है इससे विधि प्रदेश होता है। ३। नैयामिक अग्निहोत्र में प्रत्यक्ष गुण संयोग होने से क्रिया दोहनादि का अभिधान होता है। वहां पर प्रत्यक्ष विदित धर्म होते हैं। इसके अभाव में यह सब अप्रसिद्ध होता है। अग्निहोत्र किस प्रकार का होता है यह ज्ञान ही नहीं होता है। मास इसका रूप होता है जो कि कर्म का अंग नहीं है। वह तो कर्तृ धर्म होता है।४। अथवा सत्र कर्म में यह श्रुति गुणार्थ वाली होती है अर्थात् लक्षण से नाम धेय धर्मों का ग्राहक हो जाता है। यह श्रुतर्थ के न होने पर लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण कर लेना चाहिये।५। विश्वजित् सर्व पृष्ठ होता है– एसा सुना जाना है। इसमें यह विचार किया जाता है कि

यह अनुवाद है या विधि है। जो असर्व पृष्ठ होता है उसकी सर्व पृष्ठता का विधान किया जाया करता है। जो सर्व पृष्ठ ही है उसका विदितता से क्या प्रयोजन है ज्योतिष्टोम पूर्वक होने से इसको सर्व पृष्ठता स्पष्ट है। समस्त ज्योतिष्टोमिक आदि स्तोत्रों के होने से यह सर्व पृष्ठ होता है। सप्त दश पृष्ठ होते हैं और उनमें पृष्ठ शब्द है।६। अब यहाँ यह कहा जाता है कि यह अनुवाद नहीं है किन्तु विधि है क्योंकि अनुवाद अप्रवृति विशेष के करने वाला अनर्थक होता है। ज्योतिष्टोम में पृष्ठ बहुत्त्व नहीं है जिसका कि यह अनुवाद है। वहाँ पर चोदना है। इससे षाड़हिकों की आदिदोशिक विधि होती है।७। और लिंग यहाँ पर इस अर्थ को दिखलाता है।८। यह जो कहा गया है कि यहाँ नेष्ठ शब्द है सो यह पृष्ठ औत्पत्तिक नहीं है। उत्पन्न स्तोत्रों का यह अधिकार होता है। ज्योतिष्टोम उत्पन्न अधिकार वाला है।९। वृहद्रथन्तर दोनों का अधिकार है—यदि ऐसा कहा जाता है तो वह भी नहीं हो सकता है क्योंकि फिर तो सर्व शब्द की व्यर्थता हो जायगी। यह तो बहु विषय है दो के लिये युक्त नहीं होता है।१०-११।

तथावभृथः सोमात्। १२। प्रकृतेरिति चेत्। १३। न भक्तित्वात्। १४। लिंगदर्शनाच्च। १५। द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगातुः पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात्। १६। गुणविधिस्तु न गृह्णीयात्समत्वात्। १ । निर्मन्थ्यादिषु चैवम्। १८। प्रणयनन्तु सौमिकमवाच्यं हीतरत्। १९। उत्तरवेदिप्रतिषेयश्च तद्वत्। २०। प्राकृतं वाऽनामत्वात्। २१।

जिस प्रकार से षडह से नेष्टों का अति देश होता है उसी प्रकार से सौमिक अवभृय से यहाँ धर्मातिदेश होता है।१२। यदि यह कहा जाये कि दार्श पौर्णमासिक अवभृथ में गुण विधि हो जावे तो यह उचित नहीं है क्योंकि दर्श पौर्णमास में अवभृय नहीं होता है। सादृश्य

होने से यहाँ शब्द का प्रयोग किया जाता है। जलों में जो सम्बन्ध है वही यहाँ सादृश्य होता है। यह प्रशंसा वाद भक्ति मे होता है ।१३-१४। और इस अर्थ को लिंग दिखलाता है। सौमिकाभृथ धर्मों का प्रतिषेध बोलते हुए उसकी धर्म प्राप्ति को दिखलाया जाता है। इससे यह सिद्ध है कि सौमिक अवभृथ से धर्म प्रदेश होता है ।१५। इस प्रकार से प्राप्त होने पर कहते हैं कि द्रव्यादेश में वह द्रव्य है यथा— "तुषनिष्कासे नावभृथं यन्ति" यहाँ पर तुष निष्कास श्रुति संयोग से द्रव्य है क्योंकि तुष निष्कास प्रत्यक्ष सुना गया है। पुरोडास तो आनुमानिक होता है और वह अतिदेश से प्राप्त किया जाता है। तत्प्रकृतित्व होने से ही पुरोडास का ग्रहण होता है ।१६। आतिथ्य के गुण विष्णु देवता संयोग को करता है—यह गुणविधि है और यह सम होने के कारण धर्मों को ग्रहण नहीं कर सकती है ।१७। अग्निषोमीय पशु में धर्मवान् निर्मन्थ्य अग्नि आम्नाय किया गया है। वहाँ निर्मन्थ्य आदि में वैष्णव शब्द की भाँति ही अधिकरणाति देश किया जाता है ।१८। सौमिक तो प्रणयन होता है दार्शपौर्णमासिक नहीं कहना चाहिए। "द्वयोः प्रणयन्ति" यहाँ पर प्रणयन शब्द प्रणयनमात्र वचन होता हुआ प्रणयन विशेष सौमिक को कह सकता है ।१९। प्रतिषेध प्राप्ति पूर्व हुआ करता है। सौमिक प्रणयन में उत्तरवेदि है दार्शपौर्णमासिक में नहीं है ।२०। यहाँ प्रणयन शब्द सौमिक प्रणयन का नाम नहीं होने से प्राकृत ही है ।२१।

परिसङ्ख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ।२२। प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ।२३। मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ।२४। औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ।२५। स्वरसामैककपालाभिक्षं च लिंगदर्शनात् ।२६। चोदनासामान्याद्वा ।२७। कर्मजे कर्म यूपवत् ।२८। रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ।२९। विशये लौकिकः स्यात्सर्वार्थत्वात् ।३०।

जो "अवाच्यं हीतरत्" यह कहा गया है उसका परिहार यह है कि परिसंख्या के लिये है अथवा गुणार्थ है या अर्थवाद के लिये है। वहाँ परिसंख्या में तीन दोष हैं। किसी गुण का भी विधान नहीं किया जाता है। परिशेष में जो अर्थवाद है वह जो प्रयोजन रहित होता है।२२। उत्तर वेदि के प्रतिषेध होने से प्रथम और उत्तम का प्रणयन होता है।२३। अथवा मध्यम पर्वों का गत्यर्थ वाद होने से प्रणयन होता है। गमन के साधन ऊरु होते हैं अतः वहाँ पर इस प्रकार का स्तुति सम्बन्ध जाना जाता है।२४। किसी पर्व विशेष को आरम्भ न करके ही यह औत्तरवेदिक प्रतिषेध होता है।२५। लिंग के दर्शन से स्वरसाम शब्द की भाँति एक कपाल मिक्ष भी धर्म ग्राहक होता है।२६। अथवा स्वरसामत्व सामान्य से एक कपालत्व सामान्य से और आमिक्षा सामान्य से लिंग से लक्षण का परिग्रह होता है।२७। कर्म से उत्पन्न वास आदि द्रव्य के श्रूयमाण होने पर कर्म किया जाता है। जिस प्रकार से जोषणादि क्रिया के निमित्त यूप से जोषणादि क्रियाएँ ही प्राप्त होती हैं।२८। यदि क्रिया के निमित्त नहीं माने जाते हैं तो विकल्प में कहते हैं कि यहाँ क्रिया के शेषभूत न होने से रूप ही देना चाहिए।२९। लौकिक सर्वार्थ होने से विषय में लौकिक ही होता है क्योंकि लौकिक का कोई कार्य निर्दिष्ट नहीं होता है। अग्नि के द्वारा जो-जो दृष्ट अथवा अदृष्ट कर्त्तव्य है वह उपादीय मान विरुद्ध नहीं होता है।३०।

न वदिकर्थनिर्देशात् । ३१ । तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात् । ३२ । संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् । ३३ । भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद्गुणानामभिधानत्वात् । ३४ । कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात्तथा भूतोपदेशात् । ३५ । अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् । ३६ ।

शास्त्र के द्वारा कार्य का निर्देश होने से वैदिक नहीं होता है। वैदिक को भी यदि सर्वार्थ मान लिया जावे तो शास्त्र द्वारा कार्य का निर्देश अनर्थक हो जाता है ।३१। इतर धैष्ण्य अग्नियों की भी समान होने से उसी प्रकार से उत्पत्ति होती है । इनका भी कार्य निर्दिष्ट होता है ।३२। यूप शब्द संस्कार करने चाहिए ।३३। अथवा यज्ञ का शेष न होने से संस्कार नहीं करना चाहिये । संस्कारों के अभाव में वर्तमान अपदेश साहश्य से घटित हो जाता है । यूप के संस्कारों का अभिधान न होने से भी उनकी आवश्यकता नहीं है ।३४। पृष्ठ शब्द कर्म का वाचक है तथा भूत उपदेश होने से यह सिद्ध है। ।३५। "पृष्ठै रुप तिष्ठत" इस अभिधान के उपदेश से "अभित्वा शूर नो नुम" इत्यादि ऋग् द्रव्यों में पृष्ठ शब्द ऋचाओं का वाचक है। यहाँ आत्मने पद होने से विप्रनिषेध भी होता है। आत्मने पद तो मन्त्र करण से ही उपपन्न होता है । इसलिए पृष्ठ शब्द मन्त्रों में ही आता है । मन्त्रो के धर्म नहीं होते हैं अतः वहाँ धर्मों की प्राप्ति नहीं होती है ।३६।

इति सप्तमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।

चतुर्थ पाद

इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ।१। स लौकिकः स्याद्दृष्टप्रवृत्तित्वात् ।२। वचनात्तु ततोऽन्यत्वम् ।३। लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ।४। अपिवाऽन्यायपूर्वत्वाद्यत्र नित्यानु वादवचनानि स्युः ।५। मिथो विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ।६। भागित्वात्तु नियम्येत गुणानामभिधानत्वात्सम्बन्धादभिधानवद्यथा धेनुः

किशोरेण ।७। उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाधिकारं भावः स्यात् ।८। उत्पत्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन् ।६। विध्यन्तो वा प्रकृतिवाच्चोदनायां प्रवर्त्तेत यथा हि लिङ्गदर्शनम् ।१०।

इस पाद में अविहित इति कर्तव्यता वाले सौर्यादि में इति कर्तव्यता के अतिदेश का निरूपण किया जाता है। अब तक नाम से अति देश कहा गया है अब आनुमानिक वचन से अति देश कहा जाता है। यजि अपूर्व का साधन करता है और फिर कालान्तर में उससे फल हुआ करता है। कर्म और फल का सम्बन्ध होता हैं। यद्यपि कर्म गौण है और फल की प्रधानता होती है तो भी दोनों के अभि सम्बन्ध होने से कर्म का उपदेश होता है। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग कामो यजेत' यहाँ तृतीया से युक्त यजि का गुणाभावाभ्युपगम होता है। इति कर्तव्यता की अविधि से यजति का पूर्वक्त्व होता है। कहीं पर तो इति कर्तव्यता ज्ञात होती है और कहीं पर वह अज्ञात होती हैं।१। इति कर्तव्यता लौकिकी और वैदिकी दो प्रकार की होती है। इसमें विशेषता के अभाव होने से कर्तव्योपाय लौकिक ही होता है क्योंकि वहाँ प्रवृत्ति दृष्ट होती है ।२। यह कोई स्वाभाविक नहीं है कि सभी जगह लौकिक ही इति कर्तव्यता होती है। जहाँ वैदिकी इति कर्तव्यता के विषय में प्रत्यक्ष वचन हैं वहां वह वैदिकी होती है।३। लिङ्ग से इति कर्तव्यता नियम्य हुआ करती है। प्रयाजादि वैदिक अपूर्व के गुण होते हैं जो लिङ्ग होता है वह उनको गुण वाला होता है।४। ऐसे लिङ्गों के द्वारा वैदिकी इति कर्तव्यता नियत नहीं की जा सकती है क्योंकि यह न्यायपूर्वक नहीं है। न्यायपूर्वक वचन ही उसका साधक होता है। जहाँ पर नित्यानुवाद वचन होते हैं वहाँ पर ही वैदिकी इति कर्तव्यता हुआ करती है।५। लौकिकी और वैदिकी ये दोनों इति कर्तव्यतायें एक साथ प्रवृत्त नहीं हुआ करती हैं

क्योंकि दोनों का परस्पर में विप्रतिषेध हो जायगा। यदि दोनों की सह प्रवृत्ति मान ली जावे तो एक के द्वारा कर्म निरपेक्ष होता है तो दूसरी की प्रवृत्ति विप्रति सिद्ध हो जायगो। तथा गुणों की यथार्थ कल्पना हो जायगी।६। समान भागित्व होने पर गुणों के अभिधान होने से दोनों में वैदिकी की इति कर्तव्यता हो जायगी। सौर्यादि में दृश्यमान प्रयाजादि गुण इस अर्थ के अभिवायक होते हैं। अभिधान की भाँति साहचर्य से उसका ज्ञान करा देते हैं। जिस तरह किशोर लिङ्ग से धेनु शब्द गो धेनु में दृष्ट प्रवृत्ति वाला होने पर भी अश्व धेनु में भी भागी होता है। इसी प्रकार से यहाँ पर भी लौकिकी इष्ट प्रवृत्ति होते हुए भी इति कर्तव्यता की समानता से भागी होने के कारण वैदिकी भी जानने के योग्य होती है।७। सब का आग्नेयादि अङ्ग भाव होने से प्रयाजादि धर्मों की उत्पत्तियाँ सम होने से लिङ्ग निधामक नहीं होता है। अनुयाजादि प्रयाजादि के अङ्ग हैं। जहाँ प्रयाजादि की प्राप्ति ही नहीं है वहाँ अधिकार के अनुसार ही होते हैं अर्थात जो धर्म जिस अपूर्व के आम्नात किये गए हैं वे वहीं पर होवें।८। एक ही शब्द में प्रधान की उत्पत्ति और अङ्गो का वचन सम्भव नहीं होता है। जो प्रधान उत्पन्न होता है वह अङ्गों की अपेक्षा किया करता है। इस कारण से लौकिक उपाय ही अभ्युपेय होता है।९। जो जिस कर्म की प्रकृति है उसकी भाँति ही सौर्यादिक चोदना में विध्यन्त प्रवृत्त हो जाने चाहिये, लौकिक धर्म नहीं होते हैं। जिस वाक्य को प्राप्त कर पुरुष किसी अर्थ में प्रवृत्त होता है अथवा कहीं से निवृत्त होता है, यही विधि है "सोमेन यजेत" यह विध्यादि है और प्रधान विधि वर्जित समस्त पौरोडासिक ब्राह्मण विध्यन्त होता है। लौकिक विधि का अभाव होने से लौकिक विध्यन्त नहीं होता है। यहाँ पर वैदिकी इति कर्तव्यता होती है। इससे प्रयाजादि लिङ्गदर्शन का समर्थन हो जाता है।१०।

लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ।११। लिङ्गस्य पूर्ववत्ताच्चोदनाशब्दसामान्यादेकेनापि निरूप्येत, यथा स्थाली-पुलाकेन ।१२। द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वादैकाहिकम-धिकागमात्तदाख्य स्यादेकाहवत् ।१३। लिङ्गाच्च ।१४। न वा क्रत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम् ।१५। लिङ्ग सङ्घात-धर्मः स्यात्तदर्थापत्तेर्द्रव्यवत् ।१६। न वार्थधर्मत्वात् सङ्घा-तस्य गुणत्वात् ।१७। अर्थापत्त द्रव्येषु धर्मलाभः स्यात् ।१८। प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ।१९। विहारदर्शनं विशिष्ट-स्यानारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात् ।२०।

यदि लिङ्ग के हेतु होने से वैदिक अभ्युपाय होता है तो जिस कर्म में कुछ भी लिङ्ग नहीं है वहाँ लौकिक विधान होजाना चाहिये क्योंकि वह वैदिक तो हो ही नहीं सकता है वहाँ लिङ्ग का अभाव है। लिङ्ग के पूर्व नत्त्व होने से यहाँ लिङ्ग हेतु कत्व ही नहीं है किन्तु यहाँ विध्यन्त हेतुक होता है। चोदना शब्द सामान्य है और यह विध्यन्त भी न्याय पूर्व होता है। लिङ्ग वाले या अलिङ्ग वाले सभी कर्मों का न्याय तुल्य होता है। सर्वत्र विध्यादि होता है और तुल्य वह अपेक्षा से श्रुत विध्वन्त के साथ सम्बन्ध रखता है। स्थाली पुलाक के समान न्यायपूर्वक एक स्थान में भी दृश्यमान लिंग तुल्य न्याय वाले सब की धर्मवत्ता का ज्ञापन कर देता है।११-१२। अद्य चोदक और नाम धेय के बलाबल का विचार किया जाता है। चोदक के द्वारा द्वादशाहिक धर्म प्राप्त होते हैं। जो द्वादशाहिक ऐकाहिकों से विरुद्ध नहीं होते हैं वे यथा प्राप्त किया करते हैं। द्वादशाह प्रकृति होने से द्वादशाहिक अहर्गण में होता है। जो द्वादशाह में अधिक ऐकाहिकों से कुछ धर्म होते हैं उनके अधिकों के आगम से एकाह की भाँति उस नाम वाले होते हैं ।१३। लिङ्ग होने से यह जाना जाता है कि द्वादशादि करना चाहिये ।१४।

अथवा द्वादशाहिक नहीं करना चाहिये, ऐकाहिक ही कर्तव्य है क्योंकि चोदक के द्वारा द्वादशाहिक की प्राप्ति होती है और नामधेय से ऐकाहिक प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष होने के कारण नामधेय चोदक से बलवान् होता है। अधिकागम वचन से होता है नाम धेय से नहीं होता है। ज्योतिष्टोम में ज्योति आदि शब्द का अभाव होता है ? ।१५। द्वादशोपसक्त्व दर्शन जो लिङ्ग बताया गया है उकका परिहार यह है कि लिंग सघात धर्म होता है और द्वादशाह अह संघात है। उसकी उस कार्यापत्ति से द्वादशाह धर्मों को ग्रहण करता है चोदक से नहीं होता है। जिस तरह व्रीहि आदि द्रव्य ये श्रुत धर्म तत्कार्यापन्न नीवारों में प्राप्त हुआ करते हैं ।१६। संघात के गौण होने से द्वादशोप सत्त्व अपूर्व का धर्म है संघात का धर्म नहीं होता है।१७। द्रव्यवत्-यह दृष्टान्त उचित नहीं है क्योंकि द्रव्यों में कार्यापत्ति होने से उनके धर्मों का भी लाभ हो जायगा ।१८। मुख्य प्रवृत्ति से नियत का लिङ्ग दर्शन होता है चोदक की प्राप्ति होने से नहीं होता है ।।१९।। अनारम्यवादों को प्रकृत्यर्थ होने से विशिष्ट का विहार दर्शन होता है ।२०।

।। चतुर्थ पाद समाप्त ।।

॥ सप्तमो अध्याय समाप्त ॥



अष्टमोऽध्याय

प्रथम पाद

अथ विशेषलक्षणम् ।१। यस्य लिंगमर्थसंयोगादभि-धानवत् ।२। प्रवृत्तित्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् ।३। लिङ्गदर्शनाच्च ।४। कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम् ।५। स्रुग-भिघारणाभावस्य च नित्यानुवादात् ।६। विधिरिति चेत् ।७। न वाक्यशेषत्वात् ।८। शङ्कते चानुपोषणात् ।९। दर्शनमैष्टिकानां स्यात् ।१०।

सप्तम अध्याय में सामान्य रूप से अतिदेश का लक्षण कहा गया है । अब यह प्रश्न उठता है कि क्या एक कर्म में सर्व कर्म धर्माति देश होता है या एक से नहीं होता है । जब कोई विशेष नहीं हैं तो सबसे हो सकता है क्योंकि एक कर्म के आकाङ्क्षा रहित होने पर द्वितीय धर्म की प्राप्ति में कुछ कारण नहीं है । इसी के लिए विशेष का लक्षण इस अध्याय में बताया जाता है ।१। जिस वैदिक विध्वन्त का कुछ लिङ्ग शब्दगत या अर्थगत वैकृती कर्म चोदना में अथवा तद्गुण वाक्य में दिखलाई देता है वह विध्यन्त के साथ अर्थ का संयोग होने से अभि-धान की भांति विध्यन्त होता है । जिस प्रकार अग्निहोत्र यह अभिधान नैयामिकाग्नि होत्रों के धर्मों को बुद्धि में सन्निधापित कर दिया करता है ? ।२। "ज्योतिष्टोमेन स्वर्ग कामो यजेत" यहाँ पर प्रवृत्तत्व होने से इष्टि की सोम में प्रवृत्ति होती है । दार्श पौर्णमासिक विध्यन्त प्रवृत्त होने से सोम में होता है ।३। ऐष्टिक धर्म सोम में दिखाई दिया

करते हैं। इस लिङ्ग के दर्शन से इसमें ऐष्टिक विध्यन्त होता है।४। अथवा कृत्स्न विधान से सोम में अपूर्वत्व होता है। यह विहित इति कर्तव्यता वाला होता है इसी से अपूर्व है।५। स्रुक् के अभिघारण का सोम में अभावानुवाद होता है। इस कारण से सोम अपूर्व होता है।६। यदि यहाँ कहा जावे कि यह दर्श पूर्णमास प्रकृति होने से प्राप्त स्रुक् के अभिघारण का प्रतिषेध करने वाली विधि है तो ऐसा नहीं हो सकता है।७। अन्य यहाँ पर वाक्य शेष होने से विधि कहा गई है। यथा—"अंशुरंशुस्ते देव सोमाऽऽप्यायताम्' – यह उसका वाक्य शेष होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह विधि नहीं है।८। दार्शपौर्णमासिक में नियत उपोषण होता है और यहाँ उपोषण नहीं होने से ऐसी शङ्का होती है। इससे यह अपूर्व ही है।९। प्रयाजानुयाज ऐष्टिकों का दर्शन लिङ्गत्व से अदिष्ट हो जाता है। इससे सोल का अपूर्वत्व होता है।१०।

इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ।११। पशौ च लिङ्गदर्शनात् ।१२। दक्षस्य चेयरेषु ।१३। ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ।१४। तत्प्रवृत्तिगुणेषु स्यात्प्रतिपशु यूपदर्शनात् ।१५। अव्यक्तासु तु सोमस्य ।१६। गणेषु द्वादशस्य ।१७। गव्यस्य च तदादिषु ।१८। निकायिनां च पूर्वोस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ।१९। कर्मणस्त्व प्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात् ।२०। प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ।२१।

इष्टियों में दर्श पूर्णमास की प्रवृत्ति होती है क्योंकि सभी इष्टियाँ विध्यन्तापेक्ष हुआ करती है। वहाँ पर यह सन्देह होता है कि यह दार्श पौर्णमासिक विध्यन्त है अथवा सौमिक विध्यन्त है या केवल दार्श पौर्णमासिक ही है क्योंकि कोई नियम नहीं होता है ॥११॥

लिङ्ग दर्शन होने से पशु में दार्श पौर्णमासिक ही विध्यन्त होता है ।१२। इतर पशुओं में दीक्षा के सम्बन्ध से दैक्ष अग्निषोमीय का विध्यन्त हो है ।१३। द्वैरशन्य के दर्शन होने से ऐकादार्शनों में सौत्य का विध्यन्त होता है ।१४। प्रति पशु में यूप के दर्शन होने से ऐकादशंनों की प्रवृत्ति पशुगणों में हो जायगी। इससे ऐकादर्शनों का विध्यन्त पशुगणों में ही होता है ।१५। जहाँ द्रव्य देवता का अभाव स्वरूप अव्यक्तत्व होता है वहाँ सौमिक विध्यन्त होता है ।१६। अहर्गण द्विरात्र से आदि लेकर शत रात्र पर्यन्त होते हैं। उन गणों में द्वादशाहिक विध्यन्त होता है ज्योतिष्टोमिक नहीं होता है ।१७। सम्वत्सर सत्रों में गव्य का विध्यन्त होता है ।१८। निकाय संघात को कहा जाता है। वह निकाय जिनमें होता है वे निकायी होते हैं। इन निकायिओं में पूर्व की निकायित्व सामान्यता के कारण उत्तरों में प्रवृत्ति होती है ।१६। कर्म प्रवृत्त नहीं होता है विध्यन्त से धर्म प्रवृत्त हुआ करते हैं। फल स्वर्गादि है नियम जीवन पर्यन्त अभ्यास होता है, कर्त्ता स्वर्गादि की कामना करने वाला है और दर्श पूर्णमास समुदाय हैं। कर्म की प्रवृत्ति न होने के कारण तथा फलादिका उससे बन्धन होने के कारण फल नियमादि की अप्रवृत्ति होती है। कर्म विध्यन्त विहित नहीं होता है ।२०। कर्म के उपकार करने के लिए ही धर्मों की प्रवृत्ति हुआ करती है और फल नियमादि कर्मों के उपकारक नहीं हुआ करते हैं। फल तो पुरुष का उपकार करता है, कर्म का नहीं करता है। फल को पुरुषार्थ ही कहा भी गया है। इसी भाँति नियम भी कर्म का धर्म नहीं होता है वह तो कर्त्ता का धर्म है। कर्त्ता स्वर्ग की कामना वाला होता है कार्मार्थ नहीं होता है। समुदाय भी कार्मार्थ नहीं प्रत्युत फलार्थ होता है। इस प्रकार से इनको कर्म का उपकारक न होने से प्रवृत्ति अनर्थक हो जाती है ।।२१।।

अश्रुतित्वाच्च ।२२। गुणकामेष्वाश्रितत्वात्प्रवृत्तिः स्यात् ।२३। निवृत्तिर्वा कर्मभेमात् ।२४। अपि वाऽतद्विकारत्वात्क्रत्वर्थत्वात्प्रवृत्तिः स्यात् ।२५। एककर्मणि विकल्पोऽ विभागो हि चोदनैकत्वात् ।२६। लिंगसाधारण्याद्विकल्पः स्यात् ।२७। ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत पूर्ववत्त्वाद्विकारा हि ।२८।

दर्श पूर्णमास के संयोग से फलादि की जिस प्रकार अप्रवृत्ति होती है वैसे ही प्रयाजादि की भी उनसे सम्बन्धित होने के कारण अप्रवृत्ति हो जायगी। ऐसा प्रश्न उठने पर कहते हैं कि यदि उनकी प्रत्यक्ष प्रवर्त्तिका श्रुति होती है तो प्रवृत्ति हुआ करती है, वह यहाँ पर नहीं है अतः अश्रुतित्व हेतु से प्रवृत्ति नहीं होती है ।२२। गुण कामों की आश्रित होने से प्रवृत्ति हुआ करती है। गोदोहन प्रणय न के आश्रित होता है और वह प्रणयन प्रवृत्त होता है आश्रय के प्रवर्त्तमान होने पर आश्रित भी प्रवृत्त हो जाया करता है ।२३। अथवा कर्म के भेद होने से गुण कामों की निवृत्ति होती है। जहां गोदोहन का कार्य दूसरा है और चमस का कोई अन्य है। चमस क्रतु के लिये है और गोदोहन पुरुष के लिये है। यहाँ कार्य का भेद हो जाता है ।२४। इस प्रकार के स्थलों में तद्विकारत्व न होने से प्रवृत्ति हो भी जाया करती है। जिस तरह खदिर क्रतु के लिये ही विकार है अतः यह क्रत्वर्थ ही होता है ।२५। "सौर्यं चरुं निर्वयेद् ब्रह्मवर्चस कामः" यहाँ पर चोदना के एक होने से विभाग नहीं होता है। दोनों ही अभिमर्शन में प्राप्त होते हैं। उन दोनों के एकार्थ होने से समुच्चय सम्भव नहीं होता है किन्तु विकल्प होता है ।२६। सौर्य दार्श पौर्णमासिक विघ्यन्त प्राप्ति में जो लिंग उपदिष्ट होता है, वह सबके विघ्यन्त में साधारण ही होता है। इसलिए लिंग के साधारण होने से विकल्प

होता है ।२७। आग्नेय और सौर्य एक देव तत्व के लिंग होने से नियम्य हो जाता है कि आग्नेय है। पूर्व वत्व होने से विकार है। सौर्य पूर्ववान् है। सभी विकृतियाँ पूर्ववती हुआ करती हैं ।२८।

अश्रुतित्वान्नेति चेत् । २९ । स्याल्लिगभावात् । ३० । तथा चान्यार्थदर्शकम् । ३१ । विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपास्यत्वात् । ३२ । तेन च कर्मसंयोगात् । ३३ । गुणत्वेन देवताश्रुतिः । ३४ ।

यदि यह कहा जावे कि यहाँ एकत्व श्रूयमाण नहीं होता है इस से ऐसा नहीं होता है। सौर्य में सूर्य एक-दो या बहुत सूर्य हैं—इस वचन की व्यक्ति नहीं होती है। इसी तरह आग्नेय में भी होता है ।२९। वाक्य शेष में एकत्व के लिङ्ग के होने से एकत्व की व्यवस्था यहाँ पर होती है ।३०। इसी तरह अनुवाक्य में एकत्व का श्रवण होता है। चोदनागत और मन्त्रगत एक की पुनरुक्ति नहीं होती है क्योंकि चोदनागत प्रापक है और मन्त्रगत एकत्र प्राप्त का द्योतक होता है ।३१। देवता सामान्य और हवि सामान्य इन दोनों में कौन विशेष बलवान् है ऐसी विप्रतिपत्ति होने पर हवि से विध्यन्त को नियम्य करना चाहिये क्योंकि कर्म देवता के प्रति द्रव्य का उत्सर्ग किया जाता है। हवि कर्म के प्रत्यासन्न होता है देवता नहीं होता है। अतः देवता हवि की अपेक्षा बहिरंग ही होता है ।३२। और उस हवि से कर्म का संयोग होता है। ऐन्द्र–आग्नेय आदि कर्म की चोदना हवि से संयोग पाकर ही की जाती है। अतः हवि प्रधान शब्द है ।३३। याग में देवता का श्रवण गुणभूत होता है। उसका जो दातृत्व है वह स्तुति करके कहा जाता है। अतः हवि सामान्य ही बलवान् होता है ।३४।

हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात् । ३५ । धर्मानग्रहाच्च ।३६। औषधं वा विशदत्वात् । ३७ । चरुशब्दाच्च । ३८ । तस्मिंश्च

अपणश्रुतेः । ३९ । मधूदके द्रव्यसामान्यात्पयोविकारः स्यात् ४० । आज्यं वा वर्णसामान्यात् । ४१ । धर्मानुग्रहाच्च । ४२ । पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात् । ४३ ।

तेजस्विता होने के कारण हिरण्य आज्य (घृत) के धर्म वाला होता है । हिरण्य अश्वों का तेज होता है और आज्यभी गौओं का सार होता है । अथवा हिरण्य भी तेजस्वी होने से उज्ज्वल होता और घृत भी स्निग्ध होने से उज्वल होता है । इन दोनों में तेजस्त्व की सामान्यता होती हैं । इस सामान्य से उपांशु याज धर्मा शत कृष्णत्व चरु है ।३५। हिरण्य में बहुत सारे आज्य के धर्म अनुगृह्यमाण होते हैं जैसे अवेक्षण आदि है और औषध धर्म अवहन्त्यादि दीपमान हो जाया करते हैं । इस धर्मानुग्रह से भी वह आज्य धर्म वाला होता है ।३६। औषध का हिरण्य में विध्यन्त होता है क्योंकि दोनों में विशदत्व विद्यमान रहता है । हिरण्य भी विशद होता है औषध भी विशद होता है । इन दोनों सामान्यों में कौन विशेष है—यह नहीं कहा जा सकता है । किन्तु विशदत्व के दोनों कारण उपोद्वलक हैं । तेजस्विता का तद्धर्मानुग्रह एक है ।३७। "प्राजापत्यं चरुम्"—यहाँ पर चरु शब्द होता है और चरु शब्द औषध का वक्ता है । इसलिये औषध का बलवान् लिङ्ग है ।३८। और उस आज्य में दार्श पौर्ण-मासिक श्रवण सुना जाता है । वह सामान्य गुण गत है । हवि में रहने वाला वैशद्य है और चरु शब्द है । इससे यह बलवत्ती होती है ।३९। मधूदक में पयो विकार होता है क्योंकि द्रव की सामान्यता है । मधूदक द्रव होते हैं और पय भी द्रव होता है ।४०। वर्ण की समानता होने से अथवा आज्य उन दोनों में उपांशुयाज का विध्यन्त होता है क्योंकि मधु और उदक आज्य के समान वर्ण वाले होते हैं ।४१। मधूदक के बहुत से उत्पवनादि आज्य धर्म नहीं होते हैं ।

।४२। जो पहिले कारण द्रवत्व सामान्य बनाया गया है वह अवि-शिष्ट होता है। आज्य भी अग्नि के संयोग में द्रवीभूत हो जाता करता है। इस कारण से मधूदक का उपांशुयाज विध्यन्त होता है ।४३।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

वाजिने सोमपूर्वत्वं सत्रामण्यां च ग्रहेषु ताच्छब्द्यात् । १ । अनुवषटकाराच्च । २ । समुपहूय भक्षणाच्च । ३ । क्रमणश्रपण-पुरोरुगुपयामग्रहणासादनवासोपहनश्च तद्वत् । ४ । हविषा वा नियम्येत तद्वकाररत्वात् । ५ । प्रशंसा सोमशब्दः । ६ । वचनानीतराणि । ७ । व्यपदेशश्चतद्वत् । ८ ।

चातुर्मास्यों में वाजिनेज्याश्रुत होती है और सौत्रामणी में सुराग्रह होते हैं। यहाँ पर यह सशय होता है कि इन दोनों में भोमिक विध्यन्त है या दार्शपौर्णमासिक है। उस पर कहा जाता है कि वाजिन में और सौत्रामणी में ग्रहों में सोमपूर्वत्व हैं अतः सोम शब्द न होने से सौमिक विध्यन्त होता है। यहाँ पर सोम शब्द श्रूयमाण होता है। उन दोनों का सोम से सदृश्य नहीं होता है और यहाँ पर सादृश्य सोम-धर्मकत्व कर सकता है अन्य कुछ नहीं कर सकता है ।१। अनुवषट्-कार सोम के धर्म को दिखलाता है। वाजिन के आगे श्रीहिं और सुरा के आगे श्रीहि–यह अनुवषट् किया जाता है ।२। समुपहूत करके सोम का भक्षण करना सोम का धर्म होता है। वह उस प्रकार से भक्षण भी यहाँ हैं ।३। अब सुरा के समक्त धर्म सोम में दिखाये जाते हैं—क्रमण–श्रयण–पुरोरुक–उपयाम–ग्रहण–साहन–वासोप और नहन ये समस्त धर्म सुरा के समान सोम में होते हैं। अतः दोनों में

सौमिक विध्यन्त है ।४। अथवा दार्श पौर्णमासिक हवि का विकार होने से दार्श पौर्णमासिक विध्यन्त नियम होता है ।५। यहाँ सोम शब्द प्रशंसा के अर्थ वाला है विध्यर्थ नहीं है क्योंकि विधायक का अभाव होता है ।६। प्राप्ति का अभाव होने के कारण इतर जो सीस क्रयादि हैं वे वाचनिक है ।७। और जो व्यपदेश होता है वह उसी के समान हुआ करता है । यहाँ सोम के विकारत्व में दीक्षणीयादि प्रत्यक्ष रूप से ही प्राप्त होते हैं । अतएव प्रत्यक्ष प्राप्त होने वालों का शष्यादि से तदाप्ति वचन उपपन्न ही नहीं होता है ।८।

पशुः पुरोडाशस्य च लिंगदर्शनम् । ९ । पशुः पुरोडाश-विकारः स्याद्देवतासामान्यात् । १० । प्रोक्षणाच्च । ११ । पर्यग्निकरणाच्च । १२ । सान्याय्यं वा तत्प्रभवत्वात् । १३ । तस्य च पात्रदर्शनात् । १४ । दध्नः स्यान्मूर्तिसामान्यात् । १५ । पयो वा कालसामान्यात् । १६ । पश्वानन्तर्यात् । १७ ।

पुरोडाश धर्म वाले ये नहीं हैं क्योंकि पुरोडाश के लिङ्ग का दर्शन होता है । पशुगण ग्रहों के पुरोडाश होते हैं। ये ग्रहों के पुरोडाश नहीं प्रत्युत ग्रह ही हैं ।९। पशु और पुरोडाश की देव सामान्यता होने से पशु पुरोडाश का विकार हो जाता है । पशु अग्नीषोमीय होता है और पुरोडाश उसी देवता का होता है ।१०। पशु का भी प्रोक्षण होता है जो कि पुरोडाश का धर्म है । इस हेतु से भी यह सिद्ध होता है ।११। दूसरा हेतु इसमें पर्यग्नि करण होता है क्योंकि पर्यग्नि करण भी एक पुरोडाश का ही धर्म है और वह पशु में भी देखा जाता है । इससे यह पुरोडाश का विकार सिद्ध हो जाता है ।१२। अथवा पक्षान्तर दिया जाता है कि पुरोडाश पशु को विकृत नहीं करता है किन्तु सांनाय्य पशु को विकृत किया करता है क्योंकि पशु से सांनाय्य उत्पन्न होता है । आपस में प्रत्यासत्त है और प्रत्यासत्ति बलवान् लिंग

है ।१३। सांनाय्य का जो पात्र मुखा है वह पशु में दिखलाई देती है । घनत्व मूर्त्ति की साधारणता होने से सांनाय्य विकार भी दधि का विकार हो जाता है न कि पशु के दूध का विकार है ।१४—१५। अथवा पशु और पय दोनों में सद्यः कालता रहती है । इस काल की सामान्यता से पय ही पशु को विकृत करता है दधि नहीं किया करता है । क्योंकि दधि दिनद्वय काल वाला है और पय दधि से अन्तरंग भी होता है ।१६। पशु से पय का आनन्तर्य भी होता है क्योंकि पय प्रत्यासन्न होता है दधि नहीं होता है । यह भी एक हेतु स्पष्ट है ।१७।

द्रव्यत्वं चाविशिष्टम् ।१८। आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभयविकारः स्यात् ।१९। एकं वा चोदनैकत्वात् ।२०। दधिसङ्घातसामान्यात् ।२१। पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात् ।२२। धर्मानुग्रहाच्च ।२३।

वैश्वदेव्या मिक्षा दोनों दधि और पय का विकार होता है क्योंकि वह दोनों से ही भाव्य होती है । इन दोनों में किसी एक की विशेषता नहीं होती है ।१८। अथवा यहाँ पक्षोन्तर है कि यहाँ वैश्वदेव्या मिक्षा यह एक ही चोदना है और वह एक विध्यन्त से बिना आकाङ्क्षा वाली की जाती है । अतः दधि या पय इनमें से एक ही विकृत करता है दोनों नहीं करते हैं ।१९—२०। यह जो कहा गया है कि दधि और पय से कोई वैशिष्ट्य नहीं है उसका यहाँ प्रत्याख्यान किया जाता है कि विशेषता दधि में होती है क्योंकि दधि संहत होता है और आमिक्षा भी संहत है । पय तोद्रव द्रव वस्तु है । यही विशेषता है अतः दधि का विकार ही सिद्ध होता है ।२१। अथवा पय आमिक्षा से विकृत होता है क्योंकि इसके संसर्ग की पय को प्रधानता होती है । पय का भूयस्त्व ही प्राधान्य है । दधि तो अल्प होता है । लोक में भी पय को ही घनीभूत बनाने के लिये दधि का उपादान

किया जाता है। दधि तो पय को घनीभूत करने के लिए ही उपात्त किया जाता है। इसलिये पय ही घनीभूत होकर आमिक्षा कहा जाता है। अतः पय का विकार ही न्याय संगत होता है।२२। पय के विकारत्व से सद्यः कालता धर्म की अनुग्राहकता सम्पन्न हो जाती है वह दधि के विकारत्व मानने पर बाधित हो जायगी।२३।

सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ।२४। अपि वा यजति श्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात्प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ।२५। द्विरात्रादीनामैकादशरात्राहीनत्वं यजतिचोदनात् ।२६। त्रयोदशारात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वासनोपायिचोदनात् ।२७ लिंगाच्च ।२८। अन्यतरयोऽतिरात्रत्वात्पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं, कुण्डपायिनामनस्य च, तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात्।२९। अहीनवचनाच्च ।३०। सत्रे वोपायिचोदनात्।३१।सत्रलिगं च दर्शयति।३२।

द्वादशाह सत्र और अहीन उभय संज्ञक है क्योंकि अभियुक्तों का ऐसा उपदेश है। यहाँ उभय प्रकार से ही यह विकृति में प्रवृत्त होता है क्योंकि ऐककर्म्यता दोनों में ही होती है। उस प्रवृत्ति में कोई विशेषता का ग्रहण नही किया जाता है।२४। यहां इसका खण्डन करते हैं कि सर्वत्र उभयथा ही प्रवृत्ति होती है क्योंकि चोदना सामान्य से प्रकृति का नियम होता है। प्रकृति से विकृति तुल्य शब्द वाली होती है। जहाँ यजति श्रूयमाण होती है वहाँ अहीन भूत की प्रवृत्ति है और जहाँ आसनोपायि चोदना है वहाँ सत्र भूत की प्रवृत्ति होती है।२५। द्विरात्रादि एकादश रात्र से अहीन होते हैं। वहाँ पर अहीन भूत की प्रवृत्ति होती है क्योंकि उनकी चोदना यजति शब्द से की जाती है २६। यदि यजति के द्वारा चोदना होने से ही अहीनत्व माना जायगा तो द्विरात्रादि को अहीनत्व और त्रयोदश रात्रादि को सत्रत्व हो जायगा

क्योंकि सभी आसनोपाधि चोदना वाले सत्र होते हैं ।२७। इस अहीनत्व के प्रकट करने में लिंग का दर्शन भी होता है ।२८। अन्यतरसे अतिरात्रत्व होने के कारण पंजदशरात्र, कुण्डपायिनां और अयन ये दोनों ही अहीन होते है। अन्यतर से अतिरात्र भूतों में अहीनत्व श्रूयमाण होता है ।२६। यज्जदशरात्र में अहीन प्रत्यक्ष कहा गया है। इस हेतु से भी वह अहीन होता है ।३०। सत्र में उपाधि चोदना होने के कारण से ये दोनों अहीन नहीं होते हैं। इन दोनों लिगों में यही विशेषता है कि एक चोदनागत है और दूसरा वाक्यान्तर गत होता है। चोदनागत लिंग अन्तरंग होता है ।३१। गृह्यति सत्र में आम्नान होता है, यथा 'गृहपति सप्तदशा: सत्र भुयेयुः'' ।३२।

॥ द्वितीय: पाद: समाप्त ॥

तृतीय पाद

हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ।१। देवतया वा नियम्येत शब्दवत्त्वादितरस्याश्रुतित्वात् ।२। गणचोदनायां यस्य लिङ्ग तदावृत्तिः प्रतीयेताग्नेयवत् ।३। नानाहानि वा संघातत्वात्प्रवृत्तिलिङ्गे, न चोदनात् ।४। यथा चान्यार्थदर्शनम् ।५। कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात् ।६। तदावृत्ति तु जैमिनिरह्लामप्रत्यक्षसङ्ख्यत्वात् ।७। संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत,कृतलक्षणग्रहणात् ।८। अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यादभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् ।६। गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ।१०।

हविर्गण में उत्तर अग्निषोमीय का पर शुचि देवता विकार होता है। इसमें देश सामान्य अर्थात् क्रम सामान्य लिंग होता है।

पूर्व पूर्व का विकार होता है । यहाँ शुचि देवत द्वितीय है और प्रकृति में भी अग्निषोमीय द्वितीय है ।१। अथवा देवता से नियम होता है। क्योंकि देवता में शब्दवत्त्व होता है । देश से नियम नहीं होता है क्योंकि देश श्रूयमाण ही नहीं है । देवता का प्रत्यय कर्म चोदना में अनन्तरत्व होने वे मुख्यता है और इतर तो पौर्वापर्य की अपेक्षा से उत्पन्न होता है इसलिए वह जघन्य माना जाता है ।२। गण चोदना में जिसका लिङ्ग होता है उसकी ही आवृत्ति चोदना सामान्य होने से आग्नेय की भाँति होती है । आग्नेय का जैसे विधान्ताभ्यास होता है वैसे ही यहाँ भी हुआ करता है ।३। यागों का गुण संघात होता है उस गुण से नाना अहों का जो धर्म है वह अतिदिष्ट किया जाता है । सप्तरात्र में चोदना से प्रवृत्त द्वादशाहिक चार हैं उनको अनूदित करके त्रिवृत्त्व किया जा सकता है ।४। यदि त्रिवृत अभ्यास होता है तो सभी अग्निष्टोम हो जावेंगे । ऐसा मानने से अन्यार्थ का दर्शन होता है ।५। कहीं—कहीं कर्म विशेष में "षडहा भवन्ति-चत्वारो भवन्ति"—इस प्रकार से काल का अभ्यास श्रूयमाण होता है वहाँ प्रवृत्ति के विषय में सन्देह हो जाता है तो वहाँ बादरि कहते हैं कि कालाभ्यास में भी द्वादशाहिकों की ही कर्म भेद से प्रवृत्ति होती है ।६। आचार्य जैमिनि बादरि आचार्य से भिन्न पार्ष्ठिक प्रज्ञात षडह की आवृत्ति को मानते हैं । क्योंकि चौबीस दिवसों की संख्या अप्रत्यक्ष है और अनुमान से गम्यमान होती है ।७। कृत लक्षण संयोग के ग्रहण करने से संख्या गणों में उसका अभ्यास प्रतीत होता है । इससे ज्योतिष्टोम का अभ्यास है ।८। चोदक के द्वारा अधिकृत होने से प्रकृति तद्विशिष्ट होती है अर्थात् द्वादशाहिक संस्था विशिष्ट होते हैं। अग्निष्टोमादि अभिधान संस्था निमित्त हैं ज्योतिष्टोम के अभिधायक नहीं हैं ।९। ये अहर्गण द्वादशाह प्रकृति वाले हैं। तत्प्रकृतित्व होने से

गण से उपचय होता है। उनमें द्वादशाहिक विध्यन्त प्राप्त किया जाता है। यदि द्वादशाह से उपचय होता है तो इस प्रकार से चोदकानुग्रह होगा और गण से उपचय होता है।१०।

एकाहाद्वौ तेषां समत्वात्स्यात् ।११। गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रवृत्त्यधिकारात्सङ्ख्यात्वादग्निष्टोमवदव्यतिरेकात्तदाख्यत्वम् ।१२। तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनम् ।१३। न विंशतौ दशेति चेत् ।१४। एकसंख्यमेव स्यात् ।१५। गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वविषयत्वात् ।१६। गोत्ववच्च समन्वयः ।१७। संख्यायाश्च शब्दवत्त्वात् ।१८।

द्वादशाहिकों का इतरों विकृतों से समत्व लिङ्ग होने से एकाह ज्योतिष्टोम से उपचय होता है।११। अब तक उपचय के विषय में विचार किया गया था अब अपचय का विचार किया जाता है गायत्रीयों में त्रिष्टुप् जगती प्रकृतियों का अवच्छेद अर्थात् अक्षरावलोप होता है क्योंकि प्रकृति का अधिकार होता है। यहाँ चोदक के द्वारा त्रिष्टुयुप् जगती प्राकृत्य अधिकृत होती हैं अर्थात् यहाँ प्रकृति का अधिकार है। गायत्री शब्द संख्या का वाचक है। यह चतुर्विंशति संख्या को व्यभिचरित नहीं करतो है अतः प्रव्यति रेक के कारण अग्निष्टोम की भाँति उसका वह आख्यत्व होता है । गाण्त्री चौबीस संख्या के बिना कहीं भी नहीं देखा गया है अतः संख्यात्व होने से इतर जो चोदक द्वारा प्राप्त हैं वे वाधित होने के योग्य होते हैं ।१२। तन्नित्यवत् संख्या मात्र बोलने वाले गायत्री को मानकर उससे पृथक भूत जगतीयों में अर्थात् अगायत्रीयों से तद्वचन होता है ।१:। यदि यह कहा जावे कि विंशति संख्या में दश संख्या नहीं है क्योंकि संख्यान्तर में संख्या नहीं होती है जिस तरह गुण गुणों में नहीं रहा करते हैं। इसलिए संख्यार्थ भी गायत्री शब्द में एका जगता दो गायत्री हैं यह अनुपपन्न

ही होगा । यह दोनों का दोष है इसे एक का ही नहीं कहना चाहिये ।१४। इस विषय में कहते हैं कि हम यह नहीं कहते हैं कि संख्या में संख्या होती हैं । अड़तालीस संख्या के परिच्छिन्न अक्षरों में अवयव भूत दो चौबीस संख्या हैं दो ऋचायें नहीं हैं । यदि संख्या संख्यान्तर को निवृत्ति करती है यही मानते हैं तो इसे संख्या ही कहते हैं ।१५। अथवा, यहाँ पक्षान्तर से उत्तर दिया जाता है कि गायत्री संख्या में होता ही नहीं है । सर्व विषय न होने से गुण से द्रव्य शब्द होता है अर्थात् चौबीस अक्षरों से युक्त द्रव्य का वाचक होता है । यदि संख्या शब्द मानते हैं तो सर्वत्र गोयूथ आदि में भी यह बरता जायगा । इस से यहाँ यह संख्या शब्द ही नहीं है ।१६। गच्छतीति गौ इस व्युत्पत्ति से गमन के करने वाले सभी सामान्य द्रव्य का यह अभिधान हो सकता है किन्तु उनका समन्वय सास्ना आदि वाले केवल गौ में ही होता है अन्त में नहीं होता है । इसी तरह यह भी ऋग्वचन में ही न्याय सङ्गत होता है ।१७। चौबीस यह संख्या वाचक शब्द होता है । इसका अपर गायत्री शब्द से अर्थ नहीं होता है ।१८।

इतरस्याश्रुतत्वाच्च ।१९। द्रव्यान्तरेऽनिवेशादुक्थ्यलोपैर्विशिष्टं स्यात् ।२०। अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ।२१। उत्पत्ति नामधेयत्वाद् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात् ।२२। वचनमिति चेत् ।२३। यावदुक्तम् ।२४। अपूर्वे च विकल्पः स्याद्यदि सङ्ख्याविधानम् ।२५। ऋग्गुणत्वान्ने चेत् ।२६। तथा पूर्ववति स्यात, ।२७।

इतर जो ऋग्द्रव्य है उसकी श्रुति न होने से भी गायत्री शब्द अर्थवान् होता है । यहाँ संख्या का कोई प्रयोजन नहीं है । अतः गायत्री ऋचाओं का ही आगम करना चाहिये ।१९। पहिले अग्निष्टोम वत् जो कहा गया है यह उपन्यास विषम है क्योंकि जिस तरह गायत्री

शब्द ऋग्द्रव्य में होता है वैसे अग्निष्टोम शब्द का किसी भी द्रव्यान्तर में विनेश नहीं होता है। यह तो केवल अग्निष्टोमान्तता को बतलाता है। उक्थ्य लोप के बिना द्वादशाहिकों की अग्निष्टोमान्तता नहीं होती हैं इसलिये उक्थ्य लोप अवश्य ही करना चाहिये ।२०। गायत्री शास्त्र लक्षणा है और शतानिष्टोम में उक्थ्य स्तोत्र अशास्त्र लक्षण वाले हैं। अतः अशास्त्र लक्षणत्व होने से वे गायत्री का बाध नहीं कर सकते हैं। ।२१। ऋचा का औत्पत्तिक नामधेय होने से जगती के अवयव चौबीस अक्षर में प्रयोग होता है और भक्ति से ही होता है ।२२। जहाँ विधि है वहाँ शब्दार्थ से ही व्यवहार होता है। इससे यहाँ पर संख्या में गायत्री शब्द होता है यदि ऐसा कहा जाता है ।२३। वहाँ पर कहते हैं कि वह एक ही स्थान में संख्यार्थ है। अन्यत्र नहीं होता है। लक्षण से कहना उचित नहीं है क्योंकि स्वार्थ का त्याग करके ही लक्षणा जहत्स्वार्था होती है। अतः यह भी हेतु नहीं होता है ।२४। यदि संख्या में गायत्री शब्द का विधान होता है तो अपूर्व दर्श पूर्णमास कर्म में विकल्प हो जायगा और विकल्प में आजु होता का बाध होता है। इसलिए यह संख्या विधान उचित नहीं होता है ।२५। यदि यह कहा जावे कि ऋग्गुण होने से प्रकृति में विकल्प होता है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऋग्गुणत्व उपसंगृहीत होता है ।२६। जिस तरह अपूर्व में होता है वैसे ही पूर्ववान् वृहस्पति सब में भी हो जायगा। अतः ऋग्गुणकत्व बाधित नहीं होता है और अक्षरावलोप भी नहीं होता है ।२७।

गुणावेशश्च सर्वत्र ।२८। निष्पन्नग्रहणान्नेति चेत् ।२९। तथेहापि स्यात् ।३०। यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छब्देऽष्वपि प्रसिद्ध स्यात् ।३१। दृष्टः प्रयोग इति चेत् ।३२। तथा शरेष्वपि ।३३। भक्त्येति चेत् ।३४।

तथेतरस्मिन् ।३५। अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात् ।३६।

गुण चौबीस संख्या का तो सर्वत्र आवेश होता है। यहाँ पर चशब्द तुशब्द के स्थान में आया है। इससे संख्याभिधान गायत्री शब्द में प्रकृति गायत्रीयों का आगम नहीं प्राप्त होता है ।२८। जहाँ पर यह गायत्री शब्द निष्पन्न अर्थात् प्रसिद्ध है उसका ग्रहण होने से यह अक्षरगत संख्या में ही प्रसिद्ध होता है सर्वत्र नहीं है यदि ऐसा कहते हैं ।२९। उस प्रकार से यहाँ भी हो जाता है अर्थात् जिस तरह अक्षरगत संख्या में ही देखा जाता है अन्यत्र नहीं, उसी तरह ऋचाओं में ही देखा गया है अन्य चौबीस अक्षर गद्य में नहीं देखा गया है। यद्यपि ऋचाओं में गायत्री शब्द होता है इस प्रकार से प्रकृत्युप बन्धन होने से अक्षराव लोप करना चाहिये ।३०। यदि असंशय में भी प्रकृत्युप बन्धन से अगायत्री में गायत्री शब्द की कल्पना की जाती है तो कुशों में शर शब्द की कल्पना करनी चाहिये ।३१। यदि यह कहा जाता है कि चौबीस अक्षरगत संख्या में गायत्री शब्द का प्रयोग देखा गया है उससे कल्पना की जा सकती है ।३२। उसी भाँति शरों में भी अर्थात् शर शब्द का प्रयोग भी कुशों में देखा जाता है ।३३। यदि शर शब्द भाक्त प्रयुक्त होता है ऐसा कहते हैं और वह स्वार्थ में वर्तमान होता हुआ सोद्दश्य को बताता है ।३४। उसी प्रकार से इतर में भी ऐसा ही होता है अर्थात् भाक्त गायत्री शब्द स्वार्थ में वर्तमान रहते हुए तत्सद्दश का गमन कराता है। इससे यह सिद्ध है कि संख्या में गायत्री शब्द नहीं आता है ऋचा में ही होता है ।३५। त्रिष्टुप् जगती के एक देश में अर्थ की असमाप्ति होने से उनका एक देश में गायत्री शब्द का प्रयोग नहीं होता है ।३६।

॥ तृतीयः पादः समाप्तः ॥

चतुर्थ पाद

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ।१। स लौकिकानां स्यात्कर्त्तुस्तदाख्यत्वात् ।२। सर्वेषां वा दर्शनाद्वास्तुहोमे ।३। जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात् ।४। द्रव्योपदेशाद्वा गुणाभिधानं स्यात् ।५। न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात् ।६। दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ।७। तथाग्निहविषोः ।८। उक्तश्चार्थेऽसम्बन्धः ।९। तस्मिन्सोमः प्रवर्त्तेताव्यक्तत्वात् ।१०।

"दर्वि होमं कुर्यात्"—यहाँ पर होम के संयोग से दर्वि होम यज्ञ का नामधेय होता है। यहाँ यह कर्म का अभिधान होता है। दर्वि उप सर्गन है और होम कर्म है ।१। जब यह कर्म का नाम धेय है—ऐसा मानते हैं तो यह युक्त होता है कि कर्म तो स्मार्त्त-लौकिक और वैदिक बहुत से प्रकार के होते हैं उनमें यह दर्वि होम किन कर्मों का अभिधान होता है। इसका समाधान किया जाता है कि यह लौकिक कर्मों का नाम धेय होता है क्योंकि उसके कर्त्ता को समाख्यात किया गया है ।२। अथवा होम शब्द को सामान्याभिधा भी होने से वास्तु होम में जोकि वैदिक होम होता है दर्वि होम के देखने से यह लौकिक और वैदिक सभी का नाम धेय होता है ।३। होम शब्द जुहोति का वाचक होने से जुहोति चोदनाओं का ही नाम धेय दर्वि होम होता है क्योंकि वहां होम का संयोग होता है। यजति में तो लक्षण से होता है ।४। अथवा दर्वि से होम इस में द्रव्य का उपदेश होने से यहाँ गुण विधि है। जो पहिले इसे कर्माभिधान कहा गया है वह उचित नहीं है ।५। लौकिकों की आचार से गृहीत दर्वि होती है और जो श्रौत कर्म होते हैं उनके भी अन्य होमार्थ पात्र कहे गये है क्योंकि वहाँ

स्रु वादि का विधान होता है । अतएव यह गुणविधियुक्त नहीं है ।६। अन्य पात्र के दर्शन से भी यह गुण विधि नहीं है ।७। जिस तरह पात्र कार्यों में दर्वि पुज्यमान नहीं है वैसे ही अग्नि हवि के कार्य में भी दर्वि का निवेश नहीं होता है ।८। अग्नि के कार्य में दर्वि का उपदेश नहीं होता है क्योंकि अन्य द्रव्य अग्नि के दहन-पचन-प्रकाशनादि कार्य करने में असमर्थ होता है। अतएव गुण विधि नहीं है ।९। सोम अव्यक्त चोदना वाला हैं और ये भी उसी प्रकार के हैं अतएव चोदना की सामान्यता होने से सौमिक विध्यन्त होता है ।१०।

न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात्तन्त्रेन, विप्रतिषेधात् ।११। शब्दान्तरत्वात् ।१२। लिङ्गदर्शनाच्च ।१३। उत्तरार्थस्तु, स्वाहाकारो, यथा सप्तदश्यं, तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिलिङ्गदर्शनात्पशुवत् ।१४। अनुत्तरार्थो वाऽथवत्त्वादानार्थक्याद्धि प्राथम्यस्योपरोधः स्यात् ।१५। न प्रकृतावपोति चेत् ।१६। उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ।१७। तच्चोदना वेष्टेः प्रवृत्तित्वाद्विधिः स्यात् ।१८। शब्दसामर्थ्याच्च ।१९। लिङ्गदर्शनाचच ।२०।

यहाँ पर सौमिक विध्यन्त कहना उचित नहीं है क्योंकि दर्वि होम स्वाहाकार से स युक्त होते हैं जैसे अन्तरिक्षाय स्वाहा — पृथिव्यै स्वाहा ये होते हैं और तन्त्र में सौमिक में वषट्कार का निदेश होता है इससे विप्रतिषेध हो जाता है । इसलिए दर्विहोमों को अपूर्व मान लेने से यह विरोध नहीं होता है।११। अन्य शब्दों के होने के हेतु से भी सौमिकी धर्म प्राप्ति अयुक्त है। सोम यजति चोदना वाला होता है और दर्वि होम जुहोति चोदना वाले हैं ।१२। औदुम्बरी होम में स्वाहाकार के लिङ्ग के देखने से भी यहाँ सौमिक विध्यन्त नहीं होता है यदि सौमिक विध्यन्त होता तो वषट्कार होना चाहिये था ।१३।

सास दृश्य की तरह यहाँ स्वाहाकार उत्तरार्थ होता है इसलिए यहाँ पर भी वाचमिकत्व होने से स्वाहाकार के प्रति लिङ्ग दर्शन से सौमिक धर्म की प्रवृत्ति का विप्रतिषेध नहीं होता है ।१४। अथवा स्वाहाकार अर्थक्त्व होने से अनुन्तरार्थ है । अनर्थक होने से प्राकृत का उपरोध होता है । अर्थात् वषट्कार का वाद्य हो जाता है ।।१५।। प्रकृति नारिष्ठ होमादि में स्वाहाकार का निवेश है यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि वहाँ इसका निवेश घटित नहीं होता है । वहां पर भी वषट्-कार ही प्राप्त होता है ।१६। जहाँ श्रुत्यादि का समवाय होता है वह पर का दौर्बल्य होता है । यहाँ पर वाक्य और प्रकरण का सन्नि-पात है अतएव वाक्य प्रकरण से बलवान् होता है । नारिष्ठ होमों में प्रकरण से वषट्कार प्राप्त होता है और उसके मन्त्र पदों से एक वाक्यत्व होने से स्वाहाकार होना है । इसलिए सोम प्रकृति वाले दर्वि होम नहीं हैं ।१७। यहाँ 'वा' शब्द पक्षान्तर के परिग्रह में है । दर्वि होम की चोदना समस्त इष्टियों में प्रवृत्ति के होने से उसकी विधि हो जाती है । जो धर्म जिसका प्रायः देखा गया है उसकी अदृश्य मानता होने पर अनुमान कर लिया जाता है ।१८। चोदना की सामान्यता होने से धर्म की प्राप्ति होती है इसमें शब्द सामर्थ्य ही हेतु होता है ।१९। लिङ्ग के दर्शन से भी उनकी प्रवृत्ति होती है ।२०।

तत्राभावस्य हेतुत्वाद्गुणार्थे स्याददर्शनम् ।२१। विधि-रिति चेत् ।२२। न वाक्यशेषत्वाद्गुणार्थे च समाधानं नानात्वेनोपपद्यते ।२३। येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्यादविरो-धात् ।२४। तत्रौषधानि चोद्यन्ते, तानि स्थानेन गम्येरन् ।२५। लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः ।२६। सन्निपाते विरोधिना-मप्रवृत्तिः प्रतीयेत, विध्युत्पत्तिव्यवस्थानादर्थस्यापरिणेयत्वाद् वचनादतिदेशः स्यात् ।२७।

त्र्यम्बकों के अप्रतिष्ठित्व के उपपादन के लिये इध्मादि के अभाव को हेतुत्व कहा जाता है। इस अभाव के हेतु होने से नारिष्ठ होमों की प्रवृत्ति में असाधक होता है। २१। यदि इसे इध्मादि की प्रतिषेध करने वाली विधि कहते हैं तो यह युक्त नहीं है। २२। इसकी विधि अन्य कही गई है यहाँ उसका यह वाक्य शेष होता है। यदि उनकी विधियां कल्पित किया जाता है तो फिर पृथक वाक्य होंगे और व्यवहित कल्पना हो जायगी। अनुवाद स्वरूप होने से उनका विधायकत्व नहीं होता है। २३। जिन यागों की अपर अग्नियों में होम होता है उनकी प्रवृत्ति हो जायगी। क्योंकि वहाँ कोई विरोध नहीं होता है। उसके अभाव का दर्शन वहाँ पर विशुद्ध नहीं होता है। उससे उनकी प्रवृति होती है।२४। दर्वि होम में वहाँ औषध चोद्यमान होती हैं इस लिये ऊपर में कहा हुआ युक्त नहीं होता है। वे स्थान से गम्यमान होती हैं। इसलिये उनका प्रवृति में कुछ भी प्रयोजन नहीं होता है। २५। अथवा शेष होमों में अर्थात् पिष्ट लेप फलीकरण होमों में औषध सामान्य लिङ्ग से प्रवृति होती है वहाँ पर निर्वपणादिक औषध के धर्म किये जा सकते हैं। २६। यह कथन भी युक्त नहीं है क्योंकि ये दोनों होम प्रतिपत्तिकर्ण होते हैं और दर्वि होम प्रधान कर्म में होते हैं। इनका बहुत अधिक भेद होता है। प्रतिपत्तित्व से निर्वपणादि धर्मों के ये दोनों अप्रयोजक होते हैं। इसलिये दर्वि होमों की धर्म प्राप्ति कैसे भी युक्त नहीं होती है। इस प्रकार से सर्वत्र अप्राप्ति का स्वभाव नहीं है वचन से अतिदेश होता है। २७।



नवमोऽध्याय

प्रथम पाद

यज्ञकर्म प्रधानं; तद्धि चोदनाभूतं; तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात । १ । संस्कारे युज्यमानानां; तादर्थ्यात्तत्प्रयुक्तँ स्यात् । २ । तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्धर्मसंबन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयुक्तं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् । ३ । फलदेवतयोश्च । ४ । न चोदनातो हि तादगुण्यम् । ५ । देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात् । ६ । आर्थपत्याच्च । ७ । ततश्च तेन सम्बन्धः । ८ ।

अब धर्मों के अपूर्व प्रयुक्तत्व का अधिकरण होता है। दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम में पृथक् धर्म समाम्नात हैं। उनमें यह संशय उपस्थित होता है कि वे अपूर्व प्रयुक्त हैं या यजि प्रयुक्त होते हैं। इसी के विवेचन के लिए कहा जाता है कि यज्ञ कर्म प्रधान होता है और वह यजति का कार्य है और वह फलवत् चोद्यमान होता है। उसके द्रव्यों में और यजति में जो संस्कार है वह अपूर्व प्रयुक्त होता है। वे तदर्थ हैं इसीलिए किये जाया करते हैं । १ । जो जिस के द्वारा कर्त्तव्य होता है वह उसका प्रयोजक होता है। यदि अपूर्व इसके द्वारा किया जाता है तो इसका अपूर्व ही प्रयोजक होता है संस्कार में युज्यमानों का तादर्थ्य होने से अर्थात् उसके लिये होने के कारण तत्प्रयुक्तता हो जाती है । २ । यहाँ तु शब्द पक्ष का व्यावर्तन करता है। उस तु अर्थ वाले हन्ति वापिषिसे अपूर्व का संयोग होता है और उससे

उसका प्रोक्षण सम्बन्ध है। इसलिए संस्कार को तदर्थता होने से यज्ञ प्रयुक्तता होती है । ३। जो मन्त्र फल और देवता के प्रकाश करने वाले हैं उनको भी अपूर्व प्रयुक्तता होती है। "दर्श पूर्णमासाभ्यां स्वर्ग कामोयजेत" वहाँ पर फल संवद्ध धर्म और देवता संवद्ध सुना जाता है ।। ४ ।। जो फलवत् चोद्यमान होता है वह इति कर्त्तव्यता से अनुवध्यमान होता है। अपूर्व फलवत् हैं स्वर्गाग्न्यादि नहीं है। स्वर्गाग्न्यादि वचन की अपूर्व कल्पना करना न्यायोचित नहीं है। अतः चोदना से ताद्गुण्य नहीं होता है ।। ५ ।। अथवा समस्त देवता समस्त धर्मों के प्रयोजक हो सकते हैं क्योंकि अतिथि की भाँति भोजन तदर्थ ही होता है। याग देवता का भोजन ही होता है। भोज्य द्रव्य देवता के लिए ही दिया जाता है और देवता सम्प्रदायक ही याग श्रूयमाण होता है । ६ । देवताओं के अर्थ पति होने के हेतु से भी यह सिद्ध होता है । ७ । इससे देवता का फल से सम्बन्ध होता है। देवता यजन करने वाले को फल देते हैं। इसी बात को स्मृति और उपचार से दृढ़ किया जाता है ।। ८ ।।

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्मप्रधानं स्याद्; गुणत्वे देवताश्रुतिः । ९ । अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वात् । १० । द्रव्यसङ्ख्याहेतुसमुदायं वा श्रुतिसंयोगात् । ११ । अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् । १२ । अर्थो वा स्यात्प्रयोजनमितरेषामचोदनात्तस्य च गुणभूतत्वात् । १३ । अपूर्वत्वाद्व्यवस्था स्यात् । १४ । तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् । १५ । तद्युक्तस्येति चेत् । १६ । नाश्रुतित्वात् । १७ । अधिकारादिति चेत् । १८ ।

अपिवा-इससे पक्ष का व्यावर्त्तन किया जाता है। देवता को फल का प्रयोजक मानना उचित नहीं है। यज्ञ कर्म ही प्रधान होता है

और यजति से अपूर्व उत्पन्न होता है। इसमें शब्द पूर्वत्व हेतु होता है। प्रत्यक्षादि से इसका अवगम नहीं होता है। जो फल होता है वही प्रयोजक हुआ करता हैं। गौणरूप से देवता की श्रुति हुआ करती है। जो स्मृति, उपचार और अन्यार्थ दर्शनों द्वारा देवता का भोजन करना कहा गया है उसका देवता के विग्रह रहित होने से प्रतिवाद हो जाता है। ९। आतिथ्य में अतिथि की प्रीति का विधान होता है। जिस तरह से अतिथि प्रसन्न हो वही किया जाना चाहिए। इसी की वहाँ आतिथ्य में प्रधानता है किन्तु इस कर्म में प्रीति विधान का अभाव होता है। अतः अतिथिवत् कहना उचित नहीं होता है। १०। अथवा प्रोक्षणादिक धर्म श्रुति के संयोजक से द्रव्य संख्या हेतु समुदाय प्रयुक्त होते हैं।। ११। इस जाति के धर्म को अपूर्व प्रयुक्त मान लेने पर द्रव्य के साथ धर्म की व्यवस्था नहीं होतीं है। अतः द्रव्यादि प्रयुक्त ही प्रोक्षणादि होते हैं। २। अथवा इतर द्रव्यादि की कर्त्तव्यतया चोदना न होने से अर्थ ही इनका प्रयोजन होता है। अपूर्व के प्रति इनका गुणभूतत्व होने से श्रवण होता है। १३। ऐन्द्रवायव यह अपूर्व है। इससे व्यवस्था होती है। १४। द्रव्यादि प्रयुक्त प्रोक्षणादि धर्मों के स्वीकार करने से धर्म को सर्व विषयता हो जाती है। इसलिये इस पक्ष में यह एक दोष होता है, क्योंकि यह तो किसी को भी इष्ट नहीं होता है। १५। सर्व विषयता प्रकरणयुक्त धर्म की ही होगी। इस प्रकार से प्रकरण अनुगृह्यमाण होता है धर्म को सर्व विषयता नहीं होती है। यदि ऐसा कहते हैं तो यह युक्त नहीं है क्योंकि प्रकरण प्रयुक्त व्रीहयों का निर्वपन कहीं नहीं श्रूयमाण होता है। वाक्य से वाधित प्रकरण धर्म का नियम करने के योग्य नहीं होता है। १६-१७। यदि कहा जाता है कि व्रीहियों का प्रकरण विशेषक नहीं होता है तो यह कह सकते हैं कि अध्वर्यु अधिकार से ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि

ये भक्तार्थ हैं। और ये कार्यार्थ हैं। वहाँ पर जो कार्यार्थ होंगे उनका ही प्रोक्षण करेगा। १८।

तुल्येषु नाधिकारः स्यादचोदितश्च सम्बन्धः ; पृथक् सतां यज्ञार्थेनाभिसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयोजनम् ।१९। देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्याच्छ्रुतिनिर्देशात्तस्य च तत्र भावात् ।२०। यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ।२१। अनुवादश्च तदर्थवत् ।२२। प्रणीतादि तथेति चेत् ।२३। न यज्ञस्याश्रुतित्वात् ।२४। तद्देशानां वा सङ्घातस्याचोदितत्वात् ।२५। अग्निधर्मः प्रतीष्टकं संघातात्पौर्णमासीवत् ।२६। अग्नेर्वा स्याद्द्रव्यैकत्वादितरासां तदर्थत्वात् ।२७। चोदनासमुदायात्तु पौर्णमास्यां तथात्वं स्यात् ।२८। पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ।२९। लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ।३०। अनुवादा वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य। ३१।

सभी व्रीहि तुल्य ही होते है। उनका कोई पृथक नाम नहीं होता है। जो भक्तार्थ हैं वे ही कर्मार्थ भी होते हैं। प्रोक्षणादि में कोई दोष नहीं है केवल निर्वाप में दोष होता है। वहाँ कोई प्रकृत नहीं है पृथक होने वालों का यज्ञार्थ से निर्वाप श्रूयमाण होता है। अतएव धर्म को सर्व विषयत्व की प्राप्ति होती है। पूर्व हेतु से प्रोक्षणादि का अपूर्व प्रयुक्तत्व होता है ।१९। अग्नि षोमीय से पहिले होने वाले पदार्थों का उपांशुत्व श्रुति से होता है और इस प्रकार के जातीयक का पूर्व देश में भाव होता है। सोमप्रवहणीय नामक सूक्त है उससे देश धर्म हो जायगा ।२०। अथवा यज्ञ का उससे संयोग होने से परमापूर्व प्रयुक्त वपांशुत्व होता है ।२१। और अनुवाद जो होता है वह तद्देश पदार्थ का ही हुआ करता है। जिस तरह शकुनि ग्राहक का जिन देश में शनै, पदन्यास है वह तद्देशार्थ नहीं है अपितु तद्देशाभिभत

शकुनि के अर्थ से किया जाता है। इसी तरह यहाँ पर भी तद्देशाभिगत यज्ञ के अर्थ से गम्य होता है। २२। प्रणीता आदि उस प्रकार के है यदि ऐसा कहते हैं तो उसका परिहार कर देना चाहिए।२३। यहाँ पर पदार्थों की यज्ञ भाग विशेषपता नहीं है यहाँ यज्ञ शब्द सम्बन्धी श्रूयमाण नहीं होता है। २४। अथवा परमा पूर्व प्रयुक्त उपाँशुत्व नहीं है। प्राचीनमग्नी षोमीयात्, जो पदार्थ है तत्प्रयुक्त होता है क्योंकि संघात की चोदना नहीं होता है। ग्रह यज्यभ्यास संघात है। उसका यह भाग उपांशुत्व से संवद्ध नहीं है। यही चोदना होती है। २५। अग्नि धर्म प्रतीषक होता है संघास का होना ही इसमें हेतु है। "इष्टकाग्नि: अग्नि चिनुत"—यहाँ इष्टकाओं से चलन मात्र करना चाहिए। चयन विशेष के अवगम्यमान होने पर सब का ही प्रोक्षण और विकर्षण करना चाहिए। जिस तरह पौर्णमासी का यजन होता है। उसी तरह यहाँ भी होता है। २६। अथवा द्रव्यै कत्व होने से अग्नि का होता है और दूसरों का तदर्थत्व होने से होता हैं। द्रव्यान्तर इष्टकाओं से किया जाता है वहाँ पर अग्नि का विधान न करना चाहिए। यहाँ तृतीया विभक्ति से इष्टकाओं का पाराथ्यं अवगम्यमान होता है। २७। जो यह कहा गया है कि "य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते य एवं विद्वानम वस्यां यजते" यहाँ पर आग्नेयादि से कुछ अर्थान्तर नहीं है। चोदना समुदाय के कर्म होने से पौर्णमासी में तथाभाव है। इस से पौर्णमास्येति विषमता है। २८। विशेषता न होने से सबको पत्नी संयाजान्तत्व होता है। पत्नी संयाजान्त दिन होते हैं किसी विशेष का आश्रय नहीं लिया जाता है। २९। लिङ्ग के होने से उत्तम दिन से पहले पत्नी संयाजान्तता होती हैं। यहाँ वा शब्द पक्ष की व्यावृत्ति में आया है। जिन दिनों में पत्नी संयाजान्तता हैं उनमें असंस्था भी है। इससे असस्था और पत्नी संयाजान्तता का सामानाधिकरण्य होता है। ३०। अथवा नक्त संस्थापन की जिस तरह दीक्षा हैं वैसे ही यह

अनुवाद होता है। यह विधि मूल दर्शन नहीं है और न अन्य प्रमाण मूल ही है। इसलिए यह दर्शन मृग तृष्णा मूल ही है। जिस तरह दीक्षोन्मोचन वचन नक्त संस्थापन का अर्थवाद है इसी प्रकार से यह भी देखना चाहिए। ३१।

स्याद्वाऽनारभ्य विधानादन्ते लिङ्गविरोधात् ।३२। अभ्यासः समिधेनीनां प्राथम्यात्स्थानधर्मः स्यात् ।३३। इष्टयावृतौ प्रयाजवदावर्त्तेताऽऽरम्भणीया ।३४। सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः; पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ।३५। अर्थाभिधानसयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तत्राचौदितमप्राप्तं, चोदिताभिधानात् ।३६। ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्यते ।३७। गुणशब्दस्तथेति चेत् ।३८। न समवायात् ।३६।

अन्त में लिंग के विरोध होने से उत्तम से पहिले पत्नी संयाजान्तता होती है। "नह्यारभ्योत्तम महः" ऐसा विधान किया जाता है। ३२। सामिधेनियों के प्राथम्य से जो अभ्यास है वह स्थान धर्म होता है। प्राथम्य का व्यक्ति से सम्बन्ध होता है और व्यक्ति का अभ्यास से सम्बन्ध है यहाँ स्त्री लिङ्ग के निर्देश से यह अवगम्यमान होता है। ३३। इष्टि की आवृति में प्रयाज की भाँति आरम्भणीया का आवर्त्तन होता है। जिस तरह अङ्गभूत प्रयाज आवर्त्तित होते है वैसे ही अङ्गभूता आरम्भणीया भी आवर्त्तित होती है। ३४। आरम्भ के संयोग से एक बार ही आरम्भणीया का आवर्त्तन करना चाहिए। फिर एक ही आरम्भ सर्व प्रयोगों का साधारण होता है। ३५। अर्थाभिधान के सयोग से मन्त्रों में शेषभान होता है। चोदित के अभिधान होने से जो चोदित नहीं है वह अप्राप्त होता है। ३६। इस कारण से उनका अवचन इतरों के लिये प्रयुक्त किया जाता है। सविआदि शब्दों से अश्रुतों का वचन नहीं किया जाता है। ३७। निर्वाप

मन्त्र में अग्नि गुण शब्द है वैसे ही असमवेत वचन है यदि ऐसा कहते हैं तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ समवाय होता है। इसलिये समवेत वचन अग्नि शब्द विकृति में अहितव्य का है। ३८—३९।

चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवद्विकारः स्यात् ।४०। विकारस्तत्प्रधाने स्यात् ।४१। असंयोगत्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ।४२। कर्माभावादेवमिति चेत् ।४३। न परार्थत्वात् ।४४। लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वप्राप्ता; सारस्वती स्त्रीत्वात् ।४५। पश्वभिधानाद्वा; तद्धि चोदनाभूतं; पुंविषयं; पुनः पशुत्वम् ।४६। विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ।४७। पशुत्वं चैकशब्द्यात् ।४८।

यदि चोदित भी समवेत है तो वह पराथ ही किया जाता है अपने संस्कार के लिये नहीं है। वह परार्थ होने से अविकार से प्रयुक्त किया जाता है। जैसे—यजमान गुणांभूत विधान किया जाता। वहाँ पर जिस किमी यजमान से वह विधि सिद्ध होती हैं।४०। यजमान प्रधान में विकार होता है।४१। उस विशेषण से विशिष्ट की प्रतीति होती है शब्दों का उन अर्थों में संयोग नहीं होता है।४२। कर्माभाव होने से अविकार से हरिवदादि का वचन है यदि ऐसा कहते हैं तो उचित नहीं है क्योंकि हरिवदादि शब्द इन्द्र की स्तुति के लिये होने से परार्थ होते हैं। अतः परार्थत्व होने के कारण से इस प्रकार का अभिसम्बन्ध नहीं किया जा सकता है।४३-४४। लिङ्ग विशेष के निर्देश होने से स्त्रीत्व के कारण से समान विधानों में सरस्वती प्राप्त नहीं होती है।४५। अथवा पशु के अभिधान होने से चोदनाभूत सर्व नाम शब्द को पुंविषयत्व होता है और वह फिर पशु शब्द के द्वारा कहा जाता है।४६। यहाँ "वा" शब्द इस पक्ष का व्यावर्त्तत्व है। उसके अर्थ के निर्देश होने से विशेष है। यह शब्द पुमर्थ का निर्देश

नहीं कर सकता है। इसलिये प्रथम पक्ष ही कहा गया है ।४७। यहाँ पर जो एकत्व शब्द का प्रयोग किया गया है वह पशुत्व के अभिप्राय वाला ही है। ४८।

यथोक्तं वा सन्निधानात् ।४९। आम्नातादन्यदधिकारे, वचनाद्विकारः स्यात् ।५०। द्वैध वा तुल्यहेतुत्वात्सामान्याद्विकल्पः स्यात् ।५१। उपदेशाच्च साम्नः ।५२। नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत्साप्तदश्यवत् ।५३। अप्रगाणाच्छब्दान्यत्वे तथाभूतोपदेशः स्यात् ।५४। यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात्पदान्यत्वप्रधानत्वात् ।५५। गानसंयोगाच्च ।५६। वचनमिति चेत् ।५७। न तत्प्रधानत्वात् ।५८।

अथवा यहाँ सर्वनाम शब्द सन्निहित वचन वाला है क्योंकि उच्चरित मात्र पदार्थ शब्द से सन्निहित होता है और उससे संवद्ध हुआ करता है। अतएव सन्निधान होने से जैसा कहा गया है वही ठीक है ।४९। जहाँ अधिकार में आम्नात से अन्य कहा जाता है वहाँ पर उसका विचार भूत होता है। ५०। अथवा दो प्रकार होते हैं— इरा पद वचन और गिरा पद वचन। दोनों का हेतु तुल्य ही होता है। सामान्य होने से विकल्प होता है ।५१। साम के उपदेश होने से भी गिरा पद उपदिष्ट हो जाता है। इससे विकल्प ही होता है ।५२। श्रुति विशेष के द्वारा इरापद को उपदिष्ट किया है इसलिये नियम होता है और जो इतर है वह साप्तदश्य की भाँति होता है ।५३। कोई प्रमाण न होने से शब्दान्यत्व में तथा भूत उपदेश होता है। गिरापद से अन्य शब्द के श्रूयमाण होने पर इरापद अप्रगीत करना चाहिए ।५४। जिस पद के स्थान में इरापद प्रयुक्त किया जाता है उस पद की जो गति है वह इरापद में होती है क्योंकि पदान्यत्व प्रधान यह वाक्य होता है। ५५। और गान के संयोग होने से इरा पद होता

है । ५६ । "उद्गेयमा इस चा दाक्षासा" यह वचन है यदि ऐसा कहते हैं तो वह न्यायोचित नहीं है क्योंकि वहाँ इरापद की प्रधानता का निर्देश होता है । ५७-५८ ।

। प्रथम पाद समाप्त ।

द्वितीय पाद

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् । १ । तदुक्तदोषम् । २ । कर्म वा विधिलक्षणम् । ३ । तदृग्द्रव्यं वचनात्पाकयज्ञवत् । ४ । तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च । ५ । शब्दार्थत्वात्तु नैवं स्यात् । ६ । परार्थत्वाच्च शब्दानाम् । ७ । असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् । ८ । संस्कारश्च प्रकरणेऽग्निवत्स्यात् प्रयुक्तत्वात् । ९ । अकार्यत्वाच्च शब्दानाम प्रयोगः प्रतीयेत । १० । अश्रितत्वाच्च । ११ । प्रयुज्यत इति चेत् । १२ । ग्रहणार्थं प्रतीयेत । १३ ।

कुछ विद्वान मानते हैं कि स्मृति और शिष्यों को उपदेश देने से साम प्रगीत मन्त्र वाक्य हैं । १ । इस पक्ष का दोष सप्तम में कहा गया है । अतः साम गीतियां हैं प्रगीत मन्त्र वाक्य नहीं हैं । २ । अथवा इस साम में प्रधान विधि का लक्षण है अतः साम शब्द से प्रधान कर्म कहा जाता है । जिस तरह अन्य कर्म का द्रव्य साधक होता है उसी तरह से इसकी ऋक् द्रव्य है और इसकी ऋक् साधिका होती है । जैसे पाक यज्ञों में तत्तद्वाचनिक लाज-धान आदि होते हैं उसी तरह यहाँ पर भी ऋक् द्रव्य होता है । ३–४ । वहाँ पर द्रव्यान्तर में व्यतिरेक और प्रदेश अविप्रति षिद्ध होता है । इस लिये साम प्रधान कर्म होता है । ५ । शब्द का उपकारक साम प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त

होता है अतः शब्दार्थत्व होने से अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी चाहिए । ६ । और शब्दों की परार्थता होने से भी यह सिद्ध होता है । ७ । तदथन्तर पृष्ठ शब्दों के पृथक् अर्थ होने से कर्म से सम्बन्ध नहीं होता है। इसलिये ऋक् का साम गुणभूत है । ८ । अग्नि की भाँति प्रयुक्त होने से अप्रकरण में अर्थात् अकर्म काल में संस्कार होता है। जैसे अग्न्याधान होता है वैसे ही ऋक् का गान संस्कारक होता है । ९ । और शब्दों के अकार्य होने से अप्रयोग प्रतीत होता है। प्रगीत शब्द पुनः प्रयुक्त किये जा सकते हैं। १० । गान को कर्म काल के आश्रित होने से अमर्क काल में गान की कल्पना नहीं करनी चाहिए । ११ । यदि इसका प्रयोग किया जाता है तो शिष्य के धारण एवं ग्रहण के लिये ही वह करना चाहिए। १२–१३ ।

तृचे स्याच्छ्रुतिनिर्देशात् । १४ । शब्दार्थत्वाद्विकारस्य । १५ । दर्शयति च । १६ । वाक्यानां तु विभक्तत्वात्प्रतिशब्दं समाप्तिः स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् । १७ । तथा चान्यार्थदर्शनम् । १८ । अनवानोपदेशश्च तद्वत् । १९ । अभ्यासेनेतराः श्रुतिः । २० ।

एक साम तृच में किया जाता है । क्योंकि वहाँ पर श्रुति का निर्देश होता है । यहाँ पर क्रिया में त्रिसंख्या विहित होती है । १४ । तृच में व्यासज्जित करके साम का गान करना चाहिए क्योंकि साम संज्ञक विकार शब्दार्थ होता है । १५ । स्तोत्रीय साम की एक और दो ऋक् वहीं सम्भव होती हैं इसलिये तीनों को व्यासज्जित करके गान किया जाता है । १६ । वाक्यों के विभक्त होने से प्रति शब्द में समाप्ति होती है क्योंकि संस्कार को तदर्थता होती है । प्रत्येक ऋचा का परिसमाप्त ही गान करना चाहिए । साम शब्द के संस्कार की स्तुति भावना का अर्थ होता है । १७ । तथाच अन्यार्थ दर्शन भी

होता है। जहाँ तक वाक्य परिपूर्ण हो वहां तक साम का गान करना चाहिये ।१८। यदि प्रयोग के समय में प्रति ऋक् का गान करना है तो स्वाध्याय के समय में भी उसका वैसा ही अभ्यास करना चाहिये। इसलिए प्रत्युच ही गान करना चाहिये ।१९। अध्यास में भी तीनों ही ऋचाओं को ग्रहण करना चाहिये। अतः यह सर्वथा सिद्ध होता है कि सर्वदा प्रत्यृच परिसमाप्त गान ही करना परमावश्यक है।२०।

तदभ्यासः समासः स्यात् ।२१। लिङ्गदर्शनाच्च।२२। नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात्प्रतीयेत ।२३। ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ।२४। प्रागाथिकं तु ।२५। स्वे च ।२६। प्रगाथे च ।२७। लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ।२८। अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यात् ।२९। अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ।३०।

समान छन्दों में ही गान का अभ्यास करना चाहिये। इस रीति के करने पर कोई भी दोषापत्ति नहीं होती है ।२१। समान छन्दों में ही गान करने में लिङ्ग का दर्शन भी होता है कि विभिन्न छन्दों में गान करने में दोष बताया गया है ।२२। नैमित्तिक उत्तरात्व तो आनन्तर्य से प्रतीत होता है। उत्तरा संज्ञा का ही उपादान करना चाहिये। संज्ञाओं के गृह्यमाण होने पर पदान्तरानन्तर्य अपेक्षित नहीं होना चाहिये ।२३। समान छन्द और समान देवता वालों में तृच शब्द के उपचार से उत्तरा ग्रन्थ समधीता ही ग्रहण करना चाहिये ॥२४॥ प्रागाथिक साम गान करना चाहिये ।२५। और अपने छन्द में ही गान करना अभीष्ट होता है। जहाँ प्रकर्ष से गान होता है वह प्रगाथ होता है। अतः प्रगाथ में साम का गान करना आवश्यक है ।२६–२७। अव्यतिरेक से सर्वत्र लिंग का दर्शन दिखाया जाता है कि प्रग्रथन प्रकृत व्यतिरेक से नहीं होना चाहिये। पूर्वा वृहती है

और उत्तरा पंक्ति है तो उन दोनों के प्रग्रथन से तृच कर्म करके ककुनुत्तराकार गान करना चाहिए। २८। अर्थ के एकत्व होने से विकल्प होता है। २९। ऋक् और साम का तदर्थत्व होने से अर्थैकत्व होता है और इसके होने से विकल्प भी होता है। ऋचा और साम दोनों का स्तुत्यर्थ होता है तो इन दोनों का एक ही कार्य होता है। इसीलिये विकल्प होता है और यह विकल्प सिद्ध है। ३०।

वचनाद्विनियोगः स्यात् । ३१। समप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात् । ३२। वर्णे तु वादरिर्यथाद्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् । ३३। स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृग्वत् । ३४। सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात् । ३५। अन्वयं चापि दर्शयति । ३६। निवृत्तिर्वाऽर्थलोपात् । ३७। अन्वयो वार्थवादः स्यात् । ३८।

साम का विनियोजक वचन होता है इसलिए इसका विनियोग होता है। इसलिये साम के द्वारा ही स्तवन करना चाहिए। ३१। साम प्रदेश में आई भवादि विकारयोन्यपेक्ष होता है और यह शास्त्र के द्वारा कृत है। जितने साम भाग में योना वाई भाव किया गया है उतना ही उत्तरा में करना चाहिए। ऐसी शास्त्राज्ञा है। ३२। आचार्य वादरि ऐसा मानते हैं कि उत्तरा वर्ण वश से करना चाहिये योनि भाग बश से नहीं करना चाहिए। इसमें द्रव्य व्यतिरेक को हेतु कहते हैं। ३३। स्तोभ की ऋगन्तर में निवृत्ति होती है जिस तरह ऋक् में होती है। ऐसा कुछ लोग मानते हैं ॥ ३४ ॥ यहाँ सर्वातिदेश होता है। ऋक् स्तोभ स्वर कालाभ्यास से विशिष्ट गीति का साम शब्द वाचक होता है। प्रयोग से यह जाना जाता है। ऋक् शब्दार्थों से असंवध्यमान स्तोभ लोकवत् अनर्थक नहीं होते हैं ॥ ३५ ॥ अन्वय से भी स्तोभ प्रदिष्ट होते हैं। ३६। अथवा अर्थलोप से निवृत्ति होती है और जो वाक्य शेष वचन है वह अर्थवाद होता है। ३७–३८।

अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तोमशब्दत्वात् । ३९। धर्मस्यार्थकृतत्वाद्, द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे, चोदनानुबन्धः, समवायात् । ४०। तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् । ४१। आवेश्येरन् वाऽर्थवत्त्वात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् । ४२। आख्या चैवं तदावेशाद्विकृतौ स्यादपूर्वत्वात् । ४३। पराथ न त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् । ४४। क्रियेरन् वाऽर्थनिवृत्तेः । ४५। एकार्थत्वादविभागः स्यात् । ४६। निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन् । ४७। अपाकृते ताद्विकाराद्विरोधाद्व्यवतिष्ठेरन् । ४८। उभयसाम्नि चैवमेकार्थापत्तेः । ४९। स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्यातप्रकृतिवत् । ५०।

अब स्तोभ शब्द का लक्षण बताया जाता है। जो ऋक् के अक्षरों से अधिक होता है और उनके साथ सवर्ण नहीं होता है वह स्तोभ होता है इसी तरह के में लौकिक स्तोभ शब्द का उपचार करते हैं। लक्षण कर्म का प्रयोजन ही वह होता है कि लक्षित हो जायगा। इससे यहाँ दोनों ही सूत्रित करने चाहिए । ३९। धर्म को अर्थ कृतत्व होने से द्रव्यगुण विकार और व्यतिक्रम के प्रतिषेध में समवाय से चोदनानुबन्ध होता है । ४०। परिधि में यूपधर्म नहीं करने चाहिए क्योंकि तत्कृतत्व होने से तदुत्पत्ति की निवृत्ति होती है ।। ४१ ।। परिधि में यूप धर्म बन्धनोपकार साधन में विधान किये जाते हैं। यह संस्कार बन्धन को निष्पादित करता है और तदर्थोत्पत्ति तथा अतदर्थोपत्ति की अपेक्षा नहीं करता है। अतएव परिधि में यूप धर्म करने ही चाहिए। परिधित्व के अविरोधी यूप धर्म जो होते हैं वे किये जांयगे । इसमें कोई विरोध नहीं होता है । ४२। धर्मादेश से आख्या भी यूप है—ऐसा हो जायगा । धर्म निवद्धा वह यूप की भाँति परिधि में भी हो सकती है। अतः यूप शब्द अहितव्य नहीं होता है ।४३।

यदि इसे प्रणीतार्थ न मान कर परार्थ कहें तो प्रणीत और दधि का अर्थ सामान्य नहीं है क्योंकि श्रपण द्वारक संस्कार उसी के लिए होता है । ४४ । प्रणीत धर्म दधि और पय का न करके श्रपण साधन में किये जाते हैं—ऐसा कहते हैं तो ये द्रव्य श्रपण के लिए उत्पन्न नहीं है जिससे अर्थ निर्वर्त्तित हो सके । ४५ । वृहद् और रथन्तर धर्मों की एकार्थता होने से विभाग नहीं होता है । वृहद् और रथन्तर का ग्रहण लक्षणार्थ होगा । ४६ । रथन्तर में रथन्तर के धर्म जैसे ऊँची और जोरदार से आवाज से नहीं गाना चाहिये और वृहद् में ऊँची आवाज से गान करना चाहिये, इस प्रकार के निर्देश से व्यवस्था हो जायगी । । ४७ । अप्राकृत कण्व रथन्तर में दोनों के कार्य होने से उभय धर्मों के विकार से विरोध के कारण व्यवस्था होगी । समुच्चय तो अविरुद्धो में ही होता है । ४८ । एकार्थापत्ति होने से जहाँ उभय साम है वहाँ इस प्रकार से होता है । ४६ । अथवा धर्मों के स्वार्थत्व होने से संहत वृहद् रथन्तरों के उभय धर्म नहीं करने चाहिए । इसलिये धर्मों की व्यवस्था प्रकृतिवत् होती है । ५० ।

पार्वणहोमयोस्त्नप्रवृत्तिः, समुदायार्थसंयोगात्तदभीज्या हि । ५१ । कालस्येति चेत् । ५२ । नाप्रकरणत्वात् । ५३ । मन्त्रवर्णाच्च । ५४ । तदभावेऽग्निवदिति चेत् । ५५ । नाधिकारिकत्वात् । ५६ । उभयोरविशेषात् । ५७ । यदभीज्या वा तद्विषयौ । ५८ । प्रयाजेऽपीति चेत् । ५६ । नाचोदितत्वात् । ६० ।

पर्व शब्द को समुदाय वाची होने से उसका संयोग होने के कारण पार्वण होमा के वैकृत कर्मों अप्रवृत्ति होती है । उनकी कालाभीज्या में ही प्रवृत्ति होतीं हैं । पर्व शब्द काल का बाचक होने से कालाभीज्या है ऐसा नहीं कह सकते हैं । ५१–५२ । क्योंकि काल का प्रकरण नहीं होता है । विशेष प्रकरण से समुदाय वाची का ही ग्रहण किया

जाता है काल वाची का नहीं होता है । ५३ । और मन्त्रों के वर्ण से भी समुदाया भीज्या होती है । ५४ । यदि यह कहा जावे कि जिस तरह यागार्थ से संनिहित और असंनिहित अग्नि का आवाहन किया जाता है उसी भाँति समुदाय के अभाव में भी हो सकता है तो यह नहीं कह सकते हैं । ५५ । अधिकारिक वचन होने से अभाव में नहीं होता है । अतएव पार्वण होमों की वैकृतों से निवृत्ति होती है । ५६ । पौर्णमासी और अमावस्या दोनों में विशेषता न होने से दोनों ही दोनों में हो सकते हैं क्योंकि दोनों के प्रकरण में ये दोनों ही आम्नात किये गये हैं । ५७ । दोनों उभयत्र हैं —ऐसा नहीं होता है । जहाँ यह भीज्या है वहाँ वह होता है क्योंकि वह उसका उपकारक होता है और दूसरे का अनुपकारक होता है । इसलिए जहां यह भीज्या है उसके ही विधेय होते हैं । ५८ । यदि प्रयाज में भी प्रष्कृत देवता हो सकता है ऐसा कहा जाता है तो यह उचित नहीं है क्योंकि देवतात्व से समिदादि मोहित नहीं होते हैं । इसलिए मान्त्र वर्णिक देवता विधि होती है । ५९–६० ।

। द्वितीय पाद समाप्त ।

तृतीय पाद

प्रकृतौ यथोत्पत्ति वचनमर्थानांतथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वादर्थे चाकार्यत्वात् । १ । लिङ्गदर्शनाच्च । २ । जातिनैमित्तिकं यथास्थानम् । ३ । अविकारमेकेऽनार्षत्वात् । ४ । लिङ्गदर्शनाच्च । ५ । विकारो वा तदुक्ते हेतुः । ६ । लिङ्ग मन्त्रचिकीर्षार्थम् । ७ । नियमो वोभयभागित्वात् । ८ । लौकिके दोषसंयोगादपवृक्ते हि चोद्यते; निमित्तेन प्रकृतौ

स्यादभागित्वात् । ९ । अन्यायस्त्वविकारेण, दुष्टप्रतिघातित्वा-
दविशेषाच्च तेनास्य । १० ।

जिस प्रकार से प्रकृति में अर्थों का उत्पत्ति वचन होता है वैसे ही उत्तर विकृति में भी उसी मन्त्र के द्वारा वचन करना चाहिये क्यों कि अर्थ में कार्यत्व नहीं होता है। मन्त्रों का अर्थ वचन ही करना चाहिये स्वरूप नहीं करना चाहिए। स्वरूप में तो अदृष्ट कल्पित किया जाना चाहिए ।१। इस अर्थ में लिङ्ग के दर्शन होने से भी यह सिद्ध होता है। जैसे भ्राता से सखा और भ्राता ऊहित नहीं होते हैं अन्य ही ऊहित होते हैं वैसे ही इस अर्थ में भी लिङ्ग का दर्शन होता है ।२। जाति शब्द और नैमित्तिक शब्द दोनों ही ऊहितव्य होते हैं किन्तु यथा-स्थान ही हुआ करते हैं। जाति शब्द स्तरण में और नैमित्तिक शब्द स्तरण सा धन में द्रव्य होता है ।३। कुछ आचार्य अविकार को ही मानते हैं और उससे अनार्षत्व होने का हेतु दिया जाता है ।४। इस अर्थ में भी लिङ्ग का दर्शन होता है। अग्निषोमीय पशु में लिङ्ग का श्रवण होता है। यदि ऊह होता तो इसकी भी प्राप्ति होने से विधान नहीं करना चाहिए था। इससे यह सिद्ध है कि अनूह है ।५। अथवा पूर्व हेतु से ही विकार होता है अर्थात् ऊह होता है। क्योंकि मन्त्राक्षर अर्थ पर होते हैं वे स्वरूप प्रधान नहीं होते हैं अतः केवल लिङ्ग का परिहार नहीं करना चाहिये ।६। जो लिङ्ग कहा गया है वह तो मन्त्र के करने की इच्छा के ही लिये है। ऊहित होने से वह अमन्त्र हो जायगा ।७। अथवा उभय भागी होने से नियम होता है। वह नियम यह है कि दोनों प्रकृति में न होवें। यदि दोनों का उपस्पर्श करे तो द्विवचन का प्रयोग करना चाहिए। इसलिए यह भी लिङ्ग नहीं होता है ।८। लौकिक उपस्पर्शन में दोष के संयोग होने से प्रतिषेध होने पर निमित्त के द्वारा प्रेरित किया जाता है। जहाँ पर

दोष होता है वहाँ ही प्रायश्चित होता है। इससे लौकिक पूथोपस्पर्शन में ही प्रायश्चित है प्रकृति में वैदिक में नहीं होता है क्योंकि वहाँ अभागित्व होता है। प्रतिषेधि और अपवर्ग की वैदिक में कोई सम्भावना ही नहीं होती है।९। अन्याय में कहा हुआ बहुवचनान्त अविकार से प्रवृत्त होना है क्योंकि एक पाश में प्रतिघात दृष्ट नहीं होता है और कोई विशेष भी नहीं हैं। इसलिये एक वचनान्त की निवृत्ति होती है।१०।

विकारो वा तदर्थत्वात ।११। अपि त्वन्यायसम्बन्धात्प्रकृतिवत्परेष्वपि यथार्थ स्यात् ।१२। यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् १३। छन्दसि तु यथादृष्टम् ।१४। विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात्तत्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेषत्वात् ।१५। प्रकरणविशेषाच्च ।१६। अर्थाभावात्तु नैवं स्याद्, गुथमात्रमितरत् ।१७। द्यावोस्तथेति चेत् ।१८। नोत्पत्तिशब्दत्वात् ।१९। अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात्प्रतीयेत ।२०।

यहाँ पर 'वा' शब्द से पक्ष का व्यावर्त्तन करता है। तदर्थ होने से विकार होता है। पाश मन्त्र करण मन्त्र होता है इसलिये द्विपार्श्विका विकृति में प्रत्येक पाश में आवृत्ति में ही प्रयोग होता है। वहाँ पर कर्मत्वाभि सम्बन्ध को द्विवचन ही कह सकता है अन्य नहीं। इससे द्विवचन का ऊहन होता है।११। जिस तरह प्रकृति में बहुवचनान्त और एक वचनान्त प्रवृत्त होता है और अन्याय सम्बन्ध से बहु बचनान्त होता है। उसी तरह विकृति में भी यथार्थ होता है। विकृति में भी उस पक्ष में प्रकाश करना चाहिए।१२। अन्याय के चोदित न होने से यथार्थ अर्थात् द्विवचन का ही ऊहन करना चाहिए। शब्दार्थ के अवगम में लोक ही प्रमाण होता है। लोक में दोनों अर्थों में बहुवचनान्त अथवा एक वचनान्त प्रवर्त्तमान नहीं दिखलाई देता है।

इस कारण से ऊह के द्वारा दोनों पाशों में बहुवचनान्त अथवा एक वचनान्त प्रयोग करना चाहिए ।१३। छन्द में तो दर्शन का अति क्रमण नहीं करना चाहिए। वहाँ तो यथा दृष्ट ही प्रामाण्य होता है ।१४। जब कोई विप्रतिपत्ति होती है तभी उसके होने पर विकल्प होता है। समत्व होने से गुण विभक्त्यर्थ में अन्याय की कल्पना होती है प्रधान प्रातिपदिकार्थ में नहीं होती है। एक देशत्व होने से प्रातिपदिक को उत्कृष्ट करता है ।१५। और विशेष प्रकरण के होने से भी प्रातिपदिक बहुवचन को आकर्षित करता है किन्तु प्रातिपदिक बहुवचन के द्वारा उत्कृष्यमाण नहीं होता है। अग्निषोमीय पशु में प्रातिपदिकार्थ विद्यमान है। यह प्रकृति है। बहु वचनार्थ विकृतियों में है। इससे भी सिद्ध है कि बहु वचनान्त का प्रकृति में निवेश होता है ।१६। यह युक्त है कि प्रतिपद्विधान का उत्कर्ष किया जाता है किन्तु प्रकृति में यजमान द्वित्व अथवा बहुत्व नहीं है । यहाँ इन दोनों प्रतिपदों का विषय नहीं है अतः अर्थ के अभाव होने से इस प्रकार नहीं होता है। यहाँ तो गुण मात्र है बहुत्व नहीं है ।१७। यदि यह कहा जावे कि द्यावा पृथिव्यादि अनुमन्त्रणों को उस प्रकार होता है अर्थात् जैसे वहाँ उत्कर्ष है वैसे ही इसका होता है तो यह उचित नहीं है क्योंकि द्यावा पृथिव्यादि की उत्पत्ति से शब्द नहीं होता है ।१८—१९। अपूर्व में अर्थात् अप्रकृति पूर्वक कर्म में अविकार से प्रयोग करना चाहिये । एक पत्नीक के प्रयोग से बहु पत्नीक प्रयोग में अति देश नहीं होता है क्यों कि वहाँ सामर्थ्य से द्विवचन और बहु वचन प्राप्त हो जाता है ।२०।

विकृतौ चापि तद्वचरात् ।२१। अध्रिगुः सवनीयेषु तद्वत्समानविधानाश्चेत् ।२२। प्रतिनिधौ चाविकारात् ।२३। अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चेतरस्य स्यात् ।२४। तादर्थ्याद्वा तदाख्यं स्यात्संस्कारैरविशिष्टत्वात् ।२५। उक्तं च तत्त्व-

मस्य । २६ । संगर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् । २७ । लिङ्गदर्शनाच्च । २८ । एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभिधानं स्यादसर्वविषयत्वात् । १९ । अविकारो वा बहूनामेककर्मवत् । ३० ।

विकृति में भी अविकार से तद्वचन होने के कारण से प्रयोग करना चाहिए। जो प्रकृति में है वह विकृति में करना चाहिये यह तद्वचन है। प्रकृति में एकत्व अविवक्षित होता है यहाँ पर भी द्वित्व-बहुत्व और एकत्व विवक्षित नहीं होना चाहिए ।२१। यहाँ पर "अध्रिगो, प्रास्मै" इत्यादि पद ऊहितव्य है या नहीं ऐसा विचार समक्ष में आने पर कहते हैं कि यदि समान विधान हैं तो अध्रिगो सवनीयों में उसी भाँति होता है। पत्न्याधिकरण की भाँति यहाँ पर पूर्व पक्ष है और अविकार सिद्धान्त होता है ।२२। व्रीहि शब्द का प्रतिनिधि नीवार हो तो अविकार से व्रीहि शब्द नीवार के प्रकाशन में असमर्थ होता है वहाँ ऊह ही करना चाहिए ।२३। यदि मन्त्र में व्रीहि शब्द आम्नात न हो और इतर नीवार का अभाव हो तो जाता है। इसलिये अभिधान की सिद्धि के लिए नीवार शब्द का ऊह करना चाहिए ।२४। नीवारों की व्रीहि अर्थता होने से और संस्कारों के द्वारा अविशिष्टता होने से वह नीवाराख्य अविकार से प्रयुक्त करना चाहिए। तदर्थ होने से प्रोक्षणादि संस्कार किये जाते हैं और संस्कारों से यह विशेषता से रहित होने वाला है ।२५। इस विशेष का तत्त्व अर्थात् तद्भाव छठे अध्याय में कह दिया गया है। इस प्रकार से व्रीहिगत विशेषता जो नीवारों में है वह सब पूर्व कथित होने से अविकार सिद्ध होता है ।२६ पशुओं का भेद होने पर भी संसर्ग वाले पदार्थों में परिमाण के स्थित न होने से एक वचनान्त उनका वाचक होता है— यह अनूह होता है। रश्मियों का संसर्ग से वे रश्मियाँ एकी-

भूत ही होती हैं। तेल और घृत के स्तोक अनेक स्थानों में जिस तरह भिन्न होते हुए भी समान देश में एकी भूत होते हैं उसी भाँति यहाँ रश्मियाँ हैं।२७। लिङ्ग के देखने से भी संसर्गियों की भाँति प्राण का अनूह सिद्ध होता हैं।२८। एक के संयोग होने से एक प्रकार से शब्द का अभ्यास करना चाहिए फिर अभ्यास से अविधान होता है। अतः अविकार से शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए।२९। बहुत से कर्मों का एकीकरण की भांति अविकार होता है—यह पक्ष 'वा' शब्द से यहाँ विपरिवर्त्तित होता है। इसलिये बहुत सी त्वचाओं में एकीकरण एकधा शब्द बताता है। यह समझना चाहिये।३०।

सकृत्त्वं चैकध्यं स्यादेकत्वात्त्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वा-त्परेष्वभ्यासेनैवं विवृद्धावभिधानं स्यात्।३१। मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात्सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात्तस्यान्यायनिगदत्वा-त्सर्वत्रैवाविकारः स्यात्।३२। अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासङ्ख्यं प्रयोगः स्यात्।३३। स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षो देवतायां स्यात् प्रत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात्।३४। देवता तु तदाशीष्ट्वात्सम्प्राप्तत्वात्स्वामिन्तनर्थिका स्यात्।३५।

फिर 'तु' इस शब्द से पक्ष का व्यावर्त्तन किया जाता है। यहाँ अविकार नहीं है। अभ्य मितव्य शब्द ही है। एक ही समय में कर्म के अभिधीयमान होने पर त्वचाओं का सहत्व अभिहित ही हो जाता है। उसकी प्रकृति में एक त्वचा में असम्भव होने से अभिप्रेत नहीं है। तत्प्रकृति न होने से उत्तर ततियों का बर्धमान पर पशुओं में अभ्यास से अभिधान होता है।३१। स्वामी—मेधपति और देवता—इन तीनों का उस मेव के प्रति आधिपत्य होने से समवाय होने के कारण और सर्वत्र हिमवान् से कन्या कुमारी पर्यन्य पति शब्द का आधिपत्य में प्रयोग होने से तथा उसका अन्याय निगदित होने से सर्वत्र अविकार

हो होता है ।३२। अथवा एकवान्निगद और द्विवान्निगद इन दोनों का समवाय होता है । एक वान्निगद का स्वामी में प्रयोग होता है जिनका समाम्नात है और जिनका द्विवान्निगद समाम्नात है वह देवता में प्रयोग किया जाता है । अतएव यथा संख्य प्रयोग होता है ।३३। एक वचन और द्विवचन होने के कारण से एक ही मेधपति शब्द स्वामि देवता दोनों का वाचक नहीं होता है । देवता वचन कल्पमान होने पर एकवन्निगद उत्कृष्यमाण होता है और यजमान वचन में कल्प्यमान होने पर द्विवान्निगद उत्कृष्यमाण नहीं होता है। यजमान में दम्पत्ति का वाचक होगा । अनएव प्रकरण से स्वामि वचन ही कल्प्यमान होता है ।३४। देवताओं के द्वारा हवि की आशा की जाती है अतएव यजमान के प्रति आशासनानु कीर्त्तन अनर्थक है । वह मेघ स्वामी को प्राप्त ही होता है । इसलिए मेधपति शब्द देवता वचन होता है ।३५।

उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन्पतित्वं स्यात् । ३६ । उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ द्विदेवते संभवात् । ३७ । एकस्तु समावायात्तस्य तल्लक्षणत्वात् । ३८ । संसर्गित्वाच्च तस्मात्तेन विकल्पः स्यात् । ३९ । एकत्वेऽपि न गुणाऽपायात् । ४० । नि मो बहुदेवते विकार स्यात् । ४१ । विकल्पो वा प्रकृतिवत् । ४२ । अर्थान्तरे विकारः स्याद्देवतापृथक्त्यादेकाभिसमवायात्स्यात् । ४३ ।

यजमान के द्वारा उत्सर्ग किया गया है कि यह मेरा नहीं है मेरे द्वारा तो परकीय इसकी केवल रक्षा की जाती है । इसलिये मेधपतित्व देवता में मुख्य है और स्वामी के लिये वह भाक्त अर्थात् गौण होता है ।३६। एक संयुक्त का ही उत्कर्ष किया जाता है क्योंकि द्विदेवता में वह असम्भव होता है ।३७। जहाँ दो अपनी स्तोमों के गण हों वहाँ पर जो मेधपति शब्द है वह देवता समवेत होता है क्योंकि

उसका वह लक्षण होता है ।३८। यहाँ इसका दूसरा भी यह परिहार होता है कि देवता का नाम जो है वह अर्थ संसर्गी होता है। किसी समय एक देवता होता है और यदि यह दो के लिये परिकल्पित कुछ द्रव्य होता है वहाँ दो देवता होते हैं। इसलिये एक वचनान्त भी प्रकरण का अभिनिवेश करता है ।३९। एकत्व होने पर भी अविवक्षित होने से वह प्रकरण से उत्कृष्यमाण नहीं होता है। वचन के अविक्षित होने पर भी एकत्व सम्बन्ध में एक वचन होता है। वह फिर अनुवाद किया जाता है इसलिये कोई दोष नहीं है ।४०। बहुदेवत्य पशु में एक वचनान्त वन्निगद कहने में असमर्थ होता है। द्विवन्निगद समवेताभियी होने से ऊहित होने के योग्य होता है। इसलिये बहुतों में भी ऊह होता है ।४१। एक वचनान्त भी प्रकृति की भाँति यहाँ द्विवचनान्त से विकल्पित होने के योग्य होता है ।४२। देवता के पृथक् होने से अर्थात् अन्य पशु का अन्य देवता होने से अर्थान्तर में विकार होता है। एकाभिसमवाय होने से ऐसा होता है ।४३।

।। तृतीय पाद समाप्त ।।

चतुर्थ पाद

षड्‌विंशतिरभ्यासेन पशुगणे, तत्प्रकृतित्वाद्गुणस्य, प्रविभक्तत्वादविकारे हि, तासामकार्त्स्न्येनाभिसम्बन्धो, विकारान्न समासः स्यादसंयोगाच्च सर्वाभिः । १ । अभ्यासेऽपि तथेति चेत् । २ । न गुणादर्थकृतत्वाच्च । ३ । समासेऽपि तथेति चेत् । ४ । नासम्भवात् । ५ । स्वाभिश्च वचनं, प्रकृतौ तथेह स्यात् । ६ । वङ्क्रीणान्तु प्रधानत्वात्समासेनाभिधानं स्यात् प्राधान्यमध्रिगोस्तदर्थत्वात् । ७ । तासां च कृत्स्नवचनात् । ८ । अपि

त्यसन्निपातित्पत्नीवदाम्नातेनाभिधानं स्यात् ।९ः विकारस्तु प्रदेशत्वाद्यजमानवत् ।१०।

द्विपशु आदि में षड्विंशति शब्द का अभ्यास होना चाहिए क्योंकि पशुगण में तत्प्रकृतित्व होता है। प्रत्येक पशु में षट्विंशति वङ्क्रय हैं। यहाँ पाँच पक्ष होते हैं—प्रथम पक्ष में सम्बन्ध की प्रधानता है। यहाँ षड्विंशति का दोनों के साथ जो सम्बन्ध है उसका वाचक कोई शब्द नहीं है। दूसरा पक्ष है कि प्रमाणान्तर से प्रकाशित अर्थ का प्रकाश करने से यह मन्त्र अकरण है। जो प्रकृति में किया है वह विकृति में भी अबाधित रूप से हो सकता है। तृतीय पक्ष है कि षड्विंशति शब्द दोनों से विशेष्य होता है और वह ही यहां प्रधान है। चतुर्थ पक्ष यह है कि दङ्क्र शब्द अस्यपद का विशेषण है। जहाँ दो पशु हैं वहाँ दोनों का प्रकाशन करना चाहिए। पशु ही प्रेरित होता है अतएव वह प्रकाशित करना चाहिए। अब पाँचवा सिद्धान्त पक्ष है कि दोनों से वङ्क्रीयत्ता परिछिन्न होती है! अस्य शब्द के षष्ठ्यन्त होने से संख्येय का प्राधान्य है। जहाँ दो पशु हैं वह वङ्क्रीयन्ता का परिच्छेदक शब्द का अवश्य ही उच्चारण करना चाहिये। सब के साथ संयोग न होने से समास नहीं होता है। विकार होने से उनका पूर्णतया अभि सम्बन्ध नहीं होता है ।१। समास वचन है उच्चरित अप्राकृत शब्द की भाँति अभ्यास में भी उसी प्रकार से होने का दोष नहीं होता है क्योंकि शब्द का अभ्यास गुण है और वह हमारे पक्ष में अप्राकृत होता है। आपके पक्ष में शब्द ही है ।२—३। यदि समास में भी यही दोष उपस्थित होता है तो समास वचन में पंक्तियों का सम्पूर्णत्व से अभिधान करना चाहिए। किन्तु वहाँ तो योगपद्य वचन होने मे प्रयोग वचन अनुग्रहीत हो जायगा ।४। जब चोदक बलवान् है तो प्रयोग वचन का आदर सम्भव नहीं होता है। क्योंकि चोदक धर्मों का

उत्पादक और प्रापक होता है । प्रयोग वचन तो केवल प्राप्तों का ही उप संग्राहक है । अतएव अर्थ के विप्रकर्ष होने के कारण उत्तरकाल दुर्बल होता है ।५। प्रकृति में जिस प्रकार से वंक्रियों के द्वारा पशु उपलक्षित होता है उसी भाँति यहाँ पर भी वह उपलक्षण के योग्य हो जाता है । यह अभ्यास वचन में ही हो सकता है । समास में तो समुदाय की परसंख्या ही उक्त होती है । इसलिए यह असत् ही है क्योंकि वंक्रियों से पशु उपलक्षित नहीं होते हैं ।६। वंक्रियों की प्रधानता होने से ही समास के द्वारा अभिधान होता है । उसका अध्रिगो वंक्रि अर्थ होने के कारण पशु संख्या सम्बन्ध प्रयोजन नहीं है । अतएव समास करके ही वचन करना चाहिये ।७। यहाँ पर यह भी हेतु है कि छब्बीस वंक्रियों का उद्धरण कत्स्न्यं से करना ही चाहिये । पशुओं का नहीं होता है ।८। असन्निपाती होने से वंक्रियों का षड्विंशति शब्द अविकृत ही प्रयुक्त करना चाहिये । दो पत्नी वाला और बहुत पत्नी वाला-यहाँ पर एक वचनान्त पत्नी शब्द जैसा होता है और संख्या से परिच्छिन्न नहीं होना है, इसी भाँति यहाँ पर भी अविकार से प्रयोग होता है ।९। अब 'तु' इस शब्द से पक्ष को विपरिवर्त्तित किया जाता है । यजमान की भाँति प्रदेश होने से विकार होता है । जैसे यजमान— यह शब्द एक यजमान के स्वसंख्या वाची में एक वचन और दो यजमान वाले प्रयोग में स्वसंख्या वचन प्रदेश से ऊहित होता है । इसी प्रकार से यहाँ भी है ।१०।

अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम् ।११। आम्न तस्त्वविकारा-त्सङ्ख्यासुसर्वगामित्वात् ।१२। सङ्ख्या त्वेवं प्रधानं स्याद्व-ङ्क्रय: पुन: प्रधानम् ।१३। अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात् ।१४। अनाम्नातवचनमवचनेन हि, वङ्क्रीणां स्यान्निर्देश: ।१५। पशुस्त्वेव प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात, तस्मा-

त्समासशब्दः स्यात् ।१६। अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वै-शेषिकम् ।१७। तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंश-ब्दाच्यत्वात् ।१८। ऋग्वा स्यादाम्नातत्वादविकल्पश्च कल्न्यायः ।१६। तस्यां तु वचनादैरवत्पदविकारः स्यात् ।२०।

पत्नी की भाँति जो कहा है वहाँ एक पत्नी वाले यजमान में पत्नी शब्द समाम्नात नहीं है और द्विपत्नीक तथा बहु पत्नीक में प्रदेश से होता है। एक पत्नी में स्व संख्या वचन और दो तथा बहुतों का स्व संख्या वचन होने से पत्नी में वैषम्य हो जायगा ।११। यथा समाम्नात षड्विंशति पातिपदिक का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार से अविकार होने में आर्ष अनुग्रह हो जायगा। जब षड्विंशति गुण प्रधानता से विवक्षित होवा है तो उसके विशेषण के लिए यह संख्या उच्चरित की जाती है। उस समय प्रथमान्त से भी लक्षण के द्वारा संख्या विशेष्य की जाती है और षड्विंशति शब्द सर्व वंक्रि गामी हो जायगा ।१२। इस तरह षड्विंशति गुण के प्राधान्य से विवक्षा होने से षड्विंशति में एक वचन उपपन्न होत्ता है। प्रकृति से वंक्रि की प्रधानता है संख्या की नहीं है। अतः यही निष्पत्ति होती है कि एक वचन समसितव्य ही होता है ।१३। इस स्थल में तो सभी आम्नात कहा जाता है किन्तु अनाम्नात वचन भी प्रतीत होता है। जैसे—षड्विंशर्ा षड्विंशतयः—अनार्ष होने से द्विवचन और बहु वचन प्रयोग नहीं किये जाते हैं। उन वंक्रियों का कार्त्स्न्यं से अभिधान नहीं होता है। उनका निर्देश होता है ।१४। यहाँ फिर 'वा' इस शब्द से पक्ष को व्यावर्त्तित किया जाता है। समान वचन नहीं है अभ्यास ही होता है क्योंकि इस प्रकार से अविकार हो जायगा ।१५। ऐसा मान लेने पर यहाँ पर पशु ही प्रधानतया निर्दिष्ट हो जाता है। प्रत्येक पशु के छब्बीस वंक्रियाँ हैं कोई एक पशु छब्बीस वंक्रियों वाला नहीं

है। वंक्रियों की इयत्ता तो प्रकृति में ही कहनी चाहिये। यहाँ तो वह भी चोदक के द्वारा प्रदिष्ट की जाती है। इससे पशु निमित्तक अभ्यास नहीं है। वंक्रियों का समस्य वचन ही करना चाहिये ।१६। अश्व-मेघ में 'चतुस्त्रिं शद्वाजिमो''—इत्यादि ऋचा के द्वारा जो अश्व की चौंतीस वंक्रियाँ समाम्नात हुई हैं वहाँ यह सन्देह होता है कि क्या यह वचन अश्व का ही वैशेषिक है अथवा सभी के लिए समास वचन है। वहाँ ऋचा का अर्थवान् वचन होने से यह अश्व का ही वैशेषिक होता है अन्यथा ऋचा के वचन को अनर्थकत्व दोष हो जायगा।१७। एचकार के करने से षड्विंशति शब्द विधीयमान नहीं होता है और षड्विंशति संख्या वचन है। वहाँ वाक्य में भेद है। इससे यथा प्राप्त वचन ही करना चाहिये ।१८। जो ऋक् आम्नात है वह अप्रतिषिद्ध है। इस कारण से अश्व का वैशेषिक वचन होता है और वह अविकल्प है। जो अविकल्प है वह न्याय्य है ।१६। ऐरवत् प्रतिषेध कार्यापत्ति प्रदर्शन के लिए होगा। उस ऋचा में पद विकार होकर चतुस्त्रिंशत् न कह कर षड्विंशति यही बोलना चाहिये। ऐसा नहीं हो सकता है क्योंकि वहाँ चतुस्त्रिंशत् पद श्रुति के द्वारा ही प्रतिषिद्ध किया जाता है और श्रुति न्याय्य है। अतः वैशेषिक ही वचन करना चाहिये ।२०।

सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात्पेदन स्यात् ।२१। वनिष्टु-सन्निधानादुरूकेण वपाभिधानम् ।२२। प्रशसाऽस्यभिधानम् ।२३। बाहुप्रशंसा वा ।२४। श्येन-शलाकश्यपकवषोरुस्त्रे-कपर्णोष्वाकृतिवचनं प्रसिद्धसन्निधानात् ।२५। कार्त्स्न्यं वा स्यात्तथाभावात् ।२६। अध्रिगोश्च तदर्थत्वात् ।२७। प्रासङ्गिके प्रायश्चितं न विद्यते, परार्थत्वात्तादर्थे हि विधीयते ।२८। धारणे च परार्थत्वात् ।२९। क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ।३०।

चतुस्त्रिंशत् इस पद का ऋचा के साथ संयोग नहीं होने से यह सब का ही प्रतिषेध हो जाता है। इससे समस्य वचन ही करना चाहिये ऋचा का अन्य विधि से विदित होने से वैशेषिक वचन हो जायगा। ।२१। ज्योतिष्टोम में जो अग्नी षोमीय पशु है उसमें अध्रिगो वचन है। वहाँ वनिष्टु के संन्निधान होने से उरूक के द्वारा वपा का अभि-धान होता है। वहाँ वनिष्ठु वचन पक्ष में उपमान उरूक शब्द का ऊह नहीं है और वपा वचन पक्ष में उरू शब्द ऊहि तव्य होता है। ।२२। वहाँ पर ही अध्रिगो "प्रशसा बाहू"—यह आम्नात किया गया है। वहां सन्देह होता है कि प्रशंसा—यह बाहु का अभिधान है या उसका विशेषण है। इससे वहाँ असि में प्रशसा गम्यमान होता है।२३। अथवा प्रशसा शब्द बाहु का प्रशंसक शब्द है। यहाँ विकला वचन है। असि पर ऊह होता है जो कि पूर्व पक्ष है। बाहु पर भी ऊह ही होना चाहिये।२४। अथवा प्रशसा बाहु का प्रशंस बताने वाला है। प्रशसा बाहू का अर्थ प्रशस्त बाहू होता है। वहाँ पर असिपर ऊह होता है। जैसा कि पूर्व पक्ष होता है।२५। जिस तरह "इन पिष्ठ पिण्डों को सिंह करो और अर्जुन वहरों को मेखला करो"—यहाँ पर सिंहा कृति तथा मेखलाकृति वचन गम्यमान होता है। उसी तरह प्रसिद्ध के सन्निधान होने से यहाँ श्येनाकृति वक्ष-शलाकृती दोषण्डी-कश्यपा कृति वाले अंश-कवष की आकृति वाले ऊरू और करवीर वर्णाकृति अष्ठीवन्त-यही होता है।२५। एकाङ्ग के उद्धरण से पूर्णतया उसका ज्ञान नहीं हो सकेगा अतः सम्पूर्ण कृति ही गम्यमान होती है। यह विकल्प पक्ष है।२६। अध्रिगु अङ्गों के उद्धरण के लिए ही दिया गया है।२७। अग्निहोत्र के लिए उद्धृत अग्नि में प्रायश्चित है क्योंकि वह सब स्वार्थ के लिए ही किया जाता है किन्तु प्रासङ्गिक अग्नि के अनुगत में परार्थ होने के कारण कोई प्रायश्चित नहीं होता है।

प्रायश्चित अग्निहोत्र के प्रकरण में ही आम्नात है ।२८। गतश्रिय अग्नि के अनुगमन में भी परार्थत्व होने के कारण प्रायश्चित्त नहीं होता है । क्योंकि जिस समय में अग्नि गतश्री होता है उस समय इसको सभी अर्थों के लिए धारण किया जाता है केवल अग्निहोत्र के लिए ही नहीं, अतएव इसमें परार्थता विद्यमान है।२९। जिस तरह परि-समूहन और पर्युक्षणादि किये जाते हैं उसी तरह प्रायश्चित होने से निवृत्त हो जाता है । अतएव पर्युक्षणादि से प्रायश्चित की कोई तुल्यता नहीं होती है । परिसमूहन आदि तो संस्कारार्थक हैं अतएव वे करने ही चाहिये । उनका अन्य कोई प्रयोजन भी नहीं होता है ।३०।

न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ।३१। प्रदान-दर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजरार्थत्वात्संसर्गाच्च मधूदकवत् । २। संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ।३३। तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ।३४। अधर्मत्वमप्रदानात्प्रणीतार्थे, विधानत्दतुल्य-त्वादसंसर्गः ।३५। परो नित्याऽनुवादः स्यात् ।३६। विहितप्रतिषेधोवा ।३७। वर्जनेगुणभावित्वात्तदुक्तप्रतिषेधा-त्स्यात्कारणात्केवलाशनम् ।३८। व्रतधर्माच्च लेपवत् ।३९। रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ।४०।

काल के अभाव में विगुणता होने से अग्निहोत्र के धिए उद्धरण नहीं होगा अतः वहाँ समन्तर ही करना चाहिये । विगुण उद्धरण अग्निहोत्र का ही होता है किन्तु गुणाभाव में प्रधान का भी अभाव नहीं होता है । काल गुण नहीं हैं किन्तु निमित्त ही है । अतः निमित्त के ही अभाव में क्रियमाण अश्रुत होता है । इसलिए वहां मन्त्र नहीं करना चाहिये और किया भी गया तो वह व्यर्थ ही है ।३१। ज्यो-तिष्टोम में समाम्नात होने से यह सन्देह होता है कि प्रदानार्थ पयोधर्म पय में करने चाहिये या नहीं । वहाँ उसका समाधान यह है कि प्रदा-

नार्थं पय है तो करने चाहिये और अपणार्थं है तो नहीं पयोधर्म नहीं करने चाहिये। किन्तु सप्तमी के निर्देश से पय के द्वारा श्रूयमाण का प्रदान नहीं हो सकता है अतः भोजनार्थ यह पय है ऐसा जो कहते हैं वह सिद्धान्तित नहीं है क्योंकि केवल त्याग याग नहीं होता है, देवता के उद्देश्य से त्याग ही याग है। चरु और पक्ष दोनों संसृष्ट है अतः मधूदकवत् देवता दोनों से सम्बद्ध है। सप्तम्यर्थ विवित्सित न होने से निर्देशमात्र है। अतः प्रदानार्थ ही पय हैं वहाँ पयोधर्म करने ही चाहिये।३२। प्रदेय संस्कारों का जो प्रतिषेध उपपन्न होता है वह न्याय्य ही होता है।३३। पय के प्रतिषेध में तथाभूत का लोक में वर्जन होता है। अतः वह भोजनार्थ होता है पानीय अत्रणार्थ है किन्तु तेल के पीने पर पानीय नहीं पीना चाहिये। यह प्रतिषेध होता है। इसी प्रकार से यहाँ भी है।३४। पय में प्रदीयमान धर्मता नहीं है और इसका प्रणीतार्थ में विधान है तथा चरु और पय की तुल्यता भी नहीं है। प्रत्यक्ष रूप से अधिकरणत्व से पय श्रूयमाण होता है और प्रदेयत्व से चरु होता है। पय में चरु का सम्बन्ध भी नहीं होता है। अतः पय में प्रदेय धर्म नहीं हो सकते है।३५। ऐसा मानने पर 'अय-जुषा वत्सानपाकरोति'—इस अर्थ का साधक नहीं होगा। यदि इसे नित्यानुवाद कहा जाता है तो वह अनर्थक हो जायगा। अतः इस वाक्य से यह गम्यमान होता है कि—'न यजुषा कसा अपा क्रियन्ते' और वह अप्रदेय होने में अप्राप्त है।३६। अथवा यह वचन विदित का प्रतिषेध होता है और वह अर्थवान् होता है।३७। लोक में संसृष्ट का वर्जन किया गया है वह युक्त है। भोजन में गुणीभूत पय का प्रचार है। जहाँ प्रचार है वहाँ प्रतिषेध भी अर्थवान् है। केवल व्रत और औषध के अतिरिक्त केवल पय का उपभोग नहीं होता है। केवलाशन ही पय का प्रतिषेध होता है।३८। ब्रह्मचारी को मांस भक्षण और दर्विगत लेप के प्रतिषेध की भांति यहाँ भी पय का पान

नहीं करना चाहिये ऐसा कथन करने पर पय के द्वारा सिवर एवं पय से ससृष्ट का वर्जन हो जायगा ।३९। यहाँ अन्य परिहारों की निवृत्ति के लिये ही वा शब्द दिया गया है। व्रत को पुरुष धर्मत्व होने से इस का प्रतिषेध होता है। पय के प्रतिषेध उस प्रकार से नहीं है। अतएव प्रथम ही परिहार समुचित है ।४०।

अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात्प्रवृत्तत्वात् ।४१। शृतोपदेशाच्च ।४२। लक्षणार्था शृतश्रुतिः ।४४। श्रयणानां त्वपर्वत्वात्प्रदानार्थे विधानं स्यात् ।४५। गुणो वा श्रयणार्थत्वात् ।४६। अनिर्देशाच्च ।४७। श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ।४८। अर्थवादश्च तदर्थवत् ।४९। संस्कारं प्रति भावाच्च तस्मादप्यप्रधानम् ।५०।

अभ्युदय के निमित्त में जो दोह देवता का अपनीत होता है वह स्वधर्मा और इज्य के लिए ही पय तथा दधि के धर्म करने चाहिये क्योंकि उन धर्मों की प्रवृत्ति में कारण होता है। जिस तरह चरु का देवता से सम्बन्ध है उसी प्रकार से वाक्य भेद से दधि और पय का भी सम्बन्ध होता है। वाक्य को विभाग परत्व होने से सप्तम्यर्थ गम्यमान होता है और वह अनुवाद होता है। अतः प्रदान के लिए दधि पय के धर्म करने चाहिये ।४१। श्रुत के उपदेश से भी इज्यार्थ ही दधि-पयो धर्म करने चाहिये ।४२। सप्तमी के संयोग से चरुपथ की भाँति अर्थान्तर में यह पय और दधि विधीयमान होता है। अथवा धर्मों का अपनय होता है ।४३। 'सिद्धवत् शृतोप देश' होता है— यह कोई दोष नहीं है क्योंकि शृत श्रुति लक्षणार्थ है, श्रयण से द्रव्य को लक्षयित करती है। चरु में श्रयण अर्थ प्राप्त है। उससे सम्बद्ध को लक्षित किया जाता है ।४४। पयोमिश्र सोम होता है। संमिश्र के हूयमान होने से पय की भी होम से सम्बद्धता होती है। सोम की

अपूर्वता होने से प्रदानार्थ पय का विधान ही. होता है। अतएव प्रदेश पयो धर्म यहां पर करने ही चाहिये ।४५। यहाँ 'वा' शब्द से अन्य पक्ष का व्यावर्त्तन किया जाता है। पय सोम का गुणभूत द्रव्य है प्रदेय द्रव्य नहीं है क्योंकि वह सोमार्थ से ही श्रुत होता है ।।४६।। होम से अथवा प्रयोग वचन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि परार्थत्व होने से अनिर्देश होता है। सोम के सम्मिश्रण में सोम का ही संस्कार अभ्युपगम्यमान होता है। प्रदेय धर्म से सम्बद्ध नहीं ।४७। श्रुति सोम को ही प्रधानता बनाने वाली है। द्वितीय विभक्ति से श्रयण के द्वारा सोम ही ईप्सित होता है ।४८। अर्थवाद सोमार्थ श्रयण का ही होता है। इसलिए जो श्रयण होता है वह सोम के लिए ही है। ।४९। संस्कार परक श्रवण होने से भी संस्कार ही गम्यमान होता है फिर भी प्रदेय धर्मों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इससे भी अप्रधानता ही होती है ।।५०।।

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ।५१। शेषप्रदिशेधो वाऽर्थाभावादिडान्तवत् ।५२। पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्तो नोपपद्यते ।५३। प्रवृत्तोर्यज्ञहेतुत्वात्प्रतिषेधे संस्काराणामकर्म स्यात्तत्कारितत्वाद्यथा प्रयाजप्रतिषेधे ग्रहणमाज्यस्य ।५४। क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्म सर्वहानं स्यात् ।५५। आज्यसंस्था प्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात् ।५६। समाप्तिवचनात् ।५७। चोदना वा कर्मोत्सर्गादन्यः स्यादविशिष्टत्वात् ।५८। अनिज्यां च वनस्पतेः प्रसिद्धाऽन्तेन दर्शयति ।५९। संस्था तद्देवतात्वात् स्यात् ।६०।

जिस प्रकार से चरु का उपादान उपधानार्थ होता है उसी भाँति पर्यग्नि कृतों के उत्सर्ग में होता है। अर्थात् उत्सर्ग के लिए आलम्भ होगा। वाक्यार्थ प्रतिषेध से श्रुति बलीयसी होती है ।५४। अथवा

यह कर्म शेष का प्रतिषेध है क्योंकि इडान्तवत् अर्थ का अभाव होता है। यदि उत्सर्गार्थ ही आलम्भ होता है तो 'ईशानाम पारस्वत आलभेत'—इस वाक्य का कोई भी अर्थ नहीं होता है।५२। याग की प्रवृत्ति वाला शब्द पूर्व है और आज्य के द्वारा शेष का संस्थापन होता है। यदि याग पूर्व प्रवृत्ति नहीं है केवल उत्सर्ग मात्र ही है तो वहाँ 'संस्थापयति'—यह उपपन्न नहीं होता है। अतः यही सिद्ध होता है कि शेष कर्म का प्रतिषेध है।५३। संस्कारों की प्रवृत्ति का यज्ञ हेतु होने से यदि द्रव्योत्सर्ग विधीयमान होता है तो संस्कारों की अकर्मता होती है। संस्कारों की तो यज्ञ कारिता ही होती है। जिस तरह प्रयाज के अभाव में उसी के लिये गृह्यमाण आज्य का ग्रहण नहीं किया जाता है। इसी प्रकार से यहाँ भी संस्कारों का ग्रहण नहीं करना चाहिये।५४। अवच्छेद पक्ष में क्रिया होनी चाहिए। याग जब होता है तो सभी याग पदार्थ करने चाहिए। यदि याग न होवे तो अकर्म है। संस्कारों का सर्व हान हो जायगा। इस से कर्म शेष प्रतिलन्ध पक्ष में भी सभी कुछ करना ही चाहिए।५५। आज्येन शेषं संस्थापयति"—यहाँ पर द्रव्य के उत्सर्ग होने से आज्य की संस्था प्रतिनिधी भूत है।५६। यहाँ पर अपूर्व कर्म का जब वह उच्यमान होता है तो आरम्भ ही कहना चाहिए। जो आरम्भ का कथन न करके दो वह परिसमाप्ति ही कही जाती है। अतः यह जाना जाता है कि पूर्व की ही परिसमाप्ति है।५७। अथवा पूर्व कर्म के परिसमाप्त होने से कर्मान्तर की चोदना होती है। जिस तरह अन्य निर्वपत्यादि कर्मान्तर विधान में होते हैं वैसे ही उनसे अविशिष्टत्व होने से संस्थापयति-यह भी हो सकता है।५८। शेष की परिसमाप्ति होने पर वनस्पति का हवन करता है। यह वनस्पती ज्या की जाती है। अङ्गान्तर के द्वारा अनुग्रह बोलते हुए वनस्पतीज्या का अभाय दिखाया जाता है।

इससे पूर्व कर्म परिसमाप्त हो गया है। यह भी कर्मान्तर है ।५६। यह असंस्था में संस्था वचन है। वहाँ पर पात्नी व्रत जो आरब्ध हैं वह परिसमाप्त हो गया है। समान देवता होने से समाप्ति का सादृश्य जाना जाता है। सदृाश्य से संस्थापयति—यह शब्द अवकल्पित होता है ।।६०।।

।। चतुर्थ पाद समाप्त ।।

।। नवमोऽध्याय समाप्त ।।



दशमोऽध्याय

प्रथम पाद

विधेः प्रकरणान्तरेऽतिदेशात्सर्वकर्म स्यात् । १ । अपि चाऽभिधानसंस्कारुद्रव्यमर्थे क्रियत्ते तादर्थ्यात् । २ । तेषामप्रत्यक्षशिष्टत्वात् । ३ । इष्टिरारम्भसंयोगादंगभूतान्निवर्ततारम्भस्य प्रधानसंयोगात् । ४ । प्रधानाच्चान्यसंयुक्तात्सर्वारम्भान्निवर्तेतानङ्गत्वात् ।-५ । तस्यां तु स्यात्प्रयाजवत् । ६ । न चाऽङ्गभूतत्वात् । ७ । एकवाक्यत्वाच्च । ८ । कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थाभावान्निवर्तेत, तादर्थ्यं श्रुतिसंयोगात् । ९ ।

प्राकृत विधि का प्रकरणान्तर विकृति में अविशेषता से अतिदेश होता है । अतएव जो भी जितना भी प्राकृत धर्म ज्ञात है वह सभी विकृति में करना चाहिए चाहे वह अर्थ लुप्त भी क्यों न हो। वचन द्वारा यह सभी प्राप्त होता है । कृष्णलों का पाक अप्राकृतार्थ भी है तो भी वह वचन प्रामाण्य से किया ही जाता है ।१। यहाँ पर 'अपिवा'—इस से पक्ष की व्यावृत्ति की जाती है। अभिधान संस्कार द्रव्य प्रयोजन होने पर ही किया जाता है। जहाँ अप्रयोजन है वहाँ नहीं होता है । क्योंकि वह अन्य प्रयोजन के लिये ही आम्नात किया जाता है, स्वार्थ के लिये नहीं होता है ।२। कृष्णलों में लुप्त पाक प्रयोजन वाला भी पाक वचन के प्रामाण्य से किया जाता है। 'घृतेश्रपयति'–यह प्रत्यक्ष वहाँ पर वचन है । वहाँ पर वचन प्रामाण्य होने से अदृष्टार्थ पाक है ।३। आरम्भ ही प्रथम पदार्थ है । पुरुष का

प्रथम प्रवर्त्तन ही आरम्भ होता है। उसके अंगभूत दक्षणीयादि निवृत्त हो जाते हैं। जो इष्टि ज्योतिष्टोम आदि आरम्भणीय है उसके अङ्गभूत दीक्षणीयादि निवृत्त हो जाते हैं। दीक्षणीयादि तो क्रतु के अङ्ग होने से ही अर्थ का साधन करते हैं उनका वहाँ कर्त्तव्य नहीं होता हैं।४। प्राकृत प्रधानों का एकैक वन्त्र से समाम्नान हो सकता है। अतएव राजसूय में अनुमत्यादि आरम्भणीय नहीं हो सकते हैं। अङ्ग न होने से समस्त आरम्भों की अन्यप्रधान संयुक्त प्रधान से निवृत्ति हो सकती है।५। आरम्भणीय में भी आरम्भणीय करना चाहिए या नहीं—इस संशय की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि उसमें तो प्रयाजवत् करना चाहिए। वहाँ व्यवस्थित शास्त्र के अर्थ के द्वारा ही करना चाहिये।६। आरम्भणीय में आरम्भ-णीय नहीं होती है क्योंकि वह तो दर्श पूर्णमास की अङ्गभूता होती है और जो अङ्गभूत होता है उसका प्रधानारम्भ से ही सिद्ध होती है। इसलिये हमारे इस पक्ष में कोई अव्यवस्था और वाध उपस्थित ही नहीं होता है।७। यह एक ही वाक्य है जो आरम्भणीया का विधान करता है। उस समय यह दर्श पूर्णमास को विदित नहीं करता है किन्तु अविहित होते हुए भी दर्श पूर्णमास का विधान कर देता है। इस हेतु से भी आरम्भणीय में आरम्भणीय नहीं है।८। द्रव्य के संयोग के लिये जो कर्म होता है वह अर्थ के अभाव होने से निवृत्त हो जाता है क्योंकि तादर्थ्य का श्रुति से संयोग होता है। इसलिये यूप करणार्थ जो यूपाहुति आदि संस्कार है वे निरर्थक होने से निवृत्त हो सकते हैं।९।

स्थाणौ तु देशमात्रत्वादनिवृत्तिः प्रतीयेत।१०। अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत ।११। समाख्यानं च तद्वत् ।१२। मन्त्रवर्णश्च तद्वत्।१३। प्रयाके च तन्नयायत्वात्

। १४ । लिङ्गदर्शनाच्च । १५ । यथाऽऽज्यभागाग्निरपीति चेत् । १६ । व्यपदेशाद्देवतान्तरम् । १७ । समत्वाच्च । १८ ।

अग्निषोमीय पशु में स्थाणु में स्थाणु की आहुति श्रूयमाण होती है । यूप संस्कार की भाँति स्थाणु में आहुति की निवृत्ति नहीं होती है क्योंकि यह उपकारक कर्म है । १० । यूप भी कर्म का शेषभूत है, अतएव उसका संस्कार भी आवश्यक प्रतीत होता है । जो प्रसिद्धि होती है वह न्याय से बाध्य हो जाती है । अतः यूप का संस्कार पक्ष ज्यायान् है ।११। स्थाण्वाहुति यहाँ पर समाख्यान स्थाणु प्रधान आहुति का ही होता है क्योंकि यहां षष्ठी समास है और कर्म में षष्ठी होती है । कर्म ईप्सित तम है । अतएव षष्ठी समास का आदर नहीं करना चाहिये ।१२। मन्त्र वर्ण भी यूप की भांति आद्रियमाण होता है । इससे संस्कार कर्म खलेवार्ता में नहीं करना चाहिए ।१३। दर्श पूर्णमास में उत्तम प्रयाज आम्नात किया जाता है । प्रयाज में संस्कार कर्म न्याय है । स्थाणु में आहुति और शेषभूत होने से उसका संस्कार उचित ही है । आज्य भागादि में अग्नि आदि शेष भूत हैं । तदर्थ ही याग प्रयोजन वाला होता है । अन्य पक्ष में याग ही प्रयोजन शून्य है ।१४। इस पक्ष में लिंग भी होता है और वह लिंग यह है कि सम्प्रतिपन्न देवता वाला चातुर्मास्यों में उत्तम प्रयाज का निगद दिखाई देता है ।१५। आज्य भागाग्नि भी उत्तम प्रयाज है । वहाँ पर देवता संस्कारार्थ अग्नियाग किया जाता है । जिस किसी भी देवता के लिये हवि का निर्वपन किया जाता है पहिले आज्य का यजन होता है ।१६। व्यपदेश से देवतान्तर का यजन किया जाता है । "अग्निमग्न आवह" इत्यादि व्यपदेश है । यही व्यपदेश लिंग होता है ।१७। यहाँ पर याग और देवता दोनों ही प्रयोजन वाले हैं अतः देवता की यागार्थता न्याय्य है । देवता के बिना याग सम्भव नहीं होता है । उपकारक कर्मों से साम्य होता है ।१८।

पशावपीति चेत् ।१९। न तद्भूतवचनात् ।२०। लिङ्गदर्शनाच्च।२१। गुणो वा स्यात्कपालवद्गुणभूयविकाराच्च।२२। अपि वा शेषभूतत्वत्तत्संस्कारः प्रत्येत: स्वाहाकारवदगानामर्थसयोगात् ।२३। व्यृद्धवचनं च विप्रप्रतिपत्तौ तदर्थत्वात् ।२४। गुणेपीति चेत्।२५। नासंहानात्कपालवत् ।२६। ग्रहाणां च सम्प्रतिपत्तौ तद्वचनं तदर्थत्वात् ।२७। ग्रहाभावे तद्वचनम् ।२८। देवतायाश्च हेतुत्वे प्रसिद्ध तेन दर्शयति।२९। अविरुद्धोपपत्तिरर्थापत्तेः, श्रुतवद् गुणभूतविकारः स्यात्।३०।

बलवान् वाक्य शेष के द्वारा पशु में भी तद्विध शब्द ज्वलन वचन व्यपदिश्यमान किया जाता है किन्तु नियोग से तद्वचन पशु पुरोडाश में नहीं होता है। इसलिये प्रसिद्धि का उपकारकत्व होता है। ।१९। जिस देवता का पशु है उसी देवता का पुरोडाश होता है। इससे अर्थवाद साम्य में देवता संस्कार ही गम्यमान होता है।२०। इस अर्थ को लिङ्ग भी दर्शित करता है। पशु पुरोडाश के क्रम में दोनों को समाम्नात किया गया है यही यहाँ पर लिङ्ग होता है। इसलिये पशु देवता संस्कार के लिये पुरोडाश याग होता है ।२१। यहाँ 'वा' इस शब्द के द्वारा पक्ष को व्यावर्त्तित किया जाता है। जैसे कपाल श्रयण में भी और तुषोप वयन में भी होता है उसी भाँति अभिन्न अग्निषोमीय पशु याग और पुरोडा। याग में गुणभूत हो जाँयगे। यहाँ गुणभूतों का भी अविरोध से होना आवश्यक है अन्यथा प्रधान भूत अन्य कार्यों में प्राप्त नहीं होंगे। इससे भी आराद्उपकारकत्व सिद्ध होता है ।२२। आराद्उपकारक कर्म नहीं किन्तु उसका सस्कार ही होता है शेष भूत होने से देवता को ही प्रयोजनवत्त्व है। जिस भांति यजिस्वाहाकार निष्प्रयोजन होता है उसी तरह यहाँ पर भी अङ्गों का अर्थ

अर्थात् प्रयोजन से संयोग गम्यमान होता है। आराहुपकारक होने से तो अङ्गों की व ीयता हो जायगी। अतः आराहुपकारकत्व नहीं है। अदृष्ट से दृष्ट कार्य बलवान् होता है। अतः संस्कार कर्म ही है।२३। सौत्रामणी में पशु पुरोडाश देवता की विप्रतिपत्ति में व्यृद्ध वचन देवता संस्का र में ही अवकल्पित होता है। पशु पुरोडाश अन्य देवत्य होते हैं और पशु अन्य देवत्य होते हैं।२४। संस्कार पक्ष में व्यृद्ध वचन अवकल्पित नहीं होता है वहाँ तो विप्रतिवन्त देवता वाले पुरोडाशों के द्वारा वह कर्म समृद्धतर होता है। दोनों पक्षों में दोष है वहाँ एक चोद्यमान नहीं होता है। जिस प्रकार से संस्कार पक्ष में व्यृद्ध वचन अर्थवाद है तो इसी प्रकार से अन्य पक्ष में भी अर्थवाद हो जायगा।२५। कपालों का हान जिस तरह नहीं होता हैं वैसे ही पशु देवता में भी हान नहीं होता है। वहाँ पर अव्यृद्ध में ही व्यृद्ध वचन होता है। हमारे पक्ष में तो देवता प्रकाशन अङ्गभूत हीयमान होता है। अहनि में तो व्यृद्ध शब्द उच्चरित करने पर उसका शब्दार्थ गृहीत नहीं होता है।२६। सौत्रामणी में सम्प्रतियन्न है बता वाले ग्रहों में वह वचन होता है। ये पुरोडाश भी देवता संस्कार के लिये ही हैं इस प्रकार से अवकल्पना होती है। इ१ से तो संस्कार पक्ष ही श्रेयान् हो जाता है।२७। पुरोडाश वता जिसका हेतु है ऐसा ग्रहाभाव बताते हुये ग्रह और पुरोडाश की एकार्थता दर्शित की जाती है। ग्रह की संस्कारार्थता विज्ञस ही है और यदि पुरोडाश भी देवता के संस्कार के ही लिये है तो इस प्रकार से यह अब कल्पित होता हे।२८। पशु देवता जिनके हेतु हैं ऐसे पुरोडाशों को बोलते हुए पुराडाशों की देवता संस्कारार्थता दार्शित की जाती है।२९। प्रधान भूत भी अग्नि षोमों में धर्मों की उपपत्ति अविरुद्ध होती है। अर्थापत्ति से प्रधानभूत भी प्राकृत कार्य याग निवृत्ति को करते हुए द्वारभूत धर्मों के द्वारा श्रृत की भाँति युज्यमान होते हैं।३०।

स द्व्यर्थः स्यादुभयोः श्रुतिभूतत्वाद्विप्रतिपत्तौ; तादर्थ्याद्विकारत्वमुक्तं, तस्यार्थवादत्वम् ।३१। विप्रतिपत्तौ तासामाख्याविकारः स्यात् ।३२। अभ्यासो वा प्रयाजवदेकशोऽन्यदेवत्यः ।३३। चरुर्हविर्विकारः स्यादिज्यासंयोगात् ।३४। प्रसिद्धग्रहणत्वाच्च ।३५। ओदनो वाऽन्नसंयोगात् ।३६। न द्व्यर्थत्वात् ।३७। कपालविकारो वा विशयेऽर्थोपपत्तिभ्याम् ।३८। गुणमुख्यविशेषाच्च ।३९। तच्छ्रुतौ चान्यहविष्ट्वात् ।४०।

याग दो अर्थ वाला होता है। एक देवता संस्कारार्थ होता है और दूसरा अर्थ छिद्रापिधानार्थ है। दोनों ही अर्थों में श्रुतिभूतत्व है। इसलिये विप्रतिपन्न देवता वालों में छिद्रापिधानार्थता के प्रकरण से उत्कर्ष नहीं होगा क्योंकि यह विकार तत्प्रकरण गत ही हो जायगा।३१। प्रकरण से उत्कर्ष नहीं होता है अतः देवता संस्कार प्रकरण के उत्कर्ष के द्वारा वाधित नहीं किया जा सकता है। सौत्रामणी में संप्रतिपन्न देवता वाले पुरोडाश चोदक के द्वारा प्राप्त होते हैं वहाँ इन्द्रादि शब्द पशु देवताओं के वाचक हैं। एक देश समुदायो समुदाय को बताकर समुदायार्थ का ज्ञान करा सकते हैं।३२। यहाँ वा' शब्द संस्कार पक्ष में ही युक्ति की व्यावृत्ति करता है पक्ष की नहीं। अथवा आख्या विकार नहीं है। अनाख्या विकारों में भी संस्कार पक्ष ही अवकल्पित होता है। इस में चोदक के द्वारा पशु देवता और पशु पुरोडाश प्राप्त होता है। वहाँ पशु पुरोडाश का देवतान्तर है और पशु देवता का अन्य द्रव्य का विधान होता है। वहाँ पर याग अविकृत ही रहा करता है। पशु देवता की और ग्रह की सम्बद्धता ये दोनों अनभ्यस्त याग में सम्भव न होने से याग का अभ्यास किया जाता है। उसका एक देश प्रयाज की भाँति अन्यदेवत्य होता है।३३।

इज्या के साथ हवि का संयोग होने से वह हवि का ही विकार होता है कपाल का विकार नहीं होता है। "सौर्यं चरुं निर्वपेत्"—इस वचन से इज्या के लिए ही हवि का विधान किया जाता है।३४। हवि का विकार स्थाली में अथवा ओदन में से किस में होता है ऐसे संशय के निवारण के लिए कहा जाता है कि चरु स्थाली में प्रसिद्ध है अतः प्रसिद्ध होने के कारण से वही न्याय सङ्गत भी है। हिमालय से कन्या-कुमारी पर्यन्त इसी का प्रयोग देखा भी जाता है। इसलिए स्थाली में ही हवि का विकार होता है।३५। वैकल्पिक मत यह भी है कि ओदन अदनीया अन्न के संयोग से ओदन में भी चरु शब्द का प्रयोग किया जाता है क्योंकि शिष्ट अदनीय द्रव्य से ही देवता का याग किया करते हैं।३६। चरु शब्द ओदन का भी वाचक होता है—ऐसा मानने से उसमें दो अर्थ वाला होने का दोष आ जाता है। ओदन में चरु शब्द संयोग होने से लाक्षणिक मानना आचारानुरोध से उचित नहीं होता है।३७। स्थाली के विकार में स्मृति हेतु होता है और आचार से श्रुति की आशङ्का की जाती है। ओदन के द्वारा स्थाली के संयोग से विकार में लक्षणा शब्द की आशङ्का होती है। इन सब के निवारणार्थ अन्य पक्ष यह भी है कि चरु कपाल का विकार ही है। कपाल शिकार भी सूर्य का अर्थ होता है और इसमें स्थाली से श्रयण किया जा सकता है। यह उपपत्ति भी है।३८। गुण वाधित करने योग्य न्याय युक्त होता है मुख्य नहीं होता है। अतः गुण मुख्य के विशेष हेतु से भी कपाल विकार होता है।३९। चरु की श्रुति में अन्य हवियों का भी दर्शन होने से यही पक्ष सिद्ध होता है। कृष्णल और घृत आदि अन्य हवियों का निरूपण किया जाता है।४०।

लिङ्गदर्शनाच्च।४१। ओदनो वा प्रयुक्तत्वात्।४२। अपूर्वव्यपदेशाच्च।४३। तथा च लिङ्गदर्शनम्।४४।

स कपाले प्रकृत्या स्यादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ।४५। एकस्मिन्वा विप्रतिषेधात् ।४६। न वाऽर्थान्तरसंयोगादपूपे, पाक संयुक्तं धारणार्थं चरौ भवति, तत्रार्थात्पात्रलाभः स्यादनियमोऽविशेषात् ।४७। चरौ वा लिङ्गदर्शनात् ।४८।

इस पक्ष की सिद्धि में लिङ्ग-दर्शन भी होता है। भृष्मय चरु प्रियंगु का विकार नहीं होता है। इस से चरु भी कपाल का विकार है ।४१। अथवा चरु शब्द का ओदन में भी प्रयोग होने से ओदन भी हवि का विकार होता है। सूर्य का अन्य अदनीय द्रव्य नहीं है जिससे चरु को सम्बद्ध किया जावे। द्रव्य देवता का सम्बन्ध यजि का अर्थ है ।४२। अपूर्व व्यपदेश होने से भी ओदन के द्वारा ही हवि का विकार होता है। जिस पक्ष में पुरोडाश हैं उसी में चरु होता है ।४३। ऐसा करने पर इसमें अन्य लिङ्ग भी उपपन्न हो जाता है। चार आज्य के भागों में विधान होता है। चरुमोदन शब्द बोलते हुए ओदन के द्वारा हवि का विकार दिखाया जाता है ।४४। ओदन का पाक कपाल में प्रकृति से होता है और अन्य कोई भी आम्नात नहीं किया जाता है। इसलिए कोई इसका नियम नहीं है। अर्थ प्राप्त जिस किसी भी द्रव्य में पाक किया जा सकता है ।४५। यदि विरोध होने से आठ कपाल प्राप्त न हों तो एक कपाल में ही चरु का पाक किया जा सकता है ।४६। अथवा अर्थान्तर के सयोग होने से कपलों में पाक नहीं करना चाहिये। अपूप पाक में जो कपाल का उपादान किया जाता है उसमें रहने वाली उष्मा से अपूप का निवर्त्तक पाक जिस तरह से भी करना चाहिये। चरु के लिए उपादीय मान कपाल उदक के धारण के लिए होता है। उदक गत उष्मा से ही ओदन का पाक होता है कपालगत उष्मा से नहीं होता है। इस अर्थ से पात्र का लाभ होता है। उसमें कोई विशेष का नियम नहीं होता है ।४७।

चरु के विषय में लिङ्ग का दर्शन भी होता है वह लिङ्ग यह है कि स्थाली में श्रवण करना चाहिये। ऐसा वचन मिलता है। चरु संज्ञक पाक स्थाली में ही करना चाहिये और कटाह अथवा कपाल में नहीं करे। इस लिङ्ग से भी सिद्ध होता है कि स्थाली में ही चरु का पाक होता है।४८।

तस्मिन्पेषणमनर्थलोपात्स्यात् ।४६। अक्रिया वा अपूपहेतुत्वात् ।५०। पिण्डार्थत्वाच्च संयवनम् ।५१। संवपनं च तादर्थ्यात् ।५२। सन्तापनमधः श्रपणात् ।५३। उपधानं च तादर्थ्यात् ।५४। पृथुश्लक्ष्णे चाऽनपूपत्वात् ।५५। अभ्यूहश्चोपरिपाकार्थत्वात् ।५६। तथा च ज्वलनम् ।५७। व्युद्धृत्याऽऽसादनं च प्रकृतावश्रुतित्वात् ।५८।

अब सौर्य चरु में पेषण का अधिकरण आता है। ओदन से हवि का विकार किया जाता है यह समधिगत हो गया है। अब चरु में पेषण करने के संशय को निवारण के लिए कहा जाता है कि उस चरु में अर्थ लोप-पेषण करना चाहिये। तण्डुलों में पेषण किया जा सकता है।४६। अपूपों की क्रिया बिना पेषण के सम्पन्न ही नहीं हो सकती है। केवल ओदन बिना पेषण के सम्भव हो सकता है। अतएव चरु का पेषण करना ही चाहिये ।५०। चरु में संयवन करना चाहिये क्योंकि वह पिण्ड के लिए ही किया जाता है और अपूप का पिण्ड से ही प्रयोजन होता है ।५१। संयवन प्रकृति में किया जाता है क्योंकि वह उसी के लिए होता है। चरु में संयवन का कुछ भी प्रयोजन नहीं होता है ।५२। चरु में संतापन करना चाहिये अथवा नहीं इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रकृति वचन से वह करना चाहिये क्योंकि वह अधः श्रपण के लिए है। चोदक चरु में प्राप्त नहीं करता है ५३। चरु में कपालोपधान के प्रति सन्देह नहीं करना

चाहिए क्योंकि वह तो प्रकृति वत् वचन से प्राप्त होता है। अध: या कार्य होने से निवृत्ति हो जाता है ।५४। जहाँ पृथुश्लक्ष्ण होता है वहाँ चोदक के अनुग्रह से उसका कर्तव्य प्राप्त होता है किन्तु अवयूपत्व होने से वह भी निवृत्त हो जाया करता है ।५५। अभ्यह भस्म से आङ्गरों का किया जाता है उसे भी प्रकृतिवत् वचन से नहीं करना चाहिये क्योंकि वह उपरि परिपाक के ही लिए पुरोडाश का अवकल्पित होता है, चरु का नहीं होता है। इसीलए निवृत्त होता है ।५६। अब ज्वलन भी उसी भाँति उपरियाकार्थ होने से निवृत्त हो जाता है ।५७। सौर्य चरु में व्युद्धृत करके आसापन करना प्रकृति में श्रुत न होने से नहीं करना चाहिये ।५८।

।। प्रथम पाद समाप्त ।।

द्वितीय पाद

कृष्णाष्लेवर्थलोपादपाकः स्यात् ।१। स्याद्वा प्रत्यक्ष-शिष्टत्वात्प्रदानवत् ।२। उपस्तरणाभिघारणयोरमृतार्थत्वाद-कमस्यात् ।३। क्रियेत वाऽर्थबादत्वात्तयोः संसर्गहेतुत्वात् ।४। अकम वा चतुर्भिराप्तिवचनात्सह पूर्णं पुनश्चतुरवत्तम् ।५। क्रिया वा मुख्यावदानपरिमाणात्सामान्यात्तद्गुणत्वम् ।६। तेषां चकावदानत्वात् ।७। आप्तिः संख्यासमानत्वात् ।८। सतोस्त्वाप्तिवचनं व्यर्थम् ।६। विकल्पस्त्वेकावदान-त्वात् ।१०।

प्रकृति में पुरोडाश के लिए ही पाक होता है अतः कृष्णलों में अर्थ के लोप से पाक नहीं होता है। कृष्णल कृष्णल ही होते हैं। इसलिए उनका पाक प्राप्त ही नहीं होता है ।१। जिस प्रकार से

उन अदन न करने योग्यों का प्रत्यक्ष शासन से प्रदान होता है उसी भाँति चोदक के द्वारा यद्यपि यह प्राप्त नहीं होता है तो भी पाक विकल्प से हो सकता है।२। उपस्तरण और अभिधारण की क्रिया नहीं होती है क्योंकि ये तो अमृताहुति के लिए ही किए जाते हैं।३। अथवा उपस्तरण और अभिधारणा करने ही चाहिये क्योंकि प्रकरणान्तर में विधि का अतिदेश होने से समस्त कर्म होता है। स्वाहुतार्थ अर्थवाद ही होता है। आज्य का संसर्ग मात्र ही किया जाता है।४। "चतुर्भिः"— इस आप्ति वचन के होने से उन दोनों उपस्तरण और अभिधारण की निवृत्ति हो जाती है। इनके साथ फिर पूर्ण चतुरवत्त ही हो जाता है और वहाँ पर आप्ति वचन का व्याघात हो जाता है। चार कृष्णल हैं और चार ही अवदान हैं। अतः एक-एक कृष्णल एक-एक अवदान के स्थान में होता है।५। प्रकृति में मुख्य अवदान के परिमाण के कथन से विकल्प से उन दोनों की क्रिया भी होती है। यहाँ पर भी कृष्णल शब्द परिमाण वचन श्रूयमाण होता है। सामान्य होने से तद्गुणत्व होता है।६। चारों कृष्णलों की एक ही अवदानता होती है। इसलिए भी उनकी अनिवृत्ति होती है।७। संख्या की समानता होने से आप्ति वचन चतुः संख्या की ही संस्तुति है। अतएव उपस्तरण और अवधारण की निवृत्ति नहीं होती है।८। विद्यमान उपस्तरण और अभिधारण का आप्ति वचन व्यर्थ ही होता है क्योंकि ऐसी स्थिति में उनका कोई भी सस्तव नहीं होता है।९। आप्ति वचन से इन दोनों की निवृत्ति होती है—इसका 'तु' शब्द निवर्त्तन कर देता है। इस प्रकार से एकावदान वचन लिङ्ग से ही इन दोनों की अनिवृत्ति होती है इस लिङ्ग में विकल्प होता है।१०।

सर्वविकारे त्वभ्यासानर्थक्यं हविषो हातरस्य स्यादपि वा स्विष्टकृतः स्यादितरस्याग्याय्यत्वात् ।११। अकर्म वा

संसगर्थिं निवृत्तित्वात्तस्मादाप्तिसमर्थत्वम् ।१२। भक्षाणां तु प्रीत्यर्थत्वादकर्म स्यात् ।१३। स्याद्वा निर्धानदर्शनात् ।१४। वचनं वाऽऽज्यभक्षस्य प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ।१५। वचनं वा हिरण्यस्य प्रदानवदाज्यस्य गुणभूतत्वात् ।१६। एकधोःपहारे सहत्वं ब्रह्मभक्षाणां प्रकृतौ विहृतत्वात् ।१७। सर्वत्वं च तेषामधिकारात्स्यात् ।१८। पुरुषापनयो वा तेषामवाच्यत्वात् ।१९। पुरुषापनयात्स्वकालत्वम् ।२०।

आप्ति वचन के वाधित होने पर चारों कृष्णलों में सर्वावदान विकारों में अभ्यास अनर्थ हो जायगा। हमारे पक्ष में इतर हवि द्वितीय अवदान की अपेक्षा करके अभ्यास अवकल्पित होता है। इतर का स्विष्टकृत अपेक्षण अन्याय्य होता है। स्विष्टकृत चोदक के द्वारा प्राप्त होता है प्रकरण नहीं है। अतएव उपस्तरणाभिधारण करने ही चाहिये ।११। स्रुक् में कृष्णल का संयोग नहीं होने से प्राकृत प्रयोजन की निवृत्ति होती है अतएव कृष्णलों उपस्तरणाभिधारण निर्वतित किये जा सकते हैं। इस प्रकार से आप्ति वचन उपपन्न हो जाता है ।।१२।। भक्षों का प्रकृति में होना प्रीति के लिए ही होता है अतएव कृष्णल चरु में वे भक्ष नहीं करने चाहिये ।१३। भक्षण विशेष के दर्शन से विकल्प से हिरण्य का भक्ष होता है। चोदक के द्वारा भक्ष प्राप्त किया जाता है ।१४। चुच्छुषाकार निर्धान अर्थ प्राप्त है और वह भक्ष्यमाण का अनूहित किया जाता है अतः वाक्य भेद नहीं होता है। अथवा आज्य भक्ष का प्रकृति में वचान होता है ।१५। अथवा यह वचन हिरण्य का ही है घृत का नहीं है। यहाँ पर प्रदान के तुल्य चरु का ही भक्षण वचन से सम्बद्ध है। आज्य तो गुणीभूत होता है ।१६। 'एकधा ब्राह्मणे परि हरति'—इस वचन में सहत्व गम्यमान होता है। इस प्रकार से ब्रह्म भक्ष और अब्रह्म

भक्ष का भी परिहार किया हुआ होता है। अन्य पक्ष में किसी ब्रह्म भक्ष का परिहार नहीं किया जाता है। प्रकृति में ये भक्ष विहृत होते हैं। प्राकृत विहृत द्रव्य संस्कारार्थत्व से प्राप्त होते हैं और यह वचन भक्षोपाय विधान के लिए ही होता है।१७। "सर्वं ब्रह्मणे परिहरति'—यहाँ पर सर्वत्व ब्रह्मभक्षों का होना है। ब्रह्म के लिए परिहार होता है। यह तो प्राप्त ही होता है अतः उसका विधान नहीं किया जाता है। इसलिए अधिकृत ब्रह्मभक्षों का यह वाद होता है। ।१८। यहाँ 'वा' शब्द से पक्ष का व्यावर्त्तन किया जाता है। अथवा पुरुषापनय होता है क्योंकि विशेष्य के निर्देशन होने से ब्रह्म शब्द विशेषण नहीं हो सकता है। इसलिए पुरुषों से शेष का अपनय होता हैं।१९। पुरुषापनप को करके शब्द कृतार्थ हो जाया करता है और फिर वह भक्षणों के स्वकालता को निवारित नहीं करता है। इसलिए यथाकाल में ही भक्षण करना चाहिये।२०।

एकार्थत्वादविभागः स्यात् ।२१। ऋत्विग्दानं धर्ममात्रार्थं स्याद्ददातिसामर्थ्यात् ।२२। परिक्रयार्थं वा कर्मसंयोगाल्लोकवत् ।२३। दक्षिणायुक्तवचनाच्च ।२४। न चान्येनाऽऽनम्येत परिक्रयात्कर्मणः परार्थत्वात् ।२५। परिक्रीतवचनाच्च ।२६। संनिवप्ये च भृतिवचनात् ।२७। नैष्कर्तृकेण संस्तवाच्च ।२८। शेषभक्षाश्च तद्वत् ।२९। संस्कारो वा द्रव्यस्य परार्थत्वात् ।३०।

जहाँ बहुतों का सम्बन्ध होता है वहाँ विभाग किया जाता है किन्तु यहाँ तो सब का ब्रह्म के लिए परिहरण होने से एक के लिए सम्पूर्ण चरु होता है। अतएव यहाँ विभाग से कुछ भी प्रयोजन नहीं होता है और यदि वह क्रियमाण भी हो तो प्राकृतार्थ नहीं ।२१। ऋत्विगों को दान धर्मपात्र ही होता है क्योंकि उसकी कर्तव्यता श्रूय-

माण होती है और यह कर्तव्यता "ददाति"—इस शब्द की सामर्थ्य से गम्यमान है।२२। अथवा यह दान कर्म में संयुक्त ऋत्विगों के लिए दक्षिणा कह कर दिया जाता है। जैसे लोक में भी काष्ठवाहक प्रभृतियों को दिया करते हैं। नियत गुण के दान से आनम्यमान ऋत्विक् अभ्युदयकारी हुआ करते हैं। यहाँ दृष्ट प्रयोजन का त्याग कर अदृष्ट की कल्पना नहीं करनी चाहिये।२३। दक्षिणा युक्त-इस वचन रूपी लिङ्ग से भी परिक्रय के लिए ही दान सिद्ध होता है।२४। परिक्रय प्रत्यक्ष आम्नात होता है। अन्तर से परिक्रय में पर परार्थ में प्रवृत्त नहीं होता है। अतएव उसके द्वारा ही परिक्रय करना चाहिये अन्य के द्वारा नहीं।२५। परिक्रीत वचन से यह अर्थ द्योतित होता है कि दीक्षित को अदीक्षित ऋत्विग् दक्षिणा से परिक्रीत होते हुए याजन करते हैं। अतः परिक्रयार्थ ही दान होता है।२६। याज्जा प्राप्त में भृति वचन होता है। यज्ञ देवताओं का नहीं हुआ उसको भृत्यों ने सम्भावित कराया था। भृति कर्म करों को आनति के लिए दी जाया करती है। इससे भी यही सिद्ध है कि परिक्रय के लिए ही ऋत्विगों को दान होता है।२७। नैष्कर्तृक के द्वारा संस्तन होता है। जो दारुहार होता है वह नैष्कर्तृक निष्कर्तन कर्म योग में होता है। जिस प्रकार से यह नैष्कर्तृक होता है वैसे ही ऋत्विजों भी होते हैं।२८। शेषभक्ष भी दक्षिणा दान के ही समान परिक्रयार्थ होते हैं। भक्षण भी प्रीति का जनन करता है और प्रीति से आनमन होता है।२९। अब 'वा' शब्द से अन्य पक्ष का वर्त्तन किया जाता है। दक्षिणा दान भले ही परिक्रयार्थ हो किन्तु भक्षण परिक्रयार्थ नहीं है। यह तो द्रव्य के संस्कारार्थ होता है। यज्ञार्थ से द्रव्य प्रयोजन वाला उत्पन्न होता है यदि उसको संस्कारार्थ भक्षण माना जाता है तो वह भी प्रयोजन वाला हो जायगा। इससे द्रव्य का भक्षण कहा जाता है।

किन्तु भक्षण के लिये द्रव्य का उपादान नहीं किया जाता है। प्रकृत का भक्षण है। इससे संस्कारार्थ है। यह गम्यमान होता है।३०।

शेषे च समत्वात् ।३१। स्वामिनि च दर्शनात्तत्सामान्यादितरेषां तथात्वमां ।३२। तया चान्यार्थदर्शनम् ।३३। वरणमृत्विजामानमार्थत्वात्सत्रे न स्यात्स्वकर्मत्वात् ।३४। परिक्रयश्च तादर्थ्यात् ।३५। प्रतिषेधश्च कर्मवत् ।३६। स्याद्वा प्रासर्पिकस्त धर्ममात्रत्वात् ।३७। न दक्षिणाशब्दात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ।३८। उदवसानीयः सत्रधर्मा स्यात्तदङ्गत्वात्तत्र दानं धर्ममात्रं स्यात् ।३९। न त्वेतत्प्रकृतित्वाद्विभक्तचोदितत्वाच्च ।४०।

जो द्रव्य शेष है वह देवता के लिये सङ्कल्पित है उसका यजमान के द्वारा स्वयं उपयोग नहीं करना चाहिए। उनके उपयोग करने में ऋत्विज भी समर्थ नहीं होते हैं। उसके उपयोग न करने में दोनों ही समान हैं। इससे परिक्रयार्थ भक्षण का न होना ही सिद्ध होता है। ।३१। स्वामी में भक्षण दिखाई देता है क्योंकि इडा भक्षण का वचन है। उस की समानता होने से इतरों का भी परिक्रय नहीं होता है। इस से भी यह सिद्ध है परिक्रयार्थ भक्षण नहीं होता है ।३२। इस प्रकार से यह अन्यार्थ दर्शन उपपन्न होता है क्योंकि सत्रों में भक्षण दिखलाई देता है। यदि उसे परिक्रयार्थ मान लेवें तो यह वहाँ अवकल्पित नहीं होता है ।३३। सत्रों में ऋत्विजों का वरण नहीं होता है। द्वादशाह प्रभृति सत्र होते हैं। वहाँ उनका कर्म स्वार्थ होता है। अपने आपका कोई वरण नहीं किया करता है। प्रकृति में तो आनमनार्थ वरण दृष्ट प्रयोजन वाला है ।३४। तादर्थ्य होने से ही परिक्रय किया जाता है। सत्रों में गो वस्त्र और हिरण्य आदि कुछ भी नहीं दिया जाता है। उसके बिना परिक्रय की अवकल्पना नहीं हो

सकती है क्योंकि वहाँ परार्थ न होकर वह आत्मार्थ होते हैं ।३५। प्राप्ति होने पर ही कर्म की भाँति प्रतिषेध अवकल्पित हुआ करता है। यह जो कहा गया है उसका परिहार कर देना चाहिए ।३६। अथवा प्रासर्पिक दान का प्रतिषेध होता है क्योंकि सूत्रों में धर्म मात्र ही होता है। वह निवृत्त हो जाता है अतएव प्रतिषेध उपपन्न होता है ।३७। दक्षिणा शब्द के होने से उसका ही प्रतिषेध होता है प्रासर्पिक का नहीं होता है। ऋत्त्विग्दान दक्षिणा है। वह प्रासर्पिक नहीं है। सत्र तो दक्षिणाहीन हुआ करते हैं। इससे नित्य प्राप्त का ही यह अनुवाद है सत्रों में दक्षिणा नहीं है ।३८। दक्षिणादान सत्र का अङ्ग होता है। साङ्ग सत्र का स्वयं कर्त्ता होने से वहाँ पर दक्षिणा का दान धर्म मात्र ही होता है क्योंकि सत्र धर्मा उदवसनीय होता है। ।३९। 'तु' शब्द के द्वारा यहाँ पक्ष का व्यावर्त्तन करते हुए कहा जाता है कि यहाँ दान धर्म मात्र ही नहीं होता है अपितु यह परिक्रयार्थ होता है क्योंकि वह विभक्त करके चोदित किया जाता है। यह सत्र का अङ्ग नहीं होता है और यह सत्र प्राकृतिक भी नहीं है ।४०।

तेषां तु वचनाद्द्वियज्ञवत्सहप्रयोगः स्यात् ।४१। तत्रा-न्यानृत्विजो वृणीरन् ।४२। एकैकशस्त्वविप्रतिषेधात्प्रकृते-श्चैकसंयोगात् ।४३। कामेष्टौ च दानशब्दात् ।४४। वचनं वा सत्रत्वात् ।४५। द्वेष्ये चाचोदनाद्दक्षिणापनयः स्यात् ।४६। अस्थियज्ञोऽविप्रतिषेधादितरेषां स्याद्विप्रतिषेधादस्थ्नाम् ।४७। यावदुक्तमुपयोगः स्यात् ।४८। यदि तु वचनात्तेषां जपसंस्कारमर्थलुप्तं सेष्टि तदर्थत्वात् ।४९। क्रत्वर्थं तु क्रियेत गुणभूतत्वात् ।५०।

सत्र से उठ कर पृष्ठ शमनीय सहस्र दक्षिणा वाला ज्योतिष्टोम के द्वारा यजन करना चाहिये। इस वचन से यह अर्थ समधिगत होता

है कि सत्रांग पृष्ठ शमनीय नहीं है। दो यज्ञों की भांति संहत करके पृष्ठ शमनीय करना चाहिए।४१। सत्र में रहने वाले ही ऋत्विजों का वरण करना उचित है या अन्य ऋत्विज होने चाहिए ? इस संशय के निवारार्णार्थ सिद्धान्त बताया जाता है कि अन्य ऋत्विजों का ही वरण करना चाहिए।४२। संहत करके पृष्ठ शमनीय का प्रयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु एक — एक का ही प्रयोग करे क्योंकि इसमें कोई विप्रतिषेध नहीं होता है और प्रकृति का एक से संयोग होता है।४३। जिस तरह पृष्ठ शमनीय में दान परिक्रयार्थ होता है वैसे ही 'च' शब्द के अन्वादेश से यहाँ कामेष्टि में भी होता है, क्योंकि दान शब्द का प्रयोग किया गया है।४४। यहाँ 'वा' शब्द से व्यावर्त्तित पक्ष यह है कि सत्र होने से दान का वचन धर्म मात्र ही हो सकता है क्योंकि वहाँ आनति से कोई प्रयोजन नहीं है।४५। और द्वेष्य में धर्म मात्र ही दान होता है—यहाँ च शब्द से अन्वादेश किया जाता है क्योंकि यहां द्वेष्य ऋत्विज का चोदना भाव होता है। द्वेष्य ऋत्विज कभी नहीं होता है। यदि परिक्रयार्थ है तो दक्षिणा का अपनय हो जाता है। इसलिये एक दायन का दान धर्म मात्र ऋत्विज को देना चाहिये।४६। अन्य जीवितों का अस्थि यज्ञ होता है। अस्थियों का विप्रषेध होता है क्योंकि त्याग मन से किया जाता है और अस्थियों का मन नहीं होता है। अस्थियों से लक्षरण के द्वारा आस्थिमान् लक्षित होते हैं।४७। वचन के प्रामाण्य से यह कर्म यजमान स्वरूप वाला होता है। जितने में वह वचन है उतने ही में वह हो सकता है। वह सब यजमान को लक्षित नहीं कर सकता है। अतः जीवितों का ही यज्ञ होता है। ।४८। यदि वचन से अस्थियों का यज्ञ होता है तो उनका इष्टि के साथ जप संस्कार नहीं करना चाहिए। तदर्थ होने के कारण इष्टि उस समय लुप्त हो जाती है। दीक्षा ग्रहण करने के लिये ही संयोग से

इष्टि जानी जाती है ।४९। यजमान के गुणभूत होने से क्रतु के लिये तो एवं जातीयक को करना चाहिए क्योंकि अचेतन अस्थियों की सब क्रियाओं में स्वतन्त्रता नहीं होती है ।५०।

काम्यानि तु न विद्यन्ते कामाज्ञानाद्यथेतरस्यानुच्यमानानि ।५१। ईहार्थाश्चाभावात्सूक्तवाकवत् ।५२। स्युर्वाऽर्थवादत्वात् ।५३। नेच्छाभिधानात्तदभावादितरस्मिन् ।५४। स्युर्वा होतृकामाः । ५५। न तदाशीष्ट्वात् ।५६। सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ समापनं न विद्यते कर्मणो जीवसंयोगात् ।५७। स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।५८। गते कर्मास्थियज्ञवत् ।५९। जीवत्यवचनमायुराशिषस्तदर्थत्वात् ।६०।

एवं जातीयक काम्य नहीं नहीं करने चाहिए । यद्यपि चोदक के द्वारा प्राप्त होते हैं किन्तु अस्थियाँ वहाँ कुछ भी कामना नहीं करती है । ये पदार्थ यजमान काम निमित्तक होते हैं और यजमान के कामयमान होने से कोई यहाँ पर प्रयोजन नहीं होता है । यज्ञ मान का काम विद्यमान होते हुए भी अनुच्यमान नहीं होता है ।५१। ईहार्थ जो काम सूत्र वाक में श्रूयमाण है वे भी नहीं होते हैं क्योंकि कामयिता का वहाँ अभाव होता है । ईहाथ सूक्त वाकार्ह है । यहाँ अर्हार्थ में वति प्रत्यय देखना चाहिए ।५२। अथवा अर्थवाद होने से उनकी क्रिया को चोदक प्राप्त कराता है । ये विधियाँ नहीं हैं किन्तु अर्थवाद हैं । इससे यह देखा जाता है कि ईहार्थ काम करने ही चाहिए ।५३। ये काम इच्छाभिधान हैं अर्थात् इच्छा के उत्पन्न होने पर ही प्रयुक्त होते हैं तथा जीवित में ही ये काम होते हैं इतर अस्थियों में मनके न होने से नहीं होते हैं अतएव ईहार्थ काम नहीं करने चाहिए ।५४। अस्थियों के होतृ काम करने चाहिए क्योंकि वहाँ चोदकानुग्रह होतो है ।५५। यज्ञ में ऋत्विज यजमान की ही आशीष्ट चाहते हैं । आशीष्ट

यजमान की विषयता को दिखाते हैं। यहाँ यजमान नहीं है केवल अचेतन अस्थियां ही है और उनमें कामना—सामर्थ्य नहीं है अतएव अस्थियों के होतृ काम नहीं करने चाहिए ।५६। यजमान की सर्वस्वार दिष्टगति होने पर समापन नहीं होता है क्योंकि कर्म का जीव से संयोग होता है। वह जीवित होते हुए किया जा सकता है। अतः यह अर्थ से आता है कि सर्वस्वार से दिष्टगत्यन्त यजन करे ।५७। अथवा उसकी परिसमाप्ति होती है क्योंकि क्रतु और परिसमाप्ति ये दोनों ही प्रत्यक्ष शिष्ट हैं। आरम्भ करके परिसमाप्त करना चाहिए, यह आख्यातार्थ होता है। इसलिये समाप्ति को तो आख्यात के द्वारा ही कहा गया है। यह आम्नात भी किया गया है ।५८। यजमान को दिष्टगति प्राप्त होने पर अस्थियज्ञ की भाँति कर्म हो जायगा। जिस तरह अस्थियज्ञ में क्रतु के लिये किया जाता है अन्य अस्थियों से नहीं। इसी प्रकार से दिष्टगति को प्राप्त होने पर क्रत्वर्थ शव के द्वारा कराना चाहिए ।५९। जीवित में आयु के आशीष का वचन नहीं कहना चाहिए क्योंकि आशीष का वह ही अर्थ होता है। जहाँ यजमान आयु की आशा करता है वहाँ पर ही प्रयोग करना चाहिए और यदि विपरीत अर्थात् मरण कामना वाला यजमान हो तो वहाँ आयु का आशीष प्रयुक्त नहीं करना चाहिए ।६०।

वचनं वा भागित्वात्प्राग्यथोक्तात् । ६१ । क्रिया स्याद्धर्ममात्राणाम् । ६२ । गुणलोपे च मुख्यस्य । ६३ । मुष्टिलोपात्तु सङ्ख्यालोपस्तद्गुणत्वात्स्यात् । ६४ । न निर्वापशेषत्वात् । ६५ । सङ्ख्या तु चोदनां प्रति सामान्यात्तद्विकारः; संयोगाच्च परं मुष्टेः । ६६ । न चोदनाभिसम्बन्धात्प्रकृतौ संस्कारयोगात् । ६७ । औत्पत्तिके तु द्रव्यतो विकारः स्यादकार्यत्वात्

।६८। नैमित्तिके तु कार्यत्वात्प्रकृतेः स्यत्तदापत्तेः ।६९।
विप्रतिषेधे तद्वचनात्प्राकृतगुणलोपः स्यात्तेन कर्मसंयोगात् ।६०।

आयु का आशीष् भागी होने से आयु का आशीष् वचन करना ही चाहिए। आर्भव काल से पूर्व यजमान आयु की आशा करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ पर भी आयु का आशीष् कहना ही चाहिये ।६१। जो वरण अथवा दान धर्म मात्र ही है और आनर्थक्य नहीं होता है वह स्वयं कर्त्तृक में भी विरोध को प्राप्त नहीं होता है। इससे चोदकानुग्रह के लिये क्रिया होती है ।६२। प्रधान निर्वाप है और गुण अग्नि होत्र हवनी है। गुण के लोप हो जाने पर मुख्य निर्वाप की क्रिया करनी चाहिये ।६३। संख्या मुष्टि का गुण है। मुष्टिका लोप होने पर ही उसकी अधिकरण स्वरूप संख्या आधाराभाव होने से निवृत्त हो जाती है क्योंकि वह उसका गुण होती है। मुष्टि की निवृत्ति नहीं होती है ।६४। मुष्टि गुण वाला और संख्या गुण वाला निर्वाप निर्दिष्ट किया जाता। 'चतुरो निर्वपति' यह श्रूयमाण होता है। यहाँ क्रिया सम्बन्ध में द्वितीया है। यह कारक विभक्ति हैं और कारक क्रिया का ही होता है द्रव्य का नहीं होता। चार की सख्या श्रुति से निर्वाप की है वाक्य के द्वारा मुष्टि की होती है। वाक्य से श्रुति बलवती है। अतः मुष्टि लोप ही होता है ।६५। चोदना के प्रति संख्या सामान्य होती है। संख्या परिच्छेद करती हुई परिच्छेदि का संख्या का ही निर्वर्त्तिका हो सकती है किन्तु शराब द्रव्य मुष्टिका निवर्तक संयोग से होता है। इससे यह तात्पर्य है कि प्राकृती संख्या प्रकृत द्रव्य की निर्वर्त्तिका होती है ।६६। प्रकृति में निर्वाप संस्कार से सम्बद्ध चार की संख्या है और मुष्टि द्रव्य है। वहाँ पर चार की संख्या के अनुग्रह से मुष्टि लोप अधिक न्याय्य होता है ।६७। उत्पत्ति से ही जाति विशिष्ट गुण शब्द में द्रव्य से विकार होता हैं। द्रव्य भी

विकृत होता है केवल गुण ही नहीं क्योंकि वह अकार्य है। चोदक की अपेक्षा से प्रत्यक्ष जाति का त्याग नहीं किया जा सकता है। इससे गो धेन्वादि ही होंगी।६८। श्वेत गुण निमित्तक द्रव्य में श्वेत शब्द के होने पर गुणमात्र का ही विकार होता है क्योंकि यहाँ जाति विशिष्ट द्रव्य प्रतीत नहीं होता है। इससे प्रत्यक्ष भी श्वेत शब्द छाग को ही परिछिन्न करता है अन्य पशु को नहीं करता है।६९। खले वाती से यूप को विधान के वचन से विप्रतिषेध में प्राकृत गुण का लोप होता है और उसके साथ कर्म का संयोग होता है। जिस जाति के वृक्ष की खले वाती की गई है उसी जाति के वृक्ष को यूप के कार्य में नियोग करना चाहिए। इससे खदिरादि का कोई नियम नहीं है।७०।

परषां प्रतिषेधः स्यात्।७१। प्रतिषेधाच्च।७२। अर्थाभावे संस्कारत्वं स्यात्।७३। अर्थेन च; विपर्यासे तादर्थ्यात्तत्त्वमेव स्यात्।७४।

तक्षण—जोषण और उच्छ्रयण आदि का ही प्रतिषेध होता है। यहाँ यूप से कोई प्रयोजन ही नहीं है। इससे तक्षणादि नहीं करने चाहिए।७१। जो काष्ठ खल में वारण प्रवृत्त है वह खलेवाती है। वैसी ही का उपादान करना चाहिए। यदि उसका तक्षण किया जाता है तो वह नष्ट हो जायगी और द्रव्यान्तर बन जायगा।७२। कार्याभाव होने पर यदि खले वाली का उन संस्कारों से कार्य नहीं होता है तो भी खलेवती का उपहनन नहीं करते हैं। इसलिये वे कर्त्तव्य ही हैं। क्रियमाण वे अधिक गुण के लिये ही होंगे किसी दोष के लिये नहीं।७३। धानों का हनन करने पर धानात्व का विहनन हो जाता है और सक्तु हो जाते हैं। गुण के लोप होने पर भी मुख्य क्रिया होता है। इससे पहिले हन्ति करके ही पीछे पाक करना चाहिए

वहाँ पर हन्ति पाकार्थ किया जाता है। वह उसके धानात्व को नष्ट नहीं करता है ।७४।

।। द्वितीय पाद समाप्त ।।

तृतीय पाद

विकृतौ शब्दत्त्वात्प्रधानस्य; गुणानामधिकोत्पत्तिः सन्निधानात् । १ । प्रकृतिवत्त्वस्य चानुपरोधः । २ । चोदना-प्रभुत्वाच्च । ३ । प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं तथाभूतमपूर्वं स्यात्तस्य विध्युपलक्षणात्सर्वो हि पूर्ववान्विधरविशेषात्प्रवर्तितः । ४ । न चांगविधिरनंगे स्यात् । ५ । कर्मणश्चैकशब्द्यात् सन्निधाने विधेराख्या संयोगो; गुणेन तद्विकारः स्याच्छब्दस्य विधिगामित्वाद्गुणस्य चोपदेश्यत्वात् । ६ । अकार्यत्वाच्च नाम्नः । ७ । तुल्या च प्रभता गुणे । ८ । सर्वमेवं प्रधानमिति चेत् । ९ । तथाभूतेन संयोगाद्यथार्थ विधयः स्युः १० ।

विकृति में उस—उस में शब्दवत्प्रधान हैं, अङ्ग नहीं हैं। इस से अग्निषोमीय आदि में गुण कर्मों की अधिक उत्पत्ति होती है और उनके द्वारा ही वे साङ्ग होते हैं। इस से प्राकृती इति कर्त्तव्यता प्राप्त नहीं होती है। वह प्रकृति में सन्निहित होती अतः सन्निहित प्रकृति को अतिक्रमण नहीं करेगी ।१। इस प्रकार से प्रकृतिवत् इस कल्पना को उपरोध नहीं होता है और वह चोदक शब्द दूर में रहने वाली और अनेक वाक्यों से व्यवधान वाली प्रकृति की अपेक्षा नहीं करेगा ।२। इनकी चोदना प्रभुत्व में सामर्थ्य होती है अतः ये शब्द कर्म के चोदक है। इति कर्त्तव्यता प्राप्त नहीं होती है ।३। प्रधान प्राकृत अङ्ग

संयुक्त है और तथा भूत अपूर्व भी वैकृत होता है। कुछ वैकृत कर्मों में उस प्राकृत कर्म की विधि उपलब्धित की जाती है। इससे सब वैकृत विधि प्रकृति पूर्वक है। अवशेष से प्रवर्त्तित होकर चोदक से अवगम्यमान होती है। इससे इति कर्तव्यता को प्राप्त होने पर ये गुण विधि हैं।४। अनङ्ग कर्म में अङ्ग की विशेष विधि नहीं होती है। जिससे पुत्र ही नहीं होता है उस पुत्र के क्रीड़न (खिलौने) भी नहीं किये जाते हैं। इसलिए यहाँ भी प्रस्तर की आश्व वालता का विधान नहीं किया जाता है। यह गुण विधियाँ हैं।५। वहाँ दूसरा विशेष यह कि प्रधान कर्म और गुण कर्म की एक शब्दता होती है। एक प्रयोग वचन के शब्द से अङ्ग प्रधान कहे जाते हैं। इसलिए प्रधान वचन से अंग सन्निहित हैं। उन सन्निहितों में गुण विधि का नाम ग्रहण करके अभिसम्बन्ध होता है। इस प्रकार से सर्वत्र याग में गुण से तद्विकार होता है। शब्द प्रयाजादि विधि का गामी है और गुण उपदेश करने के योग्य हैं। इससे इति कर्तव्यता प्राप्त होती है।।६।। इन प्रसिद्ध नाम वालों का उच्चारण गुण विधान के लिए ही होता है। इससे से भी इति कर्तव्यता प्राप्त होती हैं और ये गुण विधियाँ हैं।७। आख्यात शब्दों की प्रभुता तुल्य होती है। जो गुण वचन सहित गुण और कर्म का विधान कर सकते हैं वे केवल गुण का भी विधान कर सकते हैं। जो पाषाण भक्षण करता है उसके लिए मुग्दश ठकुली तो साधारण बात है। इससे गुण विधि ही है।८। इस आख्यात शब्द से गुण का विधान यदि माना है तो ऐसा होने पर आख्यात शब्द वाच्य होने से सभी प्रधान हो जायगा।६। जो स्वभाव से गुण-भूत है वह आख्यात शब्दाभिवान से प्रधान भूत नहीं होता है। ऐसा संयोग होने से यथार्थ विधियाँ हो जयेंगी। अतः जो प्रधान है वह प्रधान नहीं है और गुणभूत गुणभूत हो होता है।१०।

विधित्वं चावशिष्टं वैकृतेः कर्मणा योगात्तस्मात्सर्वं प्रधानार्थम् ।११। समत्वाच्च तदुत्पत्तोः संस्कारैरधिकारः स्यात्।१२। हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मंत्रालिङ्गात् ।१३। प्रकृत्यनुपरोधाच्च ।१४। उत्तरस्य वा मन्त्रार्थित्वात् ।१५। विध्यतिदेशात्तच्छ्रुतौ विकारः स्याद्गुणानामुपदेश्यत्वात् ।१६। पूर्वस्मिश्चामन्त्रदर्शनात् ।१७। संस्कारे तु क्रियांतरं तस्य विधायकत्वात् ।१८। प्रकृत्यनुपरोधाच्च ।१९। विधेस्तु तत्र भावात्सन्देहे यस्य शब्दस्तदर्थं स्यात् ।२०।

जो विधित्व है वह विशेषता से रहित ही होता है। प्राकृतों का वैकृतों के साथ अर्थवाद कर्म से योग विशेषता को प्राप्त नहीं होता है। इससे इस जातीयक सभी प्रधानार्थ विकृति में गुणभूत होता है। ।११। उत्पत्ति क्रम की समानता होने से जिस क्रम से प्रकृति में प्रयाजानुयाज संस्कारों का अधिकार है उसी क्रम से वह विकृति में दिखाई देता है। इससे सब प्रधान नहीं है कुछ प्रधानार्थ भी होता ।१२। 'हिरण्यगर्भ'—यह मन्त्र का लिंग होने से पूर्व आधार की गुण विधि है। यह मन्त्र प्रजापति का अभिवदन कर सकता है और प्राजापत्य पूर्व आधार होता है। अतएव यह पूर्व की गुण विधि है ।१३। प्रकृति के अनुरोध होने से भी यह पूर्व की गुण विधि ही है ।१४। 'वा'—इस शब्द से पक्ष को व्यावर्त्तित किया जाता है कि यह पूर्व की गुण विधि नहीं अपितु उत्तर ही गुण विधि है। यहाँ यह वाक्य मन्त्र के कार्य विशेष का विधायक है किन्तु मन्त्र के कार्य सामान्य का नियामक नही है ।१५। आधार श्रुति में यह गुण विधि उपदिष्ट होती है वह उस मन्त्र का विकार होता है। उपदेश्य मन्त्र विशेष यहाँ उत्तर आधार में है और वह उत्तर में अङ्गभूत तदर्थ विज्ञान का साधक है पूर्व में नहीं है। इससे उत्तर में गुणविधि होती है ।१६। पूर्वाधार

में अनन्त्रत्व को दिखाता है और स्वाहा यह नहीं करता है तथा मन्त्र भी नहीं कहा है। अतः उत्तर की गुण विधि सिद्ध होती है।१७। सौमिक चातुर्मास्यों में प्राकृतासाद न नियोजन होते हैं वहाँ पर यह संशय होता है कि क्या आसादनान्तर यह है या नियोजनान्तर है अथवा प्राकृत आसादन नियोजनों में गुण विधि है। वहाँ यह भी विचारणीय है कि आसादन-नियोजन धर्म मात्र है या इष्ट कार्य है? यदि धर्म मात्र क्रियान्तर है तो आसादन-नियोजन का विधान किया जायगा और वह श्रुति विहित होगा अन्यथा वाक्य विधायक हो जायगा। आधार में जैसे गुण विधि है वैसे इस आसादन नियोजन नाम वाले संस्कार में नहीं है।१८। प्रकृति के अनुपरोध होने भी यह क्रियान्तर होता है आसादन-नियोजन विधि को वहाँ इष्ट होने से कर्मान्तर विधानयुक्त नहीं है। जिस गुण का चोदक शब्द है तदर्थतया उसका उच्चारण होता है। इससे यह गुण विधि है ।।२०।।

संस्कारसामर्थ्याद् गुणसंयोगाच्च ।२१। विप्रतिषेधात्क्रिया प्रकरणे स्यात् ।२२। षड्भिर्दीक्षयतीति, तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयोगात् ।२३। अभ्यासात्तु प्रधानस्य ।२४। आवृत्या मन्त्रकर्म स्यात् ।२५। अपि वा प्रतिमन्त्रत्वात्प्राकृतानामहानिः स्यादन्यायश्च कृतेऽभ्यासः ।२६ पौर्वापर्यंश्चाभ्यासे नोपपद्यते नैमित्तिकत्वात् ।२७। तत्पृथकत्वं च दर्शयति ।२८। न चाविशेषाद्व्यपदेशः स्यात् ।२९। अन्यधेयस्य नैमित्तिके गुणविकारे दक्षिणादानमधिकं स्याद् वाक्यसंयोगात् ।३०।

पृथ्वग्रता से स्थविन् गुण के साथ संयोग होने से और आसादन नियोजन संस्कारों की सामर्थ्य से कर्मान्तर नहीं होता है।२१। सौत्रामणी प्रकरण में विप्रतिषेध होने से इष्ट कार्य वाला आसादन नहीं

किया जा सकता है। इसीलिए वहाँ क्रियामात्र अदृष्ट कायक होता है किन्तु यहाँ वैसा नहीं होता है। इसलिए गुणविधि ही हैं।२२। "षड् भिर्दीक्षयति"—यहाँ पर उन प्राकृती आहुतियों का मन्त्र विकार होता है। वैकृत मन्त्रों से प्राकृत निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि वैकृतियों का प्रत्यक्ष श्रुति संयोग होता है। अतः प्राकृतों का बाध है समुच्चय नहीं है।२३। समुच्चय में प्रधान की आवृत्ति होती है। वहाँ कोई दोष नहीं होता क्योंकि प्रधान होम की आवृत्ति श्रूयमाण होती है। अतः सम्भव होने से समुच्चय हैं।२४। यहाँ सम्भव नहीं होता है क्योंकि वैकृत छै मन्त्र अग्नि में प्राकृत होमों में प्रत्यक्ष श्रवण से विधान किये जाते हैं। प्रत्यक्ष श्रुत वैकृतों के द्वारा चोदक प्राप्त प्राकृत बाधित हो जाते हैं। इस से आवृत्ति से मन्त्र कर्म होता है।२५। प्रति मन्त्र में आहुतियाँ होती हैं और अभ्यास द्वादशता भी है। प्राकृत मन्त्र भी चोदक के द्वारा प्राप्त होते हैं और वैकृत भी श्रवण द्वारा होते हैं। दोनों ही प्राकृत एवं वैकृत सन्निहित हैं। अतः प्राकृत मन्त्रों का अहान होता है। उनके द्वारा एक बार दीक्षित अर्थ के कृत होने पर फिर अभ्यास न्याय्य नहीं होता है।२६। केवल वैकृतों की पूर्वापरता उपपन्न नहीं होती है क्योंकि यह तो नैमित्तिक होती है। पूर्व निमित्त उत्तर शब्द है और उत्तर निमित्त पूर्व शब्द होता है। इससे भी प्राकृतों का अहान होता है।२७। उन आहुतियों का प्रथक्त्व दिखाते हैं। इसलिए अनिवृत्ति समुच्चय है।२८। व्यपदेश होने से अनिवृत्ति समुच्चय होता है। कोई विशेष न होने पर समुच्चय में व्यापदेश अवकल्पित होता है।२९। अग्न्याधेयक नैमित्तिक होने पर फिर आधेय से दक्षिणा दान अधिक होता है क्योंकि वहाँ वाक्य का संयोग होता है। इसलिए अनिवृत्ति समुच्चय है।३०।

शिष्टत्वाच्चेतरासां यथास्थानम् ।३१। विकारस्त्वप्रकरणे हि काम्यानि ।३२। शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि

श्रूयते ।३३। वासो वत्सश्च सामान्यात् ।३४। अर्थापत्तेस्तद्धर्मः स्यान्निमित्ताख्याभिसंयोगात् ।३५। दाने पाकोऽर्थलक्षणः ।३६। पाकस्य चान्नकारितत्वात् ।३७। तथाभिधारणस्य ।३८। द्रव्य विधिसन्निधौ सङ्ख्या तेषां गुणत्वात्स्यात् ।३९। समत्वात्तु गुणानामेकस्य श्रुतिसंयोगात् ।४०।

प्राकृतियों का वचन प्रामाण्य होने से यथास्थान समुच्चय होता है। यह शासन प्रत्यक्ष है। इसलिए प्राकृतियों का बाध समुच्चय नहीं होता है।३१। 'तु' शब्द से यहां पक्ष को व्यावर्तित करते हैं। समुच्चय नहीं होता है किन्तु विकार है। प्रकरण न होने पर आम्नान अवकल्पित होता है। इससे प्राकृतियों की निवृत्ति होती है।३२। निवृत्ति की आशङ्का के देखने से उभयत्व श्रूयमाण होता है। अग्न्याधेपिकी अग्न्याधेय में और पुनराधेयिकी पुनराधेय में होती हैं। इससे प्राकृतियों की ही निवृत्ति सिद्ध होती है।३३। वास दक्षिण और प्रथमज वत्स दक्षिणा कार्य सामान्य से होती है। यहां च शब्द से अन्वादेश किया जाता है। कार्य सामान्य से अन्वाहार्य की निवृत्ति होती है। दक्षिणा कार्य में प्रकृति में अन्वाहार्य होता है। यहाँ वासोवत्स उस कार्य में है क्योंकि दक्षिणा शब्द का श्रवण होता है। इस से समुच्चय नहीं-निवृत्ति है।३४। अर्थापत्ति में तद्धर्मा वत्स है और तद्धर्मक वास है। यहाँ निमित्तता से आख्यान करके परिक्रय से दक्षिणा शब्द है और उसके साथ अभिसंयोग होता है। इससे वासोवत्स दोनों अन्वाहार्य धर्म वाले होते हैं।३५। वत्स के दान में पाक नहीं करना चाहिये क्योंकि अपक्व ही वत्स, वत्स होता है। वत्स ही श्रूयमाण होता है मांस नहीं होता है। वह भी परिक्रय के लिए श्रूयमाण है पुरुष संस्कार के लिए नहीं होता है। अश्रुत प्राणि वध आचार के विरुद्ध होता है।३६। पाक तो अन्न का ही किया जाता है और

वास अन्न नहीं है । इसलिए उसका पाक नहीं किया जा सकता है । इससे पाक नहीं करना चाहिये ।३७। अन्वाहार्य में अभिधारण स्वाद के लिए की जाती है । स्वादिमा ओदन के परिक्रय में उपकार करती है । वास और वत्स में स्वादिमा से कोई प्रयोजन नहीं है । इसलिए वहाँ अभिधारण नहीं होता है ।३८। गवादि द्रव्यों के विधीयमान होने पर दक्षिणा के सम्बन्ध से संख्या समाम्नात होती है । संख्या गुण से विधीयमान है और गवादि का प्रधानतया होता है । प्रधान की सन्निधि में शिष्यमाण गुण प्रतिप्रधान भिन्न होता है ।३९। गवादि दक्षिणा से सम्बद्ध हैं । संख्या भी सम्बद्ध होती है । दक्षिणा ही संख्या से विशिष्ट चोद्यमान होती है गवादि नहीं है । क्योंकि संख्या का दक्षिणा से अभिसम्बन्ध न होने पर सत्य नियत संख्या वाली गवादि की संख्या की दक्षिणा सम्बन्ध से अनर्थकता हो जायगी इसलिए एक की ही संख्या होती है । एक-एक की नहीं है । इस प्रकार से एक वचन का श्रवण युक्त ही होता है ।४०।

यस्य वा सन्निधाने स्याद्वाक्यतो ह्यभिसम्बन्धः ।४१। असंयुक्तास्तु तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते, तस्मात्सर्वाधिकारः स्यात् ।४२। असंयोगाद्विधिश्रुतावेकजाताधिकारः स्याच्छ्रुत्या-कोपात्क्रतोः ।४३। शब्दार्थश्चापि लोकवत् ।४४। स पशूनामुत्पत्तितो विभागात् ।४५। अनियमोऽविशेषात् ।४६। भागित्वाद्वा गवां स्यात् ।४७। प्रत्ययात् ।४८। लिङ्गदर्श-नाच्च ।४९। यत्र दानं विभागेन प्रदानानां पृथक्त्वात् ।५०।

जिस शब्द के सन्निधान में संख्या शब्द उच्चारित होता है वह अर्थ संख्या विशिष्ट प्रतीत होती है । अनन्तर में उच्चरित के साथ एक वाक्यता होती है क्योंकि अनन्तर सम्बद्ध विशेषण विज्ञान को विशिष्ट कर सकता है । व्यवहित को नहीं करता है ।४१। असंयुक्त संख्या

केवल माषों से होती है। तुल्यवत् इतर द्रव्य श्रुतियों से माष श्रूयमाण होते हैं। इस से समुच्चित अथवा इत तेरत युक्त संख्येय संख्या में संबद्ध होते हैं। अथवा इनका समाहार संख्या से युक्त है। इस से सबके द्वारा संख्या सम्पादित करनी चाहिये। संख्या सम्बन्ध होने पर कोई वर्जित नहीं होगा। इससे गवादि राशि इस संख्या से सम्बद्ध होनी चाहिये।४२। असंयोग से विधि श्रुति में सर्व सम्पादन में सम्बन्ध नहीं है। गवादि की राशि की संख्या होती है—ऐसा श्रूयमाण नहीं होता है। गवादि राशि शब्द से भी निर्दिष्ट नहीं की जाती है। इससे एक जाताधिकार होता है। इस प्रकार से एक श्रुतिकोपिता नहीं होगी। इस प्रकार से अप्रवृत्ति विशेष की करने वाली प्रकरण वश में क्रतु की कल्पिता होगी। इससे एक जातीय की द्वादश शत दक्षिणा है।।४३।। लोक की भाँति शब्दार्थ भी होता है। लोक में निर्विशेषित संख्या शब्द के उच्चारित होने पर एक जातीय में प्रत्यय होता है क्योंकि अन्यथा व्यवहार की अनुपपत्ति हो जाती है। एक जाति विशेष के न होने पर सर्वत्र अन्यों के साथ परार्ध संख्या निविष्ट होती है और परार्ध का अवान्तर संख्याओं संव्यवहार किया जाता है। यहाँ पर प्रकृत नाना जातीय हैं। उनमें से अन्यतम संख्या से सम्बद्ध होती है। "शतमाभ्यां दीयताम्" इसमें एक जातीयों का ही शत ग्रहण किया जाता है भिन्न जातियों का नहीं होता है।।४४।। वह पशुओं की उत्पत्ति से विभाग होने के कारण होती है अर्थात् पशुगण संव्यवहारों में औत्पत्तिक व्यवहार से संख्यापित हुआ करते हैं। पशु तो सब मुख्य बल प्रकरण में समर्थ होते हैं। उनके होने पर व्रीहि आदि बीज संख्या में संविभक्त नहीं होंगे।४५। जब पशुओं की द्वादश शत है, तब दैवत अनियम होता है। इस प्रकार से अनियम में लाघव हो जायगा। वहाँ पर अधिकार शास्त्र महाविषय होता है।४६। महाभाग गो भाग-

वती हैं क्योंकि महान् उपकार में रहती हैं। इस प्रकार से ऋत्विजों को उपकार की अधिकता होगी। जो उपकार करने वाले हैं उनका प्रत्युपकार करने का सदाचार होता है। महाभागा गौओं की अधिक संख्या दी जाती है। इसलिए द्वादश शत उनकी संख्या कही गई है ॥४७॥ इसलिए प्रत्यय से गौओं की संख्या होती है। संख्या सम्पादन के लिए उपादीयमान प्रकृतों में ग्रन्थोगाय के द्वारा स्मर्यमाणों में पहिले गौयें ही प्रतीत होती हैं।४८। लिङ्ग के द्वारा भी यह अर्थ दर्शित होता है। सहस्र दक्षिणा आदि के कथन का होना ही इसमें लिङ्ग है। इससे भी गौओं की संख्या सिद्ध होती है।४९। प्रदानों के पृथकत्व होने से विभाग न होने पर अपने भाग से सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है। इसलिए विभाग करके ही दक्षिणा देनी चाहिये। अपना स्वत्व को त्याग करके परस्वत्व का आपादान ही दान का स्वरूप है। वह यजमान के द्वारा स्वयं ही करना चाहिये ॥५०॥

परिक्रयाच्च लोकवत् ।५१। विभागं चापि दर्शयति ।५२। समं स्यादश्रुतित्वात् ।५३। अपि वा कर्मवैषम्यात् ।५४। अतुल्याः स्युः परिक्रये विषमाख्या, विधिश्रुतौ परिक्रयान्न कर्मण्युपपद्यते, दर्शनाद्विशेषस्य तथाभ्युदये ।५५। तस्य धेनुरिति गवां प्रकृतौविभक्तं चोदितत्वात्तत्सामान्यात्तद्विकारः स्याद्यथेष्टिगुंणाशब्देन ।५६। सर्वस्य वा क्रतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य, गुणानां कार्यैकत्वादर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात्तया समवायाद्धि कर्मभिः ।५७। चोदनानामनाश्रयाल्लिङ्गेन नियमः स्यात् ।५८। एका पञ्चेति धेनुवत् ।५९। त्रिवत्सश्च ।६०।

जिस प्रकार से लोक में स्वामी, काष्ठवाहादिक को विभाग करके निर्देश किया करता है उसी भाँति यह दान भी परिक्रयार्थ होता

है केवल धर्म नहीं है। अतः विभाग करके ही लोक की भाँति ही यहाँ पर भी विभाग करके दक्षिणा देनी चाहिए।५१। ब्रह्मा—होता, अध्वर्यु, उद्गता, प्रासर्यक इन सब को श्रद्धा के अनुसार देने के विभाग श्रूयमाण होता है और यह विभाग दर्शन उपपन्न भी होता है। अतः विभाग करके ही देना चाहिए।५२। जहाँ पर किसी विभाग का श्रवण नहीं होता है वहाँ पर सम विभाग ही हो सकता है। इसलिये विशेष का श्रवण न होने पर सम भाग ही देना चाहिए।५३। अथवा कर्म कृत वैषम्य भी होता है। जो अधिक कर्म का सम्पादन करता है उसे विशेष दिया ही जाता है। इसलिए यह एक भिन्न पक्ष होता है कि यदि विषमता होती भी है तो वह कर्मों के अनुसार ही होती है।५४। जो कर्म कृत वैषम्य कहा गया है वह उपकार कृत है और वह उपकार श्रुति से जाना जाता है। इस से यह वैषम्य श्रुति-कृत होता है। परिक्रय में अतुल्य होते हैं। किन्तु उनकी आख्या विषम है। कुछ अर्धी कुछ तृतीय और कुछ पादी होते है। यह समाख्या कर्मकृत वैषम्य में परिक्रय से उपपन्न नहीं होती है। अभ्युदय फल में विशेष दिखलाई देता है। इसलिये अर्धी आदि से समाख्यान होने से समाख्या श्रुति कृत वैषम्य हो सकता है।५५। धेनु दक्षिणा के विषय में यह प्रश्न होता है कि वह धेनु गौओं की निर्वतिका है या सम्पूर्ण दक्षिणा की निर्वत्तिका होती हैं। क्या प्रकृति में विभक्त दाक्षिण्य है या समस्त ! यदि विभक्त दाक्षिण्य माना जाता है तो गवादि से दक्षिणा शब्द प्रत्येक में परिसमाप्त होता है। श्रुति से निर्दिष्ट के द्वारा एक वाक्यता न्याय्य होती है। सनिर्वपणकात्म योग से निर्वपण शब्द से ऐष्टिक विध्यन्त नियमित किया जाता है वैसे ही यहाँ पर भी गो का गुण वचन धेनु शब्द से गो दक्षिणा विकार किया जाता है। अन्य दक्षिणा विकृत नहीं की जाती है।५६।

समस्त दक्षिणार्थ का क्रतु के संयोग होने से एकत्व होता है क्योंकि गवादि गुणों का भी दक्षिणात्व एक ही कार्य है। श्रुतिभूत उसके द्वारा समवाय से कर्मों से ऋत्विक्स सम्बद्ध होते हैं। इसलिए समस्त क्रतु दाक्षिण्य की निर्वर्त्तिका धेनु होती है।५७। चोदनाओं का कुछ एक कार्य नहीं है। वैकृती चोदना के आश्रय में किस एक कर्म का वैकृत विध्यन्त कर्म ग्रहण किया जावे? इस में लिंग से नियम करना चाहिए यह अपदिष्ट हेतु है और गवादिका एक दक्षिणात्व ही कार्य हैं। उसमें श्रुतिभूता धेनु चोदक के द्वारा प्राप्तों को निर्वत्तित करने के योग्य होती है।५८। एक और पाँच गौ श्रूयमाण हैं वहाँ चाहे एक हो या पाँच धेनु कृत्स्न की निर्वर्त्तिका होती है। दक्षिणा सम्बन्ध उनका प्रत्यक्ष श्रूयमाण होता है।५९। त्रिवत्स ऋषभ का निवर्त्तक होता है क्योंकि साण्ड श्रवण होने से पुङ्गत्व होता है। इससे कृत्स्न क्रयार्थ का निवर्त्तक होता है।६०।

तथा लिंगदर्शनम् ।६१। एके तु श्रुभूतत्वासङ्ख्या गवां लिंगविशेषेण ।६२। प्राकाशौ च तथेति चेत् ।६३। अपित्ववयवार्थत्वाद्विभक्तप्रकृतित्वाद्गुणेदन्ताविकारः स्यात् ।६४। धेनुवच्चाश्वदक्षिणा, स ब्रह्मण इति, पुरुषापनयो यथा हिरण्यस्य ।६५। एके तु कर्तृसंयोगात्स्रग्वत्तस्यलिंगविशेषेण ।६६। अपि वा तदधिकाराद्धिरण्यवद्विकारः स्यात् ।६७। तथा च सोमचमसः ।६८। सर्वविकारो वा क्रत्वर्थे पशूनां प्रतिषेधात् ।६९। ब्रह्मदानेऽविशिष्टमिति चेत् ।७०।

यदि सब क्रयार्थ की निर्वर्त्तिका स्त्री गौ है तो एकाकिनी वह किसके साथ स्पर्धा करेगी। एक अपना पांच कृत्स्न क्रतु दाक्षिण्य की निर्वर्त्तिका होती है और त्रिवत्स भी निवर्त्तक होता है। इस में लिङ्ग दर्शन है। इस प्रकार से समान श्रुति है। अतः इनकी स्पर्धा

आवृत्त हो जाती है ।६१। संख्या का गो शब्द में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और जो शब्द व्यवधान से दक्षिणा शब्द से परोक्ष सम्बन्ध होता है। यहाँ गो शब्द ही मुख्यार्थ है लिङ्ग विशेष से संख्या गौओं में निवेश करती है ।६२। अतएव कृत्स्न क्रतु दाक्षिण्य के निवर्त्तक आकाश है। यहाँ द्वितीया कारण विभक्ति के सामर्थ्य से ही आख्यान से सम्बद्ध होता है नाम से नहीं ।६३। "अपितु"—इससे पक्ष की व्यावृत्ति करते हैं। प्रकाश दक्षिणा वयव कार्य के लिये ही हैं कृत्स्न दक्षिणा कार्य के लिए नहीं है क्योंकि अध्वर्यु आदि के भाग विभक्त होते हैं। गुण का इदन्ता विकार है। द्वितीया का 'ददाति'—इस से ही सम्बन्ध होता है ।६४। धेनु की भाँति अन्न की दक्षिणा कृत्स्न की निर्वात्तिका होती है क्योंकि उसका दक्षिणा शब्द से सम्बन्ध होता है। वह ब्राह्मण को देय है। जैसे हिरण्य का होता है वैसे ही वाक्य के द्वारा निवृत्ति होने पर पुरुष का अपनय किया जाता है। इससे सिद्ध है कि अश्व कृत्स्न का निवर्त्तक है ।६५। यह जो कहा गया है कि एक लिङ्ग विशेष से कर्तृ सयोग होने से स्रग् की भाँति अर्थ निवृत्त होते है उसका परिहार कर देना चाहिए ।६६। अथवा दक्षिणा के शब्द से दक्षिणा का सधिकार करके अश्व का सम्बन्ध किया गया है अतएव कृत्स्न दक्षिणा विकार अश्व हिरण्यवत् ही होता है स्रग्वत् नहीं होता ।६७। इसी प्रकार से ब्रह्म के संयोग होने से सोम चमस ब्रह्म भाग का निवर्त्तक होता है ।६८। पशुओं के प्रतिषेधानुवाद से क्रत्वर्थ में सोम चमस ही दक्षिणा दी जाती है। इसलिये कृत्स्न का यह निवर्त्तक होता है ।६९। ब्रह्म दान में भी पशु प्रतिषेधानुवाद अवकल्पित होता है यदि ऐसा कहते हैं तो यह नहीं हो सकता है ।७०।

उत्सर्गस्य क्रत्वर्थत्प्रतिषिद्धस्य कर्मत्वान्न च गौणः प्रयोजनमर्थः स दक्षिणानां स्यात् । ७१ । यदि तु ब्रह्मणस्तदूनं

तद्विकारः स्यात् ।७२। सर्वं वा पुरुषापनयात्तासां क्रतुप्रधानत्वात्ः । ७३ । यजुर्युक्तेऽध्वर्योर्दक्षिणा विकारः स्यात् ।७४। अपि वा श्रुतिभूतत्वात्सर्वासां तस्य भागो नियम्यते । ७५ ।

इस सोम चमस का जो उत्सर्ग है वह क्रत्वर्थ होता है। गवादि के समुदाय से दक्षिणा शब्द होता है। सो इस प्रकार से सोम चमस के दान से प्रतिषिद्ध का भी कर्म हो जायगा। जो ब्रह्म भाग है वह दक्षिणा नहीं है वह तो दक्षिणा का अवयव है। अतएव वह गौण है और यहाँ प्रयोजन दक्षिणा का ऋत्विजों का आनमन होता है ब्रह्म दान नहीं होता है।७१। यदि ब्रह्म भाग का निवर्त्तक सोम चमस है तो वह दक्षिणा ब्रह्म भाग से ऊन हो जायगी। इस विकार से अन्य दक्षिणा दी जाया करेगी।७२। दक्षिणाओं में क्रतु प्रधानता होने से पुरुषापनय किया जाता है कि वह ब्राह्मण को ही देना चाहिए।७३। यजुर्युक्त रथ अध्वर्यु को देता है—ऐसा समाम्नात है। यजुर्युक्त में दक्षिणा तो अध्वर्यु का विकार होता है।७४। 'अपिवा'– इस पक्ष का व्यावर्त्तन किया जाता है कि सामान्य वचन से सभी रथ श्रुतिभूत हैं क्योंकि सप्तदश रथ सबको अविशेषतया प्राप्त होते हैं जिनका कि विभाग करना है। वहाँ यह नहीं ज्ञात है कौन रथ किसका है। अतएव वहाँ यजुर्युक्त रथ अध्वर्यु को देता है अन्य को नहीं यह विभाग किया जाता है।७५।

॥ तृतीय पाद समाप्त ॥

चतुर्थ पाद

प्रकृतिलिङ्गासंयोगात्कर्मसंस्कारं विकृतावधिकं स्यात् ।१। चोदनालिङ्गसंयोगे तद्विकारः प्रतीयेत प्रकृतिसन्नि-

धानात् । २ । सर्वत्र तु ग्रहाम्नातमधिकं स्यात्प्रकृतिवत् । ३ । अधिकश्चैकवाक्यत्वात् । ४ । लिङ्गदर्शनाच्च । ५ । प्राजापत्येषु चाम्नानात् । ६ । आमने लिङ्गदर्शनात् । ७ । उपगेषु शरवत्स्यात्प्रकृति लिङ्गसंयोगात् । ८ । आनर्थक्यात्त्वधिकं स्यात् । ९ । संस्कारे चान्यसंयोगात् । १० ।

नारिष्ठादि उप होमों का प्राकृत लिङ्ग कार्य से संयोग नहीं होता है वह तो प्रत्यक्ष दर्शन से अथवा अभाव में विधान से होता है। अतएव कर्म संस्कार विकृति में अधिक होता है । १ । चोदना लिङ्ग के संयोग में उसके विकार की प्रतीति होती है क्योंकि वहाँ प्रकृति लिङ्ग से संयोग होता है। शरमय र्वाह होता है। यहाँ जैसे शर कुशाग्रों का निवर्त्तन करते हैं वैसे ही यहाँ भी होता है ।२। प्रकृति में चोदक के द्वारा प्राप्त ऐन्द्र वायवादि ग्रह हैं । उनका प्रकृति लिङ्ग ग्रह शब्द से संयोग है अतएव वहाँ पर सर्वत्र ग्रहाम्नात अधिक होने के योग्य होता है जैसे प्रकृति है। क्योंकि चोदक भी प्रत्यक्ष श्रवण की भाँति प्रमाण है ।३। इससे यही देखा जाता है कि समुच्चय है क्योंकि निःसदिग्ध अधिक सुराग्रहों के साथ एक वाक्यता होती है क्योंकि ये सप्तदश यह ग्रहण किये जाते हैं ।४। इस समुच्चय के अर्थ को पुष्टि में हेतु का भी दर्शन होता है। विरण्य शब्द यज्ञ क्रतु के लिये आया है और विरण्य शब्द विस्तीर्ण के अर्थ में होता है ।५। प्राजापत्यों में भी समुच्चय होता है। प्राजापत्य पशु होते हैं जिनका आम्नात होता है ।६। आमन में भी समुच्चय होता है क्योंकि वहाँ इस अर्थ को "बहिरात्मा वै प्रयाजानुयाजा" इत्यादि आम्नात लिङ्ग दर्शित करता है ।७। उपगानों शर की भाँति प्राकृत लिंग के साथ संयोग होता है। जिस प्रकार शरमय र्वाह होता है उसी प्रकार से यहाँ भी होता है ।८। यदि वादित्र का उपगान है अथवा वादित्र

ही उपगान हैं दोनों ही प्रकार से प्राकृत से अर्थान्तर में होता है अतएव आनर्थक्य होने से समुच्चय होता है।९। अञ्जन और अभ्यञ्जन संस्कार में प्राकृत के साथ समुच्चय होता है क्योंकि वह अन्य का संयोग होता है। यह अन्य काल कार्यान्तर में होता है।१०।

प्रयाजवदिति चेन्नार्थान्यत्वात्।११-१२। आच्छादने त्वैकार्थ्यात्प्राकृतस्य विकारः स्यात्।१३। अधिकं वाऽन्यार्थत्वात्।१४। समुच्चयं च दर्शयति।१५। सामस्वर्थान्तरश्रुतेरविकारः प्रतीयेत।१६। अर्थे त्वश्रूयमाणे शेषत्वात्प्राकृतस्य विकारः स्यात्।१७। सर्वेषामविशेषात्।१८। एकस्य वा श्रुतिसामर्थ्यात्प्रकृतेश्चाविकारात्।१९। स्तोमविवृद्धौ त्वधिकं स्यादविवृद्धौ द्रव्यविकारः स्यादितरस्याश्रुतित्वात्।२०।

यदि यह कहते हैं प्रयाज की भाँति इसका परिहार कर देना चाहिए तो यह प्रयाजवत् नहीं हो सकता है।११। वहाँ प्रत्यक्ष में कार्यान्तर होता है अतएव अर्थान्यत्व होने के कारण अर्थात् भिन्न प्रयोजन के हेतु से प्रयाजवत् परिहार नहीं होता है। स्नेहन के लिये आदि में नवनीत-विरूक्षीकरण के लिए अभ्यञ्जन गुग्गुलु से होता है।१२। प्राकृत और वैकृत दोनों का एक ही आच्छादन प्रयोजन होता है। इस से वहाँ प्रत्यक्ष श्रुत से चोदक द्वारा प्राप्त होने वाली की निवृत्ति हो जाती है।१३। अन्यार्थ होने से प्राकृत वस्त्र से अधिक हो सकता है और वह ही निवर्तक होता है। यह वृक्ष की व्यावृत्ति करना है। परिछत्तो—यह अवयव सिद्धि से होता है।१४। वासः—इस सब्द का बहु वचनान्त प्रयोग समुच्चय को दिखलाता है।१५। सामों में "श्लोकेन पुरस्तात् स्तुवते" इत्यादि श्रूयमाणों से अर्थान्तर के साथ सम्बन्ध श्रुत होने से प्राकृतों का अविकार प्रतीत होता है। अतएव

यह स्तुत्यन्तर का विधान करता है प्राकृत की निवृत्ति नहीं करता है; समुच्चय है।१६। अर्थ के अश्रूयमाण होने पर तो शेष होने से प्राकृत का विकार होता है। कहीं—कहीं श्रूयमाण होता है सर्वत्र नहीं होता है।१७। प्राकृत साम चोदक के द्वारा प्राप्त होते हैं और प्राकृतों के निवर्त्तक होते हैं। वहाँ विशेष का अभाव होने से सभी सन की निवृत्ति करने वाले हैं।१८। श्रुति की सामर्थ्य होने से एक जहाँ श्रूयमाण है वहाँ एक का ही निवर्तक होता है और प्रकृति का अधिकार होता है। अवशिष्ट प्राकृतों का ग्रहण होता है।१९। स्तोम की विवृद्धि में अनिवृत्ति का अधिक होता है क्योंकि आगम के द्वारा संख्या की पूर्त्ति होती है। जहाँ विवृद्धि नहीं है वहाँ प्राकृत की निवृत्ति है क्योकि इतर की श्रुति नहीं होती है।२०।

पावमाने स्यातां तस्मिन्नावापोद्वापदर्शनात् ।२१। वचनानि त्वपूर्वत्वात् ।२२। विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना ।२३। शेषाणां वा चोदनैकत्वात्तस्मात् सर्वत्र श्रूयते।२४। तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वात् ।२५। प्राकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात्।२६। अविकारो वाऽर्थशब्दानपायात् स्याद् द्रव्यवत् ।२७। आरम्भा समवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वादवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात् ।२८। द्रव्येष्वारम्भगामित्वादर्थेऽविकारः सामर्थ्यात् ।२९। वृधन्वान्पवमानवद्विशेषनिर्देशात् ।३०।

अभी तक यह सिद्ध हुआ कि जो विवृद्ध स्तोमक क्रतु हैं वहाँ अनिवृत्ति और जो अविवृद्ध स्तोमक हैं वहाँ निवृत्ति होती हैं किन्तु कहीं पर अवाप और कहीं उद्वाप होता है और पवमान में अवापोद्वाप दोनों ही हैं वहाँ क्या होता है—इस सन्देह की निवृत्ति करने के लिये कहते हैं

कि विशेषता के अभाव होने से वहाँ कोई नियम नहीं है ।२१। न्याय के होने पर ये वचन ही कल्पित किये जाते है । इससे पवमान में ही अवापोद्वाप स्थान है ।२२। अग्नि शब्द के द्वारा जो कि विधि शब्द है हवि की सम्बन्ध चोदना होती है क्योंकि आग्नेय कर्त्तव्य है अतः इसका अग्नि ही देवता करना चाहिए अपर मत यह भी है कि देवता शब्द तन्त्र ब्राह्मण में श्रूयमाण होता है अत: देवता शब्द से ही कहे जाते हैं । सिद्धान्त पक्ष यही है कि अग्नि शब्द ही देवतात्व का प्रतिपादन करता है ।२३। विधि शद्व के द्वारा वाचियों में निगमन करना चाहिए और शेषों का एक जो विधि शद्व होता है वही सर्वत्र श्रूयमाण होता है । इससे विधि शद्व का मन्त्रत्व में भी भाव होता है ।२४। जिस प्रकार से प्रकृति में होता है उसी भाँति उत्तर विकृति में करना चाहिए क्योंकि उनका तत्प्रकृतित्व होता है । 'सौर्यं चरु' निर्वपेद्''—इत्यादि में सूर्य शद्व से संयुक्त करना चाहिए ।२५। गुण श्रुति में सगुण अग्नि का अभिधान करना चाहिए । निर्गुण प्राकृत का सगुण अभिधान कर्त्तव्य होता है ।२६। शद्व और अर्थ अनपेत होता है तो द्रव्य की भाँति निर्गुण का अभिधान होता है। अजावशा शद्व के द्वारा चोदित कर्म में छागा शद्व से वाचियों निगम होते हैं । इसी प्रकार से यहाँ भी द्रष्टव्य होता है ।२७। चोदित सगुण में अभिधान आरम्भ समवाय होने के कारण से किया जाता है । कर्म में स्वरूप से देवता का साधन भाव नहीं होता है किन्तु देवतार्थ का श्रुति समवायी होने से ही होता है । देवता और हवि का साक्षात् सम्बन्ध है । यदि गुण का अभिधान नहीं किया जाता है तो गुण शासन ही अनर्थक हो जायगा । अतः सगुण से अभिधान करना चाहिए ।२८। रूप के द्वारा समवाय द्रव्य में जाता है अत: द्रव्यों में आरम्भ समवाय युक्त ही है । इसलिये अर्थक के साधन होने पर

अविकार अर्थ में भी वचन की सामर्थ्य से उपपन्न होता है। चोदक के अनुग्रह के लिए गुण वचन के बिना भी अभिधान होता है ।२६। "वुधन्वानाग्नेयः कार्यः" — यहाँ पर पवमान इष्टियों में जैसा होता है वैसे ही सगुण का अभिधान करना चाहिये क्योंकि विशेष का निर्देश है और वह निर्देश अर्थ वाला होता है ।३०।

मन्त्रविशेषनिर्देशान्न देवताविकारः स्यात् ।३१। विधिनिगमभेदात्प्रकृतौ तत्प्रकृतित्वाद्विकृतावपिभेद स्यात् ।३२। यथोक्त वा विप्रतिपत्तेर्न चोदना ।३३। स्विष्टकृद्देवतान्यत्व तच्छब्दत्वान्निवर्त्तेत ।३४। संयोगे वाऽर्थापत्तेरभिधानस्य कर्मजत्वात् ।३५। सगुणस्य गुणलोपे निगमेषु गुणास्थाने यावदुक्तं स्यात् ।३६। सर्वस्य वैककर्म्यात् ।३७। स्विष्टकृदावापिकोऽनुयाजे स्यात्, प्रयोजनवदङ्गानामर्थसंयोगात् ।३८। अन्वाहेति च शस्त्रवत् कर्म स्याच्चोदनान्तरात् ।३९। संस्कारो वा चोदितस्य शब्दस्य वचनार्थत्वात् ।४०। स्याद् गुणार्थत्वात् ।४१।

मन्त्र विशेष के निर्देश होने से देवता का विकार नहीं होता है। यहाँ यह शब्द मन्त्र विशेष का सरूप होता है। जो आग्नेय है वह दिशिष्टाग्नि विशिष्ट है वह वुधन्वान् करना चाहिये केवल अग्नि नहीं। उसका वुध मन्त्र है उससे वुधन्वान् याग होता है। इसलिए देवता का निर्गुण ही अभिधान करना चाहिये ।३१। विधि निगम के भेद होने से प्रकृति में यह प्राप्त होता है किन्तु चोदक के द्वारा तत्प्रकृतित्व होने से विकृति में भी भेद होता है ।३२। अथवा यथोक्त शब्द से ही वचन करना चाहिये क्योंकि विधि निगम की प्रतिपत्ति की चोदना नहीं है। इसलिए वनस्पति शब्द से ही निर्देश करना चाहिये ।३३। यदि स्विष्टकृत् शब्द रूढ़ हैं तो अस्विष्टकृत् शब्द वाला वचन करना

चाहिये क्योंकि यह अग्नि देवता का वाचक है, अग्नि वरुण का नहीं ।३४। अथवा स्विष्ट करण से स्विष्टकृत्-यह गम्यमान होता है अतएव सस्विष्टकृत् शब्द वाला वचन ही करना चाहिये क्योंकि अर्थापत्ति से अग्नि के अर्थ में अग्नि और वरुण श्रूयमाण होते हैं ।३५। स्विष्टकृत् अग्नि के सगुण के गुण लोप होने पर समस्त निगमों में जितना कहा गया है वह होता है। इससे याग में ही लोप होता है सर्व निगमों में नहीं होता है ।३६। अथवा सम्पूर्ण निगम की एक ही कर्मता है अतः स्विष्टकृत् अग्नि शब्द का गुण लुप्त होता है ।३७। समीप में उपकारक और साम वायिक दोनों प्रकार के अङ्गों का अर्थ के साथ संयोग होने से प्रयोजनवान् अग्नि की भाँति अनुयाज में स्विष्टकृत् आनायिक होता है ।३८। अन्वाहेति प्रधान कर्म होता है शास्त्र की भाँति अन्य चोदना होता है। अन्वाहेति प्रधान कर्म में कहना चाहिये अन्यथा उसकी कर्तव्यता गम्यमान नहीं होती है। इसी प्रकार से यहाँ भी द्रष्टव्य है ।३९। अथवा संस्कार कर्म होना है क्योंकि चोदित अर्थ का जो शब्द है वह तद्वचनार्थ ही होता है ।४०। अन्वाद-यह वचन गुणार्थ होने से उपपन्न होता है ।४१।

मनोतायां तु वचनादविकारः स्यात् ।४२। पृष्ठार्थेऽन्यद्रथन्तरात्तद्योनिपूर्वत्वात् स्यादृचां प्रविभक्तत्वात् ।४३। स्वयोनौ वा सर्वाख्यत्वात् ।४४। यूपवदिति चेत् ।४५। न कर्मसंयोगात् ।४६। कार्यत्वादुत्तरयोर्यथाप्रकृति ।४७। समानदेवते वा तृचस्याविभागात् ।४८। ग्रहाणां देवतान्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः कर्मत्वादविकारः स्यात् ।४९। उभयपानात्पृषदाज्ये दध्नोप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात् ।५०।

मनोता मन्त्र में वचन से अविकार होता है इसलिए मनोता मन्त्र अविकार से प्रयोग करना चाहिये ।४२। वैश्य स्तोम में

कण्व रथन्तर पृष्ठ होता है यह श्रूयमाण है। पृष्ठार्थ में अन्य रथन्तर होने से तद्योनि पूर्वत्व होने से और ऋचा के प्रविभक्त होने से धर्म निमित्त वाला कण्व रथन्तर में रथन्तर शब्द होता है ।४३। अथवा सर्व विशेषण विशिष्ट का रथन्तर शब्द वाचक होने से स्वयोनि में ही गेय होता है ।४४। यदि यूपवत् उसकी उपपत्ति करते हैं तो यह उचित नहीं है ।४५। कर्म के संयोग से काष्ठ को ही यूपता होती है। यह कर्म वृक्ष नहीं है। जहाँ संस्कार है वही यूप है। इसी प्रकार से यहाँ कण्व रथन्तर शब्द लोक में है। सोधिशायिक कण्व रथन्तर शब्द स्वयोनि में ही गीयमान होता है ।४६। उत्तरों में जो कार्य होता है वहाँ पर स्वयोनि का आवश्यक त्याग होता है। इसलिए प्रकरण की अपेक्षा करनी चाहिये ।४७। तृच शब्द से अविभाग होने से स्वयोन्युन्तरों में ही गेय होता है क्योंकि समान छन्द और समान देवता कर्म तृच शब्द होता है ।४८। ग्रहों के देवतान्यत्व में स्तुत शास्त्रों को प्रधान कर्मत्व होने से अविकार होता है ।४९। पृषदाज्य में उभय पान है क्योंकि दोनों ही देवता का उद्देश्य करके त्यज्यमान होते हैं। दधि और आज्य दोनों का उप लक्षण है क्योंकि नियमों में पातव्य का उप लक्षण होता है ।५०।

न वा परार्थत्वद्यज्ञपतिवत् ।५१। स्याद्वा आवाहनस्य तादर्थ्यात् ।५२। न वा संस्कारशब्दत्वात् ।५३। स्याद्वा द्रव्याभिधानात् ।५४। दध्नस्तु गुणभूतत्वदाज्यपानिगमः स्युगुर्णत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात् ।५५। दधि वा स्यात्प्रधान-माज्ये प्रथमान्त्यसंयोगात् ।५६। अपि वाऽऽज्यप्रधानत्वा-दगुणार्थे व्यपदेशे भक्त्या संस्कारशब्दः स्यात् ।५७। अपि वाऽऽख्याविकारत्वात्तेन स्यादुपलक्षणम् ।५८। न वा स्याद्-गुणशास्त्रत्वात् ।५९।

जैसे यज्ञपति अविकार से प्रयज्यमान होता है उसी तरह यहाँ पर भी परार्थ होने से पातव्य पाता के लक्षणार्थ प्रपुज्यमान होता है। ।५१। यहाँ पर दधि का उप लक्षण है । यज्ञपति की भाँति नहीं होता है क्योंकि आवाहन तो स्मरणार्थ है । अतः पाता और पेय दोनों ही स्मरण करने के योग्य हैं ।५२। अथवा दधि का उपलक्षण नहीं होता है क्योंकि संस्कार से मिश्रण में आज्य चित्र होता है उसकी इस चित्रता को दधि भी उत्पन्न कर देता है ।५३। अथवा द्रव्य का अभिधान होने से दधि का उपलक्षण होता है। क्योंकि दधि आज्य के ही तुल्य प्रधानभून होता है। इसलिए आज्यय निगम होते हैं। दधि का उप लक्षण नहीं करना चाहिये ।५५। आज्य में प्रथमान्त्य संयोग होने से यहाँ पर दधि ही प्रधान है। प्रथम संयोग उपलक्षण होता है और अन्य संयोग अभिधारण होता है। इसलिए दधि का ही उपलक्षण करना चाहिये। ५६। याग के सम्बन्ध से प्रयोजन वाला आज्य ही प्रधान होता है। सकृद्दधि इसका गुण के अर्थ में व्यपदेश में भक्ति से संस्कार शब्द उपस्तरण तथा अभिधारण करता है ।५७। आज्यप निगम नहीं होते हैं। वहाँ पृष दाज्यपान् यह कहना चाहिये क्योंकि आख्या विकार होता है। उससे उपलक्षण होता है ।५८। संसृष्ट का रागवत् पृषदाज्य शब्द वाचक है क्योंकि उपचार होता है। वह उपचार लोक से ही अवगत है। वह गुण आज्य में होता है। यह गम्यमान होता है ।५९।

।। चतुर्थ पाद समाप्त ।।

पञ्चम पाद

आनुपूर्व्यवतामेकदेशग्रहणेष्वागमवदन्त्यलोपः स्यात् ।१। लिङ्गदर्शनाच्च ।२। विकल्पो वा समत्वात् ।३। क्रमादुप-

सर्जनोऽन्ते स्यात् ।४। लिङ्गमविशिष्टं सङ्ख्याया हि तद्वचनम् ।५। आदितो वा प्रवृत्तिः स्यादारम्भस्य तदादित्वाद्वचनादन्त्यविधिः स्यात् ।६। एकत्रिके तृचादिषु माध्यंदिनछन्दसां श्रुतिभूतत्वात् ।७। आदितो वा तन्न्यायत्वादितरस्यानुमानिकत्वात् ।८। यथानिवेशश्च प्रकृतियत्संख्यामात्रविकारत्वात् ।९। त्रिकस्तृचे धुर्ये स्यात् ।१०।

"वैष्णवं त्रिकपालम्"—इत्यादि में एक देश वचन होता है और समस्त वचन भी होता है। जो इस प्रकार से क्रम वाले हैं उनका एक देश का ग्रहण होता है। अन्त्य का लोप और आद्य का उपादान मुख्य होने से होता है ।१। इस लोप और उपादान में लिङ्ग का भी दर्शन है क्योंकि जहाँ पञ्च कपाल का निर्वं न है वहाँ षष्ठ का लोप दिखाया जाता है प्रथम का नहीं होता है ।२। आद्योपादान और अन्त्यलोप से कोई श्रुति नहीं है अतएव दोनों ही सम हैं और कोई इसमें नियम नहीं हैं ।३। समाज में जिस प्रकार से प्रथम आगन्तु जनों के द्वारा स्थान आक्रान्त होने पर पीछे आने वाला अन्त में ही निविष्ट होता है उसी तरह जो अनाक्रान्त स्थल है वहाँ पर कौन प्रथम रहे ? यह सोचा जाता है। इससे यहाँ पर कुछ का क्रम विरुद्ध नहीं है ।४। षष्ठ के लोप का जो लिङ्ग कहा गया है, वह विशिष्ट नहीं है, विकल्प में भी होता है। वह प्रथय—मध्यम और अन्त्य से संख्या की पूर्त्ति की जाती है ।५। आदि से प्रवृत्ति हो सकती है क्योंकि आरम्भ उसका आदि होता है। इस प्रकार से विना वचन के अन्त्यलोप ही न्याय्य होता है ।६। एकत्रिक क्रतु में माध्यन्दिन के पवमान होने पर छन्दों के श्रुति भूत होने से तृचाद्याओं में मान होता है। वे यहाँ चोदक के द्वारा प्राप्त हैं ।७। वा शब्द पक्ष की व्यावृत्ति करता है कि आद्य तृच में गान करना चाहिये—यही न्याय्य है। इतर

छन्दोऽनुग्रह को प्राकृत होने से यहाँ आनुमानिकत्व होता है ।८। यथा निवेश प्रकृतिवत् शब्द से प्राप्त तीनों में माध्य दिन यह संख्या मात्र का प्रत्याम्नाय है क्रम का नहीं है । इसी प्रकार स छन्दों का भी नहीं होता है । क्रमानुग्रह मुख्य हैं और छन्दों का जाघन्य है । इससे भी आद्य तृच में ही गाना चाहिये ।९। त्रिक स्तोम तृच में होता है और सामों में धुरि होता है ।१०।

एकस्यां वा स्तोमस्यावृत्तिधर्मत्वात् ।११। चोदनासु त्वापूर्वत्वाल्लिङ्गेन धर्मनियमः स्यात् ।१२। प्राप्तिस्तु रात्रि-शब्दसम्बन्धात् ।१३। अपूर्वासु तु संख्यासु विकल्पः स्यात्सर्वा-सामर्थवत्त्वात् ।१४। स्तोमविवृद्धौ प्राकृतानामभ्यासेन संङ्ख्यापूरणमविकारात्सङ्ख्यायां गुणशब्दत्वादन्यस्य चाश्रुति-त्वात् ।१५। आगमेन वाऽभ्यासस्याश्रुतित्वात् ।१६। सङ्ख्यायाश्च पृथक्त्व निवेशात् ।१७। पराक्छब्दत्वात् ।१८। उक्तायिकाराच्च ।१९। अश्रुतित्वादिति चेत् ।२०।

अथवा एक ही ऋचा में गाना चाहिये स्तोम की वहाँ पर आवृत्ति-धर्मता होती है क्योंकि वचन प्रामाण्य है । इससे धुरि सामों में एक ही ऋचा में गाना चाहिये ।११। चोदनाओं में प्रायणीय-उदयनीयों में पूर्वत्व के असम्भव होने से विध्यन्त प्रवृत्त होता है । वह लिङ्ग से विध्यन्त नियमित किया जाता है ।१२। रात्रि शब्द के सम्बन्ध होने से इस प्रकृति लिङ्ग से दशरात्र का विध्यन्त प्राप्त होने पर लिंग दर्शन होता है ।१३। अप्रकृति पूर्विका संख्याओं के श्रूयमाण होने पर विकल्प होता है क्योंकि इस प्रकार से सर्व संख्याओं का अर्थ-वत्त्व हो जायगा ।१४। स्तोम विवृद्धि में अभ्यास से संख्या की पूर्त्ति की जाती है । इसी प्रकार से प्रकृत का ग्रहण होता है । प्रधान भूत प्राकृत सामों की संख्या गुण भाव से कही जाती है प्रधानता से

नहीं और अन्य सामद्रव्य श्रुति से विधीयमान नहीं होता है ।१५। अप्राकृत सामों की आगमों से संख्या पूर्ति करनी चाहिये क्योंकि अभ्यास श्रूयमाण नहीं होता है ।१६। संख्या पृथक्त्व निवेशिनी होती है । वह अभ्यास से अपृथक् हो जाती है । इसलिए उसकी पूर्ति आगम से ही करनी चाहिये ।१७। अभ्यास को पराक् शब्द होता है अर्थात् पराक् शब्द अभ्यास का ही वाचक है। अनभ्यस्ता ही गम्यमान होती है ।१८। उक्त का अविकार होता है अतएव वहाँ पर जामिता दोष नहीं होता है और अभ्यास में वह दोष होता है। इससे भी आगम होता है ।१९। आगम भी श्रूयमाण नहीं होता है। अतः उसका परिहार कर देना चाहिये । यह यदि कहा जावे तो उचित नहीं है ।२०।

स्यादर्थचोदितानां परिमाणशास्त्रम् ।२१। आवाप-वचनं वाभ्यासे नोपपद्यते ।२२। साम्ना चोत्पत्तिसामर्थ्यात् ।२३। धुर्य्येष्वपीति चेत् ।२४। नावृत्तिधर्मत्वात् ।२५। बहिष्पवमाने तु ऋगागमः सामैकत्वात् ।२६। अभ्यासेन तु सङ्ख्यापूरणं, सामिधेनीष्वभ्यासप्रकृतित्वात् ।२७। अविशे-षान्नेति चेत् ।२८। स्यात्तद्धर्मत्वात् प्रकृतिवदभ्यस्येताऽऽस-ङ्ख्यापूरणात् ।२९। यावदुक्तं वा कृतपरिमाणत्वात् ।३०। अधिकानाञ्च दर्शनात् ।३१। कर्मस्वपीति चेत् ।३२। न चोदितत्वात् ।३३।

साम अर्थ के द्वारा चोदित होते हैं। इसलिए अर्थ चोदित सामों का यह परिमाण शास्त्र है। इसके करने से एक विंश अतिरात्र में प्रजा काम का याजन करे—यह शब्द कृतार्थ हो जाता है । अर्थ प्राप्त आगम को वारित नहीं किया जा सकता है। इससे आगम से ही पूरण होता है ।२१। आवाय वचन अभ्यास में उपपन्न नहीं होता है अतएव

आगम ही होता है ।२२। सामों की उत्पत्ति ही अर्थ वाली होती है इस से भी आगान होता है ।२३। यथा धुरि सामसु-इसका परि- हार कर देना चाहिये ।२४। धुरि सामसु—ये आवृत्ति धर्मक है क्योंकि वहाँ पर वचन का प्रामाण्य है। यहाँ पर उस जैसा वचन नहीं है ।२५। वहिष्पवमान में तो ऋक् का आगम है क्योंकि साम का एकत्व होता है ।२६। अभ्यास प्राकृतिक होने के कारण सामि- धेनियों में अभ्यास से ही संख्या का पूरण होता है ।२७। अभ्यास और आगम में कोई विशेषता नहीं है यदि ऐसा कहते हैं तो वह उचित नहीं हैं ।२८। विकृति को प्रकृति धर्मता होने से ही अभ्यास होता है और संख्या पूरण होने तक ही होता है ।२९। जो भी कृत परिमाण होने से संख्या का पूरण अभ्यास से कहा गया है वह ही होता है। यह प्रकृति में शब्दार्थ गम्यमान नहीं होता है ३०। अधिकों का दर्शन होने से अभ्यास में जगती परिधाना शङ्का अवकल्पित नहीं होता हैं। अतः आगम ही होता है ।३१। धुरि साम कर्मों में भी ऐसा ही होता है। यदि यह कहा जाता है तो वह उचित नहीं है ।३२। वहां की भाँति यह अभ्यास चोदित नहीं है और ऐसा कोई वचन भी नहीं है। अतः आगम से ही संख्या पूरण करना चाहिये ।।३३।।

षोडशिनो वैकृतत्वं तत्र कृत्स्नविधानात् ।३४। प्रकृतौ चाऽभावदर्शनात् ।३५। अयज्ञवचनाच्च ।३६। प्रकृतौ वा शिष्टत्वात् ।३७। प्रकृतिदर्शनाच्च ।३८। आम्नानं परिसङ्- ख्यार्थम् ।३९। उक्तमभावदर्शनम् ।४०। गुणादयज्ञत्वम् ।४१। तस्याग्रयणाद्ग्रहणम् ।४२। उक्थ्याच्च ।४३। वचनात् ।४४। अनभ्यासे पराक्छब्दस्य तादर्थ्यात् ।४५। उक्थ्यवि- च्छेदवचनाच्च ।४६। आग्रयणाद्वा पराक्छब्दस्य देशवाचि- त्वात्पुनराधेयवत् ।४७। विच्छेदः स्तोमसामान्यात् ।४८।

उक्थ्याऽग्निष्टोमसंयोगादस्तुतशस्त्रः स्यात्सति हि संस्थान्यत्वम् ।४६। सस्तुतशस्त्रो वा तदङ्गत्वात् ।५०। लिंगदर्शनाच्च ।५१। वचनात्संस्थान्यत्वम् ।५२।

षोड़शी में वैकृतत्व होता है क्योंकि वहाँ कृत्स्न का विधान होता है। इसलिये विकृतियों में परिगणित जो हैं उनमें ही षोड़शी का ग्रहण करना चाहिए प्रकृति में नहीं ।३४। इसीलिये यह वैकृत होता है क्योंकि इसका प्रकृति में अभाव दर्शन है ।३५। ज्योतिष्टोम में प्रकृति में यह वचन है। इसीलिए उपपन्न होता है। इससे वैकृत है—यह गम्यमान होता है ।३६। यह वचन प्रकृति में प्रतिषेधक नहीं होता है। अतएव प्रकृति में शिष्टा प्रतिषेध होने से षोड़शी हो सकती है ।३७। प्रकृति में इस षड़शी के दर्शन होने से भी प्राकृति षोड़शी सिद्ध होती है ।३८। अविशेषता में उस वचन को प्रकृति में कह कर परिसंख्या के लिए ही आम्नात होता है ।३६। प्रकृति में षोड़शी के अभाव दर्शन से वैकल्पिक षोड़शी होती है ।४०। पक्ष में 'अयज्ञ'—यह भक्ति से ही कहा गया है। अतः षोड़शी प्राकृत है और यह सिद्धान्त पक्ष में ग्रहण होता है ।४१। उस षोड़शी का आग्रयण से ग्रहण होता है क्योंकि इसके लिए वचन है ।४२। उक्थ्य से भी वचन प्राप्त होने के कारण षोड़शी का गहण होता है ।४३। तृतीय सदन में भी वचन होने के कारण ग्रहण होता है ।४४। पराक् शब्द अनभ्यास में होता है। क्योंकि तादर्थ्य उसका अवगम होता है। इसलिये उक्थ्य और आग्रयण से षोड़शी का ग्रहण करना चाहिए ।४५। उक्थ्य से भी ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उक्थ्य विच्छेद वचन होता है ।४६। दिग्देश कालवाची पराक् शब्द के होने से पुनः आधेय की भाँति आग्रयण से ही षोड़शी का ग्रहण करना चाहिए। यह वैकल्पिक पक्ष है ।४७। स्तोम सामान्य से विच्छेद होता है। वह

पञ्चमी भी काल के सम्बन्ध में होती है अपादान में नहीं होती। इसलिए आग्रयण से ही षोड़शी का ग्रहण करना चाहिए ।४८। उक्थ्य और अग्निष्टोम के संयोग से अस्तोत्र शस्त्र षोड़शी होती है। अग्निष्टोम संस्थ और उक्थ्य संस्थ में षोड़शी का ग्रहण करना चाहिए ।४९। याग के स्तोत्र और शस्त्र अङ्गभूत होते हैं और ग्रहग्रहण निमित्त होते है अतएव वैकल्पिक पय यह है कि सस्तुत शस्त्र षोड़शी होती है ।५०। सस्तुत शस्त्र षोड़शी के ग्रहण में कुछ वचनों के लिङ्ग दर्शन होते हैं अतएव सस्तोत्रशस्त्र षोड़शी का ग्रहण होता है ।५१। अग्निष्टेमान्त जो कहा गया है उसके वचन से यह अन्य अन्त विधीयमान होता है ।५२।

अभावादतिरात्रेषु गृह्यते ।५३। अन्वयो वाऽनारभ्य विधानात् ।५४। चतुर्थे चतुर्थेऽहन्यहीनस्य गृह्यते; इत्यभ्यासेन प्रतीयेत भोजनवत् ।५५। अपि वा सङ्ख्यावत्त्वान्नहीनेषु गृह्यते; पक्षवदेकस्मिन्सङ्ख्यार्थभावात् ।५६। भोजने च तत्सङ्ख्यं स्यात् ।५७। जगत्सामिनि, सामाभावादृक्तः; साम तदाख्यं स्यात् ।५८। उभयसाम्नि, नैमित्तिकं विकल्पेन समत्वात्स्यात् ।५९। मुख्येन वा नियम्यते।६०। निमित्तविघाताद्वा क्रतुयुक्तस्य कर्म स्यात् ।६१। ऐन्द्रावायवस्याग्रवचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ।६२।

यह अप्राप्त का विधान है वहाँ पर आनुमानिक चोदक होता है। अभाव से अतिरात्र में ग्रहण किया जाता है ।५३। अथवा षोड़शी का भी अन्वय इस ऋतु में होता है क्योंकि अनारभ्य विधान होता है ।५४। अहीन का चतुर्थ—चतुर्थ दिन में ग्रहण किया जाता है। इससे एक अहीन में भोजन की भाँति अभ्यास करना चाहिए। ।५५। अथवा नाना महीनों में चतुर्थ दिन में ग्रहण किया जाता

हैं। इसी प्रकार से संख्या की भाँति ग्रहण होता है। यहाँ श्रुति है किन्तु उससे कुछ सिद्ध नहीं होता है क्योंकि चतुर्थ का अभाव है। हमारे पक्ष में लक्षण है और उससे सिद्ध होता है। लक्षणा नहीं भी होती है। यह सामान्याभिप्राय से एक वचन होता है ।५६। भोजनवत्-यह तो कहा गया है उससे चतुर्थ से अन्य चतुर्थ वहाँ पर कल्पित किया जाता है ।५७। जगत्साम के श्रूयमाण होने पर ऋक् से साम इस का अध्यवसाय किया जाता है क्योंकि साम अभाव होता है ।५८। उभय साम वाले क्रतु होते हैं। वहाँ पर रथन्तर निमित्तक और वृहन्निमित्तक होते हैं, इनमें से कौनसा करना चाहिए अथवा अन्य निमित्तक करना चाहिए। इसकी विनिगमत्ता में कोई हेतु नहीं है। अतएव समान होने से विकल्प होता है ।५९। अथवा मुख्यत्व से नियम्य करना चाहिए। रथन्तर को प्रथयाधी तत्त्व होने से मुख्यत्व होता है ।६०। दोनों निमित्तों का विधान होने से क्रतु निमित्त का ही आश्रय लिया जाता है ।६१। अग्र वचन होने से ऐन्द्रावायव का सर्वादित प्रतिकर्ष होता है। विशेषता न होने के कारण से सभी ऐन्द्रावायव अग्र में करने चाहिये ।६२।

अपि वा धर्मविशेषात्तद्धर्माणां स्वस्थाने प्रतिकरणाद-ग्रत्वमुच्यते ।६३। धारासंयोगाच्च ।६४। कामसंयोगे तु वचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ।६५। तद्देशानां वा ऽग्रसंयोो-त्तद्युक्ते कामशास्त्रं स्यान्नित्यसंयोगात् ।६६। परेषु चाग्र-शब्दः पूर्ववत् स्यात् तदादिषु ।६७। प्रतिकर्षो वा नित्यार्थे-नाग्रस्य तदसंयोगात् ।६८। प्रतिकर्षश्च दर्शयति ।६९। पुरस्तादैन्द्रवायवादग्रस्य कृतदेशत्वात् ।७०। तुल्यधर्मत्वाच्च ।७१। तथा च लिंगदर्शनम् ।७२। सादनं चापि शेष-त्वात् ।७३। लिंगदर्शनाच्च ।७४। प्रदानं चापि सादन-वत् ।७५। न वा प्रधानत्वाच्छेषत्वात्सादशं तथा।७६।

'अपिवा'—इस से पक्ष की व्यावृत्ति की जाती है। ऐन्द्रवायवादिता से धर्म की अविशेषता से तद्धर्म प्राकृतों का ग्रहण विधीयमान होता है। अपने स्थान में जो ग्रह ऐन्द्रवायवाग्र है, उनको प्रकरण से ग्रहण करने की विधि है सर्वादित प्रतिकर्ष नहीं है।।६३।। धारा संयोग से तदग्रों का अविकार करके ग्रहण विधीयमान होता है।।६४।। काम संयोग में सर्वादित प्रतिकर्ष होता है क्योंकि वचन होता है। ।६५। धारा देश ऐन्द्रवायवाग्रों का यह उपदेश है। उससे युक्त तदग्रों के ग्रहण से काम साध्य किया जाता है। यहाँ नित्य का संयोग होता है।६६। ऐन्द्रवायव से परग्रह काम के लिये श्रूयमाण होते हैं। उनमें अग्रशब्द पूर्ववत् स्वक्रमस्थ ग्रहण होता है। जिस-जिसकी अग्रता श्रूयमाण होती है तदग्रों का काम संयोग होता है।।६७।। यहाँ पर नित्यार्थ से काम संयोग नहीं होता है। अतएव नागैन्द्रवायव से प्रतिकर्ष होता है।६८। "धारयेयुस्तं यं कामाय गृह्लीषु:" इत्यादि में प्रतिकर्ष दिखाया जाता है।६९। अग्र को कृत देश होने से पुरस्तात् प्रतिकर्ष होता है। वाक्य से उसकी अग्रता का विधान होता है। वह ऐन्द्रावायवों के अग्रों को ही है क्योंकि ये प्रकृत हैं।७०। तुल्य धर्म होने से भी पुरस्तात्प्रतिकर्ष होता है।७१: "यं कमाय गृह्लीषु:"—इस से काम्य के धारणान्तर ऐन्द्रवायव का ग्रहण दिखाया जाता है—यह लिङ्ग दर्शन भी है।७२। ग्रहण शेष सादन होता है। ग्रहण प्रदान के लिए होता है। यहाँ शब्द ही प्रमाण है। यहाँ सादन का भी शेष होने से प्रतिकर्ष किया जाता है।७३। सादन के प्रतिकर्ष में लिङ्ग का भी दर्शन होता है। "धारयेयुस्तं यं कामीय गृह्लीयु:"—यह वचन ही लिङ्ग है।७४। जिस प्रकार से सादन का प्रतिकर्ष किया जाता है उसी भाँति प्रादन का भी प्रतिकर्ष किया जाता है। क्योंकि दोनों का सम्बन्ध है।७५। प्रधान का प्रतिकर्ष होता

है। वह प्रधान है किन्तु उसका ग्रहण उपकारक नहीं है इससे प्रतिकर्ष नहीं होता है। सादन शेष होने के कारण प्रतिकृष्यमाण होता है।७६।

त्र्यनीकायां न्यायोक्तेष्वाम्नानं गुणार्थं स्यात् ।७७। अपि वाऽहर्गणेष्वग्निवत्समानं स्यात् ।७८। द्वादशाहस्य व्यूढसमूढत्वं पृष्ठवत्समानविधानं स्यात् ।७९। व्युढो वा लिङ्गदर्शनात्समूढविकार: स्यात् ।८०। कामसंयोगात् ।८१। तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ।८२। एकादशिनीवत् त्र्यनीका प्रवृत्तिः स्यात् ।८३। स्वस्थानविवृद्धिर्वाऽह्नामप्रत्क्षसङ्ख्यत्वात् ।८४। पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्रयणस्य दर्शनात् त्रयस्त्रिंशे परिवृत्तौ पुनरैन्द्रवायव: स्यात् ।८५। वचनात्परिवृत्तिरैकादशिनेषु ।८६। लिंगदर्शनाच्च ।८७। छन्दोव्यतिक्रमाद् व्यूढे, भक्षपवमानपरिधिकपालमंन्त्राणां यथोत्पत्तिवचनमूहवत्स्यात् ।८८।

द्वादशाह मेत्र्यनी का होती है। प्रथम द्वितीय दिनों में ऐन्द्र वायवाग्रता और शुक्राग्रता श्रूयमाण है। वह रथन्तर सामत्व और वृहत्सामत्व होने से चोदक के द्वारा उन दोनों की प्राप्ति होती है। वहाँ तृतीय दिन में आग्रयणाता न्याय्य है।७७। समान विधि के लिए गुणार्थं श्रवण नहीं होता है। अहर्गणों में अग्निवत् समान विधान होता है। पक्षोक्त प्रयोजन है, परिसंख्या नहीं होती है।७८। द्वादशाह दो प्रकार का होता है – व्यूढ और समूढ़। वृहद्र रथन्तर पृष्ठ में जिस प्रकार से प्रकरण को तुल्यत्व होता है उसी भाँति यहाँ पर भी दोनों प्रकार प्रकृत हैं अत: कोई उनमें विशेषता नहीं हैं। अतः दोनों ही समान विधान वाले हैं।७९। 'वा' शब्द के द्वारा पहिले पक्ष की व्यावृत्ति की जाती है कि व्यूढ़-समूढ़ दोनों समान विधान वाले नहीं हैं किन्तु व्यूढ़-समूढ़ का विकार है। यह वचन लिंग होता है।।८०।।

काम के संयोग होने से भी होता है। काम्य अथवा नैमित्तिक नित्य अर्थ को विकृत करके निवेश किया करता है।८१। व्यूढ़ और समूढ़ दोनों प्रकार की अहर्गणों में प्रवृत्ति अविशेषतया होती है क्योंकि दोनों की एक कर्मता होती है।८२। वहाँ पर बहुत से व्यतीक हैं जो कि परिवर्त्तयितव्य हैं। वहाँ अर्थ प्राप्त अभ्यास होता है। यहाँ दण्डकलितवत् आवृत्ति होतीं है। जैसे एकादशिनि अभ्यस्यमान है वैसे ही यहाँ पर भी दण्डकलितवत् अभ्यास होता है।८३। अथवा अहों की संख्या प्रत्यक्ष न होने से स्वस्थान विवृद्धि होती है। इससे अनुवाद-मात्र ही अहर्गण होता है और यदि इस प्रकार से है तो क्रम के अनुग्रह के लिये स्वस्थान विवृद्धि का आश्रय करना चाहिए।८४। तेतीस दिनों में पृष्ठयावृत्ति में आग्रयणाग्रता का दर्शन होता है। पुनः परिवृत्ति में ऐन्द्रावायव होता है। इससे स्वस्थान विवृद्धि होती है।८५। एकादशियों में बचत होने से परिवृत्ति होती है। अतः वहाँ पर दण्ड कलितवत् आवृत्ति युक्त है।।८६।। इस अर्थ को लिंग भी प्रदर्शित करता है। स्वस्थाता अथवा अतिरिक्तता होती है।८७। यक्षमन्त्र—भक्षण का, पवमान मन्त्र और पवमान का, परिधि और कपालों का अथवा मन्त्रों का छन्दो व्यतिक्रम होता है। इस कारण से व्यूढ़ में यथोत्पत्ति वचन ऊहवत् होता है।८८।

।। पञ्चम पाद समाप्त ।।

षष्ठ पाद

एकर्चस्थानानि यज्ञे स्युः स्वाध्यायवत्।१। तृचे वा लिंगदर्शनात्।२। स्वर्दृशं प्रति वीक्षणं कालमात्रं परार्थत्वात्।३। पृष्ठ्यस्य युगपद्विधेरेकाहवद्द्विसामत्वम्।४।

विभक्ते वाऽसमस्त विधानात् तद्विभागेऽप्रतिषिद्धम् ।५। समासस्त्वैकादशिनेषु तत्प्रकृतित्वात् ।६। विहारप्रतिषेधाच्च ।७। श्रुतितो वा लोकवद्विभागः स्यात् ।८। विहारप्रकृतित्वाच्च ।९। यावच्छक्यं तावद्विहारस्यानुग्रहीतव्यं, विशये च तदासत्तेः ।१०।

कर्म करने के लिए स्वाध्याय में अभ्यास किया जाता है। अतः यज्ञ में एक ही ऋचा में गान करना चाहिए। स्वाध्याय में जैसा अभ्यास किया है वैसा ही प्रयोग भी करना चाहिए ।१। एक ही ऋचा में गान करना चाहिए—इस अर्थ को प्रदर्शित लिंग भी करता है। इससे तृच में गाना चाहिए ।२। स्वर्दक शब्द के साथ वीक्षण का साक्षात् सम्बन्ध होता है अन्यथा यह शब्द काल को लक्षित करता। श्रुति लक्षण विषय में श्रुति ही न्याय्य होती है। इससे अंग प्रयोजन सम्बन्ध होता है।३। पृष्ठ्य की युगपद् विधि अर्थात् इतरेतर योग होता है। इस प्रकार से प्रत्यह समस्त में होता है जिस प्रकार से एकाह में होता है।४। अहरह में द्विसामक होता है। कुछ दिनों में रथन्तर तो कुछ में वृहत्। होमों पक्षों में वृहद्रथन्तर साम-रस शब्द को अवकल्पित किया जाता है। विभाग में भी वृहद्रथन्तर साम शब्द प्रतिषिद्ध नहीं होता है क्योंकि असमस्त का विधान होता है ।५। प्रकृति में ज्योतिष्टोम में समस्त ऐकादशिनों का आलम्भ होने से वहाँ पर समास होता है।६। प्रतिदिन एक का आलम्भन विहार प्राप्त होता है। अन्य दिनों में उनका प्रतिषेध किया जाता है प्रायणीय में वे सब होते हैं।७। अथवा द्वित्व श्रुति होने से लोक की भाँति प्रायणीय-उदयनीय में विभाग होता है ।८। इसलिये भी विभाग होता है कि विहार प्रकृत है। जितना भी हो सके विहार का अनुग्रह करना चाहिए ।९। विषय में प्रत्यासन्ति मुख्यतया अनुगृहीतव्य होती है ।१०।

त्रयस्तथेति चेत् ।११। न समत्वात्प्रयाजवत् ।१२। सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्तषां स्यादेकदेशत्वं पृष्ठस्य कृतदेशत्वात् ।१३। विधेस्तु विप्रकर्षः स्यात् ।१४। वैरूपसामा क्रतुसंयोगात्त्रिवृद्ववृदेकसामा स्यात् ।१५। पृष्ठार्थे वा प्रकृतिलिगसंयोगात् ।१६। त्रिवृद्वदिति चेत् ।१७। न प्रकृतावकृत्स्नसंयोगात् ।१८। विधित्वग्नेति चेत् ।१९। न स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्कर्माविभागात् ।२०। प्रकृतेश्चाविकारात् ।२१। त्रिवृति सख्यात्वेन सर्व सङ्ख्याविकारः स्यात् ।२२। स्तोमस्य व तल्लिङ्गस्वात् ।२३। उभयसास्कि विश्वजिद्वद्विभागः स्यात्। २४। पृष्ठेर्थे वाऽतदर्थत्वत् ।२५। लिंगदर्शनाच्च ।२६।

यदि प्रत्यासन्ति ही मुख्यत्वेन अनुगृहीतव्य है तो प्रायणीय में तीनों का ही आलभन करना चाहिए ।११। वस्तुतः साम्यत्व से ही प्रयाजवत् विभाग करना चाहिए ।१२। सब सृष्ठ में पृष्ठ शब्द के होने से समस्त सामों का एकदेशत्व होता है। जो अन्तराल होता है वही पृष्ठ-देश होता है। वह एक ही देश समस्त सामों का होता है। क्योंकि पृष्ट देश को कृत देशत्व होता है ।१३। न्याय से तो इस प्रकार से प्राप्त होता है और वचन से अन्यथा प्राप्ति होती है। एक की पृष्ट कार्य में विधि है और अन्यों की परिसाम कार्य में है। अतः विधि का विप्रकर्ष होता है ।१४। कृत्स्न क्रतु में एक साम वैरूप होता है और षोड़शिनि में वैराज होता है क्योंकि सम्पूर्ण का क्रतु से संयोग होता है, कृत्स्न क्रतु में त्रिवृस्तोम होता है। इसी प्रकार से ये साम भी हो सकते हैं ।१५। प्रकृति लिंग के संयोग से अथवा पृष्ठ कार्य में सामों का विधान किया जाता है। वैरूप सामता से तथा वैराज सामता से पृष्ठ कार्य में वृत्ति अवगम्यमान होती है ।१६। जिस प्रकार से त्रिवृदग्निष्टोम में कृत्स्न क्रतु में त्रिवृत्त्व का निवेश होता है उसी प्रकार

से यहां भी होता है यदि ऐसा कहा जाता है तो उसका परिहार कर देना चाहिये ।१७। क्योंकि प्रकृति लिङ्ग से कृत्स्न का संयोग गम्यमान नहीं होता है इसलिए त्रिवृत्व नहीं होता है ।१८। धेनु विधि भूमण्डल में कृत्स्न क्रतु दाक्षिण्य के कार्य में जिस तरह होता है वैसे ही साम भी होते हैं यदि यह कोई कहते हैं तो वह उचित नहीं है ।१९। क्योंकि वहाँ तो धेनु कृत्स्न क्रतु दाक्षिण्य की निर्वतयित्री होती है । अतः वहाँ तो वह युक्त है किन्तु यहाँ पर प्रकृति लिङ्ग संयोग है । इसलिए यह हेतु अपदिष्ट है क्योंकि कर्मों का अविभाग होता है ।२०। प्राकृत सर्वदा अविकृत होता है अतएव सामों का कृत्स्न क्रतु संयोग नहीं होता है ।२१। त्रिवृदाग्निष्टोम में त्रित्व सम्बद्ध अग्निष्टोम करना चाहिये – यही अर्थ होता है । संख्यात्व सामान्य से सर्व संख्या का विकार है । इस प्रकार से संख्या भी संख्या कार्य में ही नियुक्त की जाती है ।२२। अथवा यह त्रिवृत् शब्द प्रयुज्यमान जहाँ पर देखा गया है उसी को लिङ्ग से बुद्धि में संनिधायित करता है । अत: स्तोम विषय को नियम्य करता है ।२३। उभय साम वाले क्रतु होते हैं अत: दोनों से क्रतु का सम्बन्ध करना चाहिये । जिस तरह विश्वजित् में वृहदादि सब का एकत्र निवेश होता है वैसे ही यहाँ भी विभाग होता है ।२४। पृष्ठार्थ में अतदर्थ होने से विभक्त नहीं होते हैं । जहाँ पर वृहत् है वहाँ पर रथन्तर सहित ही होता है, केवल नहीं होता है । प्रत्यक्ष समस्त विधान से चोदक के वाध्यमान होने से कोई दोष नहीं होता है ।२५। पूर्वाह्ण में रथान्तर और अपराह्ण में वृहत् – यह लिङ्ग भी एक ही दिन के साथ सम्बन्ध से एक स्थानता को प्रदर्शित करता है ।२६।

पृष्ठे रसभोजनमावृत्तेसंस्थिते त्रयस्त्रिंशेऽहनि स्यात्तदानन्तर्यात् प्रकृतिवत् ।२७। अन्ते वा कृतकालत्वात् ।२८।

अभ्यासे च तदभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ।२९। अन्ते वा कृतकालत्वात् ।३०। आवृत्तिस्तु व्यवाये कालभेदात् ।३१। मधु न दीक्षिता ब्रह्मचारित्वात् ।३२। प्रश्येतवायज्ञार्थत्वात् ।३३। मानसमहरन्तरं स्याद् द्वादशाहे व्यपदेशात् ।३४। तेन व संस्तवात् ।३५। अहरन्ताच्च परेण चोदना ।३६। पक्षे सङ्ख्या सहस्रवत् ।३७। अहरङ्गवांशुवच्चोदनाभावात् ।३८।

पृष्ठ के रस भोजन आवृत्त षडह और त्र्यसितंशय् ग्रह के संस्थित होने पर करना चाहिये क्योंकि उसका आनन्तर्य है। जैसे प्रकृति में त्रयास्त्रिंगान्तर रस भोजन वृत होता है उसी तरह यहाँ भी करना चाहिये। इससे चोदक भी अनुगृहीत होता है ।२७। अथवा कालकृत होने से अन्त में अर्थात् षडहावसान में विधीयमान होता है। वाक्य से विशेष सम्बन्ध होने से अनन्तर्य मात्र कारण नहीं है ।२८। कर्म के पुनः पुनः प्रयोग से षडहावृत्ति के होने पर भोजन की आवृत्ति होती है ।२९। अथवा षडहावसान लक्षित काल में पुरुषों की भोजन क्रिया का विधान होता है। अतएव भोजन अवर्त्तित नहीं होता है। ।३०। व्यवधान होने पर काल भेद से आवृत्ति होती है । यद्यपि यह पुनः प्रवृत्त होता है तो भी उसको परिसमाप्त करके पुनः आरम्भ किया जाता है। उसके पर्यवसित न होने पर अन्य क्रिया नहीं की जा सकती है। अतः प्रतिमास आवृत्त होता है ।३१। ब्रह्मचारी दीक्षित होते हैं और ब्रह्मचारियों को मधु को प्रतिषेध होता है। सत्रियों को घृताशन और ऋत्विजों को मधु का प्राशन है। यह उभय द्वादशाह सम्बद्ध है और वहाँ विषय का भेद होता है ।३२। अथवा यज्ञार्थ होने से प्राशन करना चाहिए क्योंकि विधि का कर्म सादगुण्य प्रयोजन होता है। प्रतिषेध का भी नियमानुष्ठान से पुरुष के अदृष्ट की

सिद्धि होती है। इस प्राशन करने में कोई आपत्ति नहीं है ।३३। भेद व्यपदेश होने से मानस ग्रह द्वादशाह से अन्तर है। जिस प्रकार से वाङ्यन का भेद वस्तुतः अवगम्यमान होता है वैसे ही द्वादशाह मानस का भी होता है क्योंकि पृथकत्व होने पर भेद से व्यपदेश होता है ।३४। द्वादशाह मानस के द्वारा स्तुत होता है—इससे स्तव से भेद अधिगत होता है क्योंकि भिन्न के द्वारा ही संस्तव सम्भव है ।३५। द्वादशाहिक अहरन्त से पर के द्वारा चोदित होता है। इसलिए भी वैलक्षण्य से अहरन्तर सिद्धि होती है ।३६। सहस्र से अधिक में भी सहस्र शब्द देखा जाता है इसी भाँति यहाँ पर भी अधिक में गुण वृत्ति से प्रयोग हो सकता है। अतः कोई दोष नहीं है ।३७। दशम दिन में ही गुण विधि है और अहरन्तर प्रकल्प के वचन के अभाव होने में अहरन्तर चोदना नहीं होती है, अंशुवत् होता है ।३८।

दशमविसर्गवचनाच्च ।३९। दशमेऽहनीति च तद्गुणशास्त्रात् ।४०। सङ्ख्यासामञ्जस्यात् ।४१। पश्चतिरेके चैकस्य भावात् ।४२। स्तुतिव्यपदेशमङ्गेनाविप्रतिषिद्धं व्रतवत् ।४३। वचनाददग्नतत्वम् ।४४। सत्रमेकः प्रकृतिवत् ।४५। बहुवचनात्तु बहूनां स्यात् ।४६। अपदेशः स्यादिति चेत् ।४७। नैकव्यपदेशात् । ४८। सन्निवापं च दर्शयति ।४९। बहूनामिति चैकस्मिन्विशेषवचने व्यर्थम् ।५०।

दशम विसर्ग वचन से भी यही अर्थ प्रदर्शित होता है कि यह दशम का अङ्ग है अर्थान्तर नहीं है ।३९। "दशमेऽहनि सार्पराज्ञीभिऋग्भिः स्तुवन्ति"—इससे दशम दिन को प्रधान भाव से निर्दिष्ट किया गया है और ग्रह को आधेय भाव से कहा गया है। अतएव यह अर्थान्तर नहीं है यह गम्यमान होता है ।४०। गुण विधि में ही द्वादशाह संख्या का सामञ्जस्य भी होता है अन्यथा त्रयोदश में द्वादशाह

कथन से संख्या की असमञ्जसता हो जायगी ।४१। पशु के अतिरेक से एक का . तिरेक ग्रह अङ्ग है—यह विज्ञात होता है। इससे भी ग्रह अङ्ग ही है कर्मान्तर नहीं है। यह सिद्ध होना है।४२। स्तुति का व्यपदेश व्रत की भाँति विप्रतिषिद्ध नहीं होता है क्योंकि अङ्ग से भी समुदाय की स्तुति देखी गई है ।४३। वचन से अतदन्तता हो जाती है। इसमे भी कोई दोष नहीं होता है । अतएव दशम दिन का मानस सङ्कल्प है स्वतन्त्रता नहीं है ।४४। प्रकृति की भाँति सत्र एक ही होता है। पृथकत्व से करने वालों का लोक की तरह बहु वचन दिखाई दिया करता है।४५। वचन से बहुतों का होता है। प्रत्यक्ष वचन से चोदक प्राप्त एक कर्तृकता का वाध हो जाता है।४६। लोक में बहु वचन शब्द का प्रयोग जैसे होता है वैसे ही यह भी अपदेश होता है। ऐसा यदि कहा जाता है तो वह उचित नहीं है।४७। यहाँ लोकवत् नहीं हो सकता है क्योंकि यहां शब्द पूर्वि का क्रिया प्रवृत्ति होती है।४८। संनिवाय के दर्शन से बहुतों का सत्र गम्यमान होता है क्योंकि बहुत अग्नियों का संनिवाय होता है ।४९। एक सत्र में बहुतों का विशेष वचन व्यर्थ हो जाता है अतः यह गम्यमान होता है कि बहुत यजन करते हैं। एक गृहपति के होने पर बहुतों से यजमानों के साथ प्रवृत्ति में फल विशेष को कहते हुए सह प्रयोग प्रदर्शित करता है।५०।

अन्ये स्युर्ऋत्विजः प्रकृतिवत् ।५१। अपि वा यजमानाः स्युर्ऋत्विजामभिधानसंयोगात्तेषां स्याद्यजमानत्वम् ।५२। कर्तृसंस्कारो वचनादाधातृवदिति चेत् ।५३। स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्प्रकृतिवत् ।५४। स्वाम्याख्याः स्युर्गृहपतिवदिति चेत् ।५५। न प्रसिद्धग्रहणत्वादसंयुक्तस्य तद्धर्मेण ।५६। बहूनामिति तुल्येषु विशेषवचनं नोपपद्यते

।५७। दीक्षिताऽदीक्षित व्यपदेशश्च नोपद्यतेऽर्थयोर्नित्यभावित्वात् ।५८। अदक्षिणात्वाच्च ।५६। द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायि चोदनेन यजमानबहुत्वेन च: सत्रशाब्दभिसंयोगात् ।६०।

अन्य ऋत्विज प्रकृतिवत् होते हैं। ज्योतिष्टोम में प्रकृति में अन्य करने वाले उपादेय समाम्नात होते हैं—इस तरह से यहाँ पर भी अन्य उपादेय होते हैं ।५१। ऋत्विज भी यजमान ही होते हैं क्योंकि ऋत्विजों के अभिधान से संयोग होता है। अतएव उनको भी यजमानत्व होता है। सब का उन पदार्थों से अभिसम्बन्ध होता है। वहाँ वचन है कि अध्वर्यु गृहपति को दीक्षित करके ब्रह्मा को दीक्षित करता है। इसके पश्चात् होता को और तत्पश्चात् उद्गाता को दीक्षित करता है। इस तरह सभी ऋत्विज दीक्षा सम्बन्ध से उपक्रान्त होने हैं ।५२। इन सबका वचन सामर्थ्य से दीक्षा संस्कार का विधान होता है यह आधा तृवत् अनुपपन्न नहीं है। आधान में ऋत्विजों का अन्यत्र जैसा संस्कार होता है वैसा ही यहाँ पर भी होगा ।५३। आधानवत् ऋत्विजों का संस्कार होगा। तह कथन अनुपपन्न है क्योंकि ऋत्विजों की अप्राकृत योजना अथवा दीक्षा का विधान होता है। वहाँ क्रम मात्र का ही विधान है ।५४। ये अध्वर्यु आदि स्वाम्याख्य गृहपति की भाँति हो जावें—यदि ऐसा कहा जाता है तो उचित नहीं है। ।५५। आध्वर्यवादि कर्म करने वालों में कर्म निमित्तक ये आख्या प्रसिद्ध है। यजमान करने वालों में नहीं हैं ऋत्विग्धर्म से असंयुक्त स्वामी की ही गृहपति यह आख्या होती है ।५६। यदि सब गृहपति का कर्म करें अन्य कर्म नहीं तो निवेश के अभाव होने से गृहपति में विशेष वचन की अनुपपत्ति होती है। इसलिए विशेष वचन से वे ही ऋत्विज गम्यमान होते हैं ।५७। दीक्षितादीक्षित का व्यपदेश उप-

पन्न नहीं होता है क्योंकि सत्र में जितना भी कार्य है वह सब दीक्षितों के द्वारा ही किया जाता है और अहीन में अदीक्षितों के द्वारा होता है। तभी व्यपदेश उपपन्न होता है अन्यथा नहीं होता। इसलिए व्यपदेश में सत्र में स्वयं कर्त्तृत्व है। यह जाता है ।५८। सत्र की स्वयं कर्त्तृकता दक्षिणा के अभाव होने से सिद्ध होती है। वहाँ गौ—वस्त्र और हिरण्य की दक्षिणा का अभाव है। परकर्त्तृकत्व में दक्षिणाभाव उपपन्न नहीं होता है ।५९। द्वादशाह को सत्र और अहीन दोनों प्रकार के लक्षणों से संयुत कहा जाता है। आसनोपाय चोदना से और यजमानों के बहुत्व से द्वादशाह का सत्रत्व अवगम्यमान होता है। तृत्सहचरित लिङ्ग के दर्शन से सहचरित में प्रत्यय होता है ।।६०।।

यजतिचोदनादहीनत्वं स्वामिनां चाऽस्थितपरिमाणत्वात् ।६१। अहीने दक्षिणाशास्त्रं गुणत्वात् प्रत्यहं कर्मभेदः स्यात् ।६२। सर्वस्य वैककर्म्यात् ।६३। पृषदाज्यवद्वाऽह्नां गुणशास्त्रं स्यात् ।६४। ज्योतिष्टोम्यस्तु दक्षिणाः, सर्वासामेककर्मत्वात्प्रकृतिवत्, तस्मात् तासां विकारः स्यात् ।६५। द्वादशाहे तु वचनात्प्रत्यहं दक्षिणाभेदस्तत्प्रकृतित्वात्परेषुः तासां सङ्ख्याविकारः स्यात् ।६६। परिक्रयाविभागाद्वा समस्तस्य विकारः स्यात् ।६७। भेदस्तु गुणसंयोगात् ।६८। प्रत्यहं सर्वसंस्कारः प्रकृतिवत् सर्वासां सवशेषत्वात् ।६९। एकार्थत्वान्नेति चेत् ।७०। उत्पत्तौ कालभेदात् ।७१। विभज्य तु संस्कारवचनाद्द्वादशाहवत् ।७२।

जहाँ पर यजति चोदना है और कर्त्तृ परिमाण नियत नहीं है वहाँ ही अहीन होता है। सत्रों में नियत परिमाण होता है ।६१। अहीन में प्रति दिन दक्षिणा शास्त्र भिन्न होता है क्योंकि वहाँ दक्षिणा गौण है और दिनों की प्रधानता होती है। दक्षिणा की अधिकता से

फल की भी अधिकता होती है। इसलिए भेद अवगम्यमान होता है। ।६२। प्रत्यह दक्षिणा भेद है। यह नहीं है क्योंकि दक्षिणा का ऋत्विजों का आनमन यह एक ही कार्य होता है।६३। एक बार ही दक्षिणा देनी चाहिये—यह नहीं है। दक्षिणाओं का प्रतिदिन उच्यमान यह भेद हो सकता है जैसे कि पृषदाज्य में होता है। वहाँ दिनों का गुण विधीयमान होता है ।६४। ज्योतिष्टोम्य दक्षिणा साङ्ग कर्म राशि को अङ्गीकार करके दी जाती है। इससे उनका विकार नहीं है। सहस्रायुन—यह विशेष उच्यमान जो दक्षिणा दी जाती है उनका यह विकार है। यह गम्यमान होता है ।६५। द्वादशाह में तो प्रत्यक्ष वचन होने से प्रति दिन यह विशेष भिद्यमान होता है। इससे पौण्डरीक में प्रतिदिन चोदक प्राप्ति से प्रसक्त दक्षिणाओं का विशेष गम्यमान है उसी भांति कर्मावयव सम्बद्धों का विकार गम्यमान होता है।६६। पौण्डरीक शब्द के संयोग से परिक्रय विशेष उच्यमान होता है। समुदाय पौण्डरीक शब्द वाच्य है अवयव नहीं है। परिक्रय के विभाग न होने से समस्त का ही विकार होता है। समुदाय को अङ्गीकार करके क्रियमाण परिक्रय समुदाय की निवृत्ति तक ही होता है।६७। द्वादशाह में भी क्रतु के एकत्व होने से एक ही परिक्रय होता है। जो भेद है वह तो वचन में सुत्या सम्बन्ध प्रयोजन वाला और दक्षिणा संस्कार प्रयोजन वाला ही होता है ।६८। प्रकृति में जिस प्रकार से समस्त दक्षिणा उस समय में संस्कृत होती है उसी तरह यहाँ पर भी संस्कार करना चाहिये क्योंकि ग्रहों की प्रधानता और दक्षिणा का तद्गुण भाव होता है। इससे प्रत्यह सर्व संस्कार ही सिद्ध होता हैं ।६९। दक्षिणाओं के एकार्थत्व होने से प्रत्यह संस्कार की आवश्यकता नहीं है—यदि कोई यह कहता है तो वह उचित नहीं है।७०। दक्षिणाओं की उत्पत्ति में विशिष्ट काल का

सम्बन्ध श्रूयमाण होता है। अतः भेद से ही संस्कार करना चाहिये। ।७१। पौण्डरीक द्वादशाह प्रकृति वाला है। ज्योतिष्टोम प्रकृति नहीं है-- ऐसा वचन है। अतएव विभाग करके ही परिक्रय के एकत्व होने पर भी भेद से संस्कार करना चाहिये ।७२।

लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे सर्वत्र प्रत्ययः स्याल्लिङ्गस्य सर्वगामित्वात् ।७३। यावदर्थं वाऽर्थशेषत्वादतोऽर्थेन परिमाणं स्यात्तस्मिंश्च लिङ्गसामर्थ्यम् ।७४। आग्नेये कृत्स्नविधिः ।७५। ऋजीषस्य प्रधानत्वादहर्गणे सर्वस्य प्रतिपत्तिः स्यात् ।७६। वाससि मानोपावहरणे प्रकृतौ सोमस्य वचनात् ।७७। तत्राहर्गणेऽर्थाद्वासः प्रकृतिः स्यात् ।७८। मानं प्रत्युत्पादयेत्प्रकृतौ येन दर्शनादुपावहरणस्य ।७९। हरणे वा श्रुत्यसंयोगादर्थाद्विकृतौ तेन ।८०।

आग्नेय की भाँति लिङ्ग के सर्वगामी होने से जहाँ पर लिङ्ग के द्वारा द्रव्य का निर्देश होता है वहाँ सर्वत्र लिङ्ग ही उपादेय होते हैं। मनु लिंग जितनी भी ऋचायें हैं वे सब दाशतयी से लाकर सामधेनियों में विनियुक्त करनी चाहिये ।७३। अर्थ शेष होने से सामधेनियों का ही उपादान होता है और वह कार्य अल्पों से भी सिद्ध हो जाता है सामधेनियों में लिंग सामर्थ्य है। अतएव जहाँ जितना लिंग का उपादान है वह उपादीयमान है सब नहीं हैं ।७४। आग्नेयों में इष्टि का बहुत्व होने से कृत्स्न विधानयुक्त ही होता है। इससे यह यहाँ पर पृष्ठान्त नहीं होता है ।७५। ऋजीष के प्रधान होने से कृत्स्न का प्राशन युक्त होता है। अहर्गण में यह हेतु अपदिष्ट होता है क्योंकि यहाँ तो अर्थ शेष होता है ।७६। ज्योतिष्टोम में वचन की सामर्थ्य से वास द्वारा उपावहरण एवं वास में मान होता है। वहाँ पर पूर्वोत्तर पक्षों से प्रयोजन नहीं होता है ।७७। अहर्गण में अहों के बहुत्व होने से

अर्थ से वास का उत्पादन करना चाहिए ।७८। प्रकृति में उपावहरण के दर्शन से मान का प्रत्युत्पादन करना चाहिए ।७६। अथवा हरण में श्रुति का संयोग नहीं है किन्तु अर्थ से उसके द्वारा किया जाता है, वह वाचनिक नहीं है । अतः हरण काल में ही उत्पादन करना चाहिए ।८०।

सप्तम पाद

पशावेकहविष्ट्वं समस्तचोदितत्वात् । १ । प्रत्यङ्गं वा ग्रहवदङ्गानां पृथक्कल्पनत्वात् । २ । हविर्भेदात् कर्मणोऽभ्यासस्तस्मात् तेभ्योऽवदानं स्यात् ।३। आज्यभागवद्वानिर्देशात्परिसङ्ख्यास्यात् । ४ । तेषां वा द्व्यवदानत्वं विवक्षन्नभिनिर्दिशेत्पशोः पञ्चावदानत्वात् । ५ । असंशिरोनूकसक्थिप्रतिषेधश्च, तदन्यपरिसङ्ख्यानेऽनर्थकः स्यात्,प्रदानत्वात्तेषां निरवदानप्रतिषेधः स्यात् । ६ । अपि वा परिसंख्या स्यादनवदानीयशब्दत्वात् ।७। अब्राह्मणे च दर्शनात् ।८। शृताशृतोपदेशाच्चतेषामुत्सर्गवदयज्ञशेषत्वं सर्वेषां न श्रपणं स्यात् । ६ । इज्याशेषात्स्विष्टकृदिज्येत प्रकृतिवत् ।१०।

अग्निषोम में समस्त पशु हवि होता है, क्योंकि वहाँ पर इसी प्रकार की चोदना होती है और पृथक् अङ्गों की अग्निषोमीयता नहीं है ।१। अथवा अङ्गों के पृथक् प्रकल्पना होने से प्रत्यङ्ग में हवि का भेद होता है । अतः कृत्स्न पशु हवि नहीं होता है ।२। हवियों के भेद से अवदान कर्मों का ही अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि हृदयादि भिन्न हवियाँ हैं । अतएव सबका ही अवदान करना चाहिए ।३। जिस प्रकार से गृहमेधीय में पञ्चम पक्ष में आज्य भाग का ग्रहण है, उसी भाँति यहाँ पर भी परिसंख्यार्थ सबका ग्रहण होता है ।४। पशु के पाँच अवदान श्रूयमाण होते हैं अतः परिसंख्यार्थ कथन नहीं है, इसमें स्वार्थ प्रहाण-परार्थ कल्पना और प्राप्त बाध — ये तीन दोष होते हैं । इससे हृदयादि के व्यवदान की विपक्षा करते हुए अभिनिदेश किया जाता है । यहाँ अनु-

वाद नहीं है। इनका दो अवदान करके ही शब्द कृतार्थ होता है।५। अंस शिरोनूकादि के प्रतिषेध से परिसंख्या नहीं होती है। उनके निरवदान का ही प्रतिषेध किया जाता है। अतः यह सिद्ध है कि सभी अङ्गों द्वारा इज्या की जाती है।६। अवदान चोदक के द्वारा होमार्थ को प्राप्त करता है, अतः अवदानीय शब्द होने से पक्षान्तर में परिसख्या हो सकती है। भिन्न देवताओं का भिन्नाकृतियों से सम्बन्ध है। इसलिए अन्य अंग परिसंख्येय हो सकते हैं।७। अब्राह्मण में भक्ष के दर्शन होने से भी परिसंख्या होती है।८। श्रुताश्रुत के उपदेश होने से भी परिसंख्या होती है, अन्यथा सबका ही श्रपण होना चाहिये। परिसंख्या में उत्सर्गवत् अयज्ञशेषत्व होता है।९। इज्या के शेषभूत तीन अङ्गों से इज्या के करने पर त्रिशब्द प्रकृतिवत् अनुगृहीत होता है।१०।

त्र्यङ्गैर्वा शरवद्विकारः। ११। अध्यूध्नी होतस्त्र्यङ्-वदिडादविकारः स्यात्। १२। शेषे वा समवैति, तस्माद्रथवन्नियमः स्यात्। १३। अशास्त्रत्वात्तु नैवं स्यात्। १४। अपि वा दानमात्रं स्वाद्भक्षशब्दानभिसम्बन्धात् ।१५। दातुस्त्वविद्यमानत्वादिडाभक्षविकारः स्याच्छेषं प्रत्यविशिष्टत्वात्। १६। अग्नीधश्च वनिष्टरध्यूनीवत्। १७। अप्राकृतत्वान्मैत्रावरुणस्याभक्षत्वम्।१८।

त्रित्व से संबद्ध तीन अंगों के विशेष व्यवहाराभाव में साकाङ्-क्षत्व है कि कौन-से तीन हैं। अतएव यह इज्या शेषों की प्रतिपत्ति होती हैं।११। अध्यूध्नी होता के भक्ष का विकार होता हैं। त्र्यंगवत् आनुमानिक इडाभक्ष का निवर्त्तन करता है।१२। रथ की भाँति यहाँ पर भी होतृभाग में नियम होता हैं, यदि अपूर्वा अध्यूध्नी होती है तो वही इडा में होती है।१३। इडाभक्ष में अध्यूध्नी होती है—इसमें कोई शास्त्र नहीं है। इससे भक्ष विकार सिद्ध होता है।१४। पक्षान्तर में यहाँ पर भक्ष शब्द से अभि संयोग न होने से यह दान मात्र है, भक्ष विकार नहीं होता है।१५। दाता के अविद्यमान होने से यह दान नहीं है, इडा के

भक्ष का विकार ही होता है। शेष के प्रति जैसा यजमान है वैसा ही होता है।१६। अग्निध में वनिष्ठु भक्ष का विकार होता है। यहाँ चतुर्थी के सम्बन्ध से भक्षण का विधान है।१७। मैत्रावरुण को अप्राकृतत्व होने से अभक्षत्व होता है।१८।

स्याद्वाहोत्रध्वर्यु विकारत्वात्तयोः कर्माभिसम्बन्धात्।१९। द्विभागः स्याद् द्विकर्मत्वात्।२०। एकत्वाद्वैकभागः स्याद् भागस्याश्रुतिभूतत्वात्।२१। प्रतिप्रस्थातुश्च वपाश्रपणात्।२२। अभक्षो वा कर्मभेदात्तस्याः सर्वप्रदानत्वात्।२३। विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात्पुनः श्रुतिरनर्थकं स्यात्।२४। अपि वाऽऽग्नेयवद्द्विशब्दत्वं स्यात्।२५। न वा शब्दपृथक्त्वात्।२६। अधिकं वाऽर्थवत्त्वात् स्यादर्थवादगुणाभवे वचनादविकारे,तेषु हि यादर्थ्यं स्यादपूर्वत्वात्।२७। प्रतिषेधः स्यादिति चेत्।२८। नाश्रुत्वात्।२९। अग्रहणादिति चेत्।३०। न तुल्यत्वात्।३१।

अथवा उसका उन दोनों के साथ कर्माभिसम्बन्ध होने से अर्थापत्ति से भक्षत्व प्राप्त होता है। इसलिये वह भक्ष है।१९। अध्वर्यु-विकार होने से अध्वर्यु भाग को और होतृ विकार होने से होतृभाग को प्राप्त होता है, क्योंकि द्विकर्मत्व होता है।२०। दो भाग श्रूयमाण नहीं हैं, अतः एक ही भाग है, क्योंकि एक भाग से संस्कार करने पर द्वितीय भी वचन प्रामाण्य से हो जाता है।२१। प्रति प्रस्थाता वपा का श्रपण करता है, अतएव इसका भक्ष होता है।२२। वपा का सर्व प्रदानत्व होने से शेष के भाव न होने से वह भक्ष नहीं होता है, क्योंकि कर्मों का भेद है।२३। विकृति में प्राकृत विधि के ग्रहण होने से पुनः श्रुति अनर्थक हो जाती है।२४। आग्नेय की भाँति दो शब्दों से एक ही अर्थ कहा जाता है, उसी तरह से यहाँ पर भी द्विशब्दत्व होता है और योगान्तर चोदित नहीं किया जाता है।२५। आग्नेयावाहन की तुल्यता यहाँ नहीं होती है क्योंकि वहाँ भिन्न-भिन्न अग्नियों का शब्द पृथक्त्व से

आवाहन होता है। यहाँ पर तो प्रकृतिवत्—इस एक ही वचन से आज्य-भाग वत्ता अवगम्यमान होती है।२६। अथवा अधिक कर्मान्तरों की उत्पत्ति होती है। अर्थवाद के असंकीर्त्तन से यहाँ पर अर्थवादार्थता नहीं है। गुण संकीर्त्तन भी नहीं हैं, क्योंकि प्रतिषिद्ध प्रति प्रसवार्थ वचन होता है। इससे अपूर्वत्व होने से कर्मान्तर वचन है। इसलिये क्रम से प्रधान याग से ऊपर अपर आज्य भाग धर्मक दो याग विधीयमान होते है।२७। यदि कर्मान्तर वचन नहीं किन्तु परिसंख्या से प्रतिषेध है—ऐसा कहते हैं तो वह उचित नहीं है। क्योंकि यहाँ पर कोई भी प्रतिषेध वाची वचन श्रूयमाण नहीं होता है। प्रतिषेध में अस्वार्थ ग्रहण-परार्थ-कल्पना और प्राप्त वाध—ये तीन दोष हैं। इससे कर्मान्तर वचन ही यह है।२८।२९। अग्रहण से आज्य भागों का ग्रहण होता है, यदि ऐसा कहा जाता है तो उचित नहीं है, क्योंकि अन्य अंगों के तुल्य होने से चोदक के द्वारा अमृत आज्य भागों का ग्रहण नहीं होता है।३०।३१।

तथा तद्ग्रहणे स्यात्। ३२। अपूर्वतां तु दर्शयेद्ग्रहणस्यार्थंवत्त्वात्। ३३। ततोऽपि यावदुक्तं स्यात्।३४। स्विष्टकृति भक्षप्रतिषेधः स्यात् तुल्यकारणत्वात्। ३५। अप्रतितेधो वा, दर्शनादिडायां स्यात्। ३६। प्रतिषेधो वा विधिपूर्वस्य दर्शनात। ३७। शंय्विडान्तत्वे विकल्पः स्यात् परेषु पत्न्यनुयाजप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात्। ३८। नित्यानुवादो वा कर्मणः स्यादशब्दत्वात्। ३९। प्रतिषेध वच्चोत्तरस्य परस्तात् प्रतिषेधः स्यात्। ४०। प्राप्तेर्वा पूर्वस्य वचनादतिक्रमः स्यात्।४१। प्रतिषेधस्य त्वरायुक्तत्वात्तस्य घ नान्यदेशत्वम्। ४२। उपसत्सु यावदुक्तमकर्म स्यात्। ४३।

तुल्य के अग्रहण से उसका ग्रहण होता है और वह पृथक् पदार्थापेक्षी चोदक में होता है। अन्य अंगों का अग्रहण है। प्राकृत अपूर्वापेक्षी में वह उपपन्न नहीं होता है।३२। ग्रहण की अर्थवत्ता होने से गृह मेधीय की अपूर्वता दिखाते हैं।३३। इसलिये जिस-जिसका प्रत्यक्ष

वचन है उन सबमें पुनः विशेष गम्यमान होता है। इससे यावदुक्त होता है।३४। तुल्य कारण होने से स्विष्टकृत में भक्षों का प्रतिषेध होता है, क्योंकि वहाँ पर भक्षों की परिसंख्या है।३५। भक्षण के दर्शन से इडा में भक्ष होते है—यह गम्यमान है। दर्शनादर्शन में दर्शन प्रमाण होता है। इससे प्रतिषेध नहीं है।३६। जो दर्शन कहा गया है, वह विधिपूर्व भक्ष का ही होगा। अतः प्रतिषेध है।३७। यदि शंय्वन्ता ही नित्य है तो पत्न्यनुयाज प्रतिषेध जनर्थक हो जाता है। अतः अकर्त्तव्य परिसंख्यानार्थं ही यह वाक्यद्वय पूर्व वाक्यों से भिन्न ही है।३८। यहाँ पर शंय्विडान्तत्व एक ही कल्प है, क्योंकि वहाँ बिलकुल स्पष्ट वचन है। दूसरा कोई कल्प होता ही नहीं है क्योंकि उसके वचन का अभाव है। कर्म का नित्यानुवाद होता है।३९। उत्तर को प्रतिषेधार्थवत्व होने से परस्तात् प्रतिषेध होता है।४०। पूर्व की प्राप्ति का वचन से अतिक्रम होता है।४१। प्रतिषेध त्वरा से युक्त होता है, इस कारण से उस प्रतिषेध का अन्य देशत्व नहीं होता है। इससे पूर्व शंय्विडाओं से पर नहीं करना चाहिए। ।४२। उपसदों में जितना कहा गया है, नहीं करना चाहिए। प्रयाजानुयाजों का प्रतिषेध करके कृतार्थ शब्द अवशिष्ट चोदक प्राप्तों का वारण नहीं करता है। इससे अवशिष्ट सब करना चाहिए।४३।

स्रौवेण वाऽगुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ।४४। अप्रतिषेधो वा प्रतिषिध्य प्रतिप्रसववत् । ४५ । अनिज्या शेषस्य मुख्यदेवतानभीज्यत्वात् । ४६ । अवभृथे बर्हिषः प्रतिषेधाच्छेषकर्म स्यात् । ४७ ।

इस अवक्षिष्ट का स्रौव आधार आम्नात होता है और अन्य सबकी परिसंख्या होती है। वहाँ पर कोई विशिष्ट गुण श्रूयमाण नहीं होता है।४४। यह प्रतिप्रसव है, परिसंख्या नहीं है। अतः प्रतिषिद्ध का वर्णन करके सब करना चाहिये ।४५। प्राकृत शेष की अनिज्या है। मुख्य देवता का उपदेश करके प्रधान देवता का विधान किया जाता है। इस-

लिये प्राप्त मुख्य देवता अनभीज्य यहाँ पर उपदिष्ट किये जाते हैं। इससे अग्नि का ही प्रथम यजन होता है।४६। अवभृथ से वर्हि का प्रतिषेध होने से शेष समस्त कर्म करना चाहिये। वर्हि मात्र का प्रतिषेध करके कृतार्थ शब्द अन्य चोदक प्राप्त का वारण नहीं कर सकता है।४७।

आज्यभागयोर्वागुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ।४८। प्रयाजानां त्वेकदेशप्रतिषेधादवाक्यशेषत्व, तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् । ।४९। आज्यभागयोर्ग्रहणं नित्यानुवादो वा गृहमेधीयवत्स्यात् । ।५०। विरोधिनामेकश्रुतौ नियमः स्याद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाच्छरवच्च श्रुतितो विशिष्टत्वात् ।५१। उभयप्रदेशादिति चेत् ।५२। शरेष्वपीति चेत् ।५३। विरोध्यग्रहणात्तथा शरेष्विति चेत् ।५४। तथेतरस्मिन् ।५५। श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत् ।५६। ग्रहणस्यार्थवत्त्वादुभयोरप्रतिपत्तिः स्यात् ।५७। सर्वासाञ्च गुणानामर्थवत्त्वाद् ग्रहणमप्रवृत्तो स्यात् ।५८। अधिकं स्यादिति चेत् ।५९। नार्थाभावात् ।६०।

आज्य भागों को अगुणत्व होने से शेष का प्रतिषेध होता है। इससे शेष अङ्गों की ही परिसंख्या होती है, क्योंकि निगुण यह वचन इतर अङ्गों का ही परिसंख्यापक हो सकता है।४८। प्रयाजों के एक देश प्रतिषेध से अवाक्यशेषत्व होता है। इससे नित्यानुवाद होता है। इससे नित्यानुवाद होता है। इससे शेष की परिसंख्या नहीं है।४९। गृहमेधीय की भाँति यह अपूर्व अवभृथ है। प्रत्यक्षश्रुत आज्य भागों से एक वाक्यता प्राप्त कर निराकाङ्क्ष हो जाता है।५०। विरोधियों में अन्यतम के श्रूयमाण होने पर नियम होता है क्योंकि ग्रहण को अर्थवत्त्व होता है, अन्यथा प्राप्तानुवाद मात्र अनर्थक हो जायगा। श्रुति से विशिष्ट होने से शरवत् यहाँ भी होता है।५१। चोदक द्वारा उभय का प्रदेश होने से नहीं होता है। अतः नियम नहीं है, विकल्प होता है।५२। उभय के अध्यवसाय होता है तो शरों में भी कुश का निवर्त्तन नहीं

होता है ।५३। विरोधी शरों के अङ्गार क्रियमाण होने पर कुशा अंगत्व से उपदान की जा सकती है । इससे कुशाओं का निवर्त्तन होता है ।५४। इसी भाँति इतर खदिरादि में भी होता है ।५५। ऐसा मानने से चोदक श्रुति की अनर्थकता होगी, अतएव विकल्प होता है ।५६। ग्रहण के अर्थवत्त्व होने से दोनों की अतिप्रपत्ति होती है । इनका पलाशादि से विकल्प नहीं है ।५७। एवं जातीयक समस्त उत्पन्न चोदनाओं की द्रव्य-देवता के साथ ही उत्पत्ति है । चोदक के द्वारा द्रव्य देवता के अगृहीत होने पर विधि के द्वारा ही प्राप्ति होती है, अग्रहण से ग्रहण यहाँ सिद्ध होता है ।५८। यदि वचन प्रामाण्य से प्राप्त होने पर अधिक हो जाता है—यदि ऐसा कहा जाता है तो वह उचित नहीं है, क्योंकि प्रयोजन के अभाव होने से ऐसा नहीं हो सकता है ।५९।६०।

तथैकार्थविकारे प्राकृतस्याप्रवृत्ति, प्रवृत्तौ हि विकल्पः स्यात् ।६१। यावच्छ्रुतीति चेत् । ६२ । न प्रकृतावशब्दत्वात् । । ६३ । विकृतौ त्वनियमः स्यात्पृषदाज्यवद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वादुभयोश्च प्रदिष्टत्वाद्गुणशास्त्रं यदेति स्यात् । ६४ । ऐकार्थ्याद्वा-नियम्येत श्रुतितो विशिष्टत्वात् ।६५। विरोधित्वाच्च लोकवत् । । ६६ । क्रतोश्च तद्गुणत्वात् । ६७ । विरोधिनाञ्च तच्छ्रुताव-शब्दत्वाद्विकल्पः स्यात् । ६८ । पृषदाज्ये समुच्चयाद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वम् ।६९। यद्यपि चतुरवत्तीति तु नियमे नोपपद्यते । ७० । क्रत्वन्तरे वा तन्न्यायत्वात्कर्मभेदात् । ७१ । यथाश्रुतीति चेत् । ७२ । न चोदनैकत्वात् । ७३ ।

तथा एकार्थ के विकार में प्राकृत की अप्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति में विकल्प होता है ।६१। विकल्प सदोष है, अतः समुच्चय होता है ।६२। उभय बन्धन द्रव्य में प्राकृत वाक्य नहीं है और न प्रत्यक्ष श्रुत ही है । इससे समुच्चय का प्रमाण नहीं ही है । अतः प्राकृतयूप द्रव्य निर्वर्तित होता है ।६३। विकृति में तो विरोधियों में अन्यतम के गृह्य-

माण होने में नियम नहीं है क्योंकि ग्रहण की गुणार्थता है, पृषदाज्यवत्। दोनों के प्रदिष्ट होने से गुणोपदेश अनर्थक नहीं होता है ।६४। व्रीहि और यव एकार्थ हैं किन्तु व्रीहियों को श्रुति विशिष्ट हो जाने से यव प्राप्त नहीं होते हैं। क्योंकि श्रुति वाक्य से बलवती होती है ।६५। लोक की भाँति जो एक कार्य में विकल्प के साधक होते हैं, वे परस्पर में विरोधी होते हैं, और विरोधियों की कभी सह प्रवृत्ति नहीं होती है ।६६। व्रीहियों का श्रुति तथा वाक्य से गुण से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि क्रतु को तद्गुणत्व होता है। इससे अर्थ भेद परिहृत हो जाता है ।६७। विरोधियों में अन्यतम के प्रत्यक्ष श्रूयमाण होने पर और अन्य के चोदक द्वारा प्राप्त होने पर अशब्दत्व होने से विकल्प हो जाता है ।६८। पृषदाज्य में समुच्चय होने से ग्रहण को गुणार्थत्व होता है ।६९। यद्यपि चतुरवत्ती चतुरवत्त दर्शन उपपन्न नहीं होता है, यदि एवं जातीयकों में नियम होता है ।७०। अन्य क्रतु में कर्मक भेद होने से चतुरवत्त दर्शन प्राप्य होता है ।७१। जिसमें पञ्चावत्त श्रूयमाण होता है वहाँ पर चतुरवत्त का निवर्त्तन होता है, अन्यत्र नहीं—ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि चोदना का एकत्व होता है ।७२।



अष्टम पाद

प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारम्य विधाने प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात्। १। अर्थप्राप्तवदिति चेत्। २। न तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्दलक्षणम् ।३। अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य; विधिनामेकदेशः स्यात्। ४। अपूर्वे चार्थवादः स्यात् । ५। शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात् । ६। न चेदन्यं प्रकल्पयेत्प्रक्लृप्तावर्थवादः स्यादानर्थक्यात्परसामर्थ्यात् । ७। पूर्वैश्च तुल्यकालत्वात्। ८। उपवादश्च तद्वत्। ९।

चोदक के द्वारा प्रदिष्ट धर्म में और कहीं पर अनारम्भ्यवाद के के द्वारा प्राप्त होने पर प्रतिषेध होता है। प्राप्ति और प्रतिषेध ये दोनों ही प्रमाण वाले हैं। अतः प्राप्ति प्रतिषिद्ध होने से विकल्प होता है।१। जिस प्रकार लोक में अर्थ प्राप्त में प्रतिषेध होता है। विधि प्रतिषेध बलवान् है क्योंकि विधि के प्राप्त होने पर ही वह होता है। अतः विकल्प अवगम्यमान है—यदि ऐसा कहते हैं तो वह उचित नहीं है क्योंकि तुल्य हेतु होने से प्राप्ति और प्रतिषेध दोनों ही शब्द लक्षण हैं और लोक में दोनों अर्थ लक्षण होते हैं ।२।३। 'अपितु'—इससे पक्ष की व्यावृत्ति होती है। प्रतिषेध प्रदेशानारम्य विधान का वाक्य शेष है। विकल्प के अन्याय्य होने से विधियों का एक देश होता है।४। अपूर्व सोम में आज्यभाग प्राप्त नहीं होते हैं। इससे वहाँ प्रतिषेध नहीं है। अतः अपूर्व अर्थ वाद होता है।५। प्रथमाधिकरण में न शब्द पर्युदासार्थ है और द्वितीय में अर्थवादार्थ है तो किस लक्षण वाला प्रतिषेध है ऐसी—आशङ्का के समाधान के लिये शिष्ट्वा प्रतिषेध होता है-यह लक्षण कहा जाता है।६। यह प्रतिषेध से विकल्प है। यदि नहीं तो अन्य विधि को प्रकल्पित करना चाहिये। आनर्थक्य होने से वचन भी अर्थवादार्थ होता है। और परविधि से प्रतिषेध को सामर्थ्य होता है ।७। पूर्वाधिकरण के उदाहरणों को तुल्यकालत्व होता है। पहिले विधि प्रतिषेध कह कर उत्तर से उन दोनों का अभिसम्बन्ध किया जाता है। यही तुल्यता है।८। ब्रह्म का उपवाद किसी का अर्थवाद नहीं होता है और न वाक्यान्तरस्थ अर्थवाद किञ्चिन्मात्र प्रयोजन है। इससे उपवाद उसी की भाँति होता है अर्थात् विधान करके प्रतिषेधार्थ है।९।

प्रतिषेधादकमति चेत् ।१०। न शब्दपूर्वत्वात् ।११। दीक्षितस्य दान-होम-पाक-प्रति-षेधेऽविशेषात्सर्व-दान-होम-पाक-प्रतिषेधः स्यात् ।१२। अक्रतुयुक्तानां वा धर्मः स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।१३। तस्य वाऽप्यानुमानिकमविशेषात् ।१४।

अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्ः प्रतिषेधे विकल्पः स्यात् ।१५। अविशेषेण यच्छास्त्रमन्यायत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विमेषशिष्टं स्यात् ।१६। अप्रकरणे तु यच्छास्त्रं विशेषे श्रूयमाणामविकृतमाज्यभागवत्ः प्राकृन्प्रतिषेधार्थम् ।१७। विकारे तु तदर्थं स्यात् ।१८। वाक्यशेषो वा क्रतुनाऽग्रहणात् स्यादनारम्य विधानस्य ।१९। मन्त्रेष्ववाक्येशेषत्वं गुणोपदेशात् स्यात् ।२०।

यदि प्रतिषेध में सामगान का अकर्म है—ऐसा कहते हैं तो वह उचित नहीं है क्योंकि शब्दपूर्वत्व होने से — जैसे ही निन्दा नहीं करना चाहिये यह गम्यमान होता है वैसे ही उपदेश से कर्तव्य गम्यमान होता है ।१०।११। दीक्षित का जो दान-होम और पाक का ज्योतिष्टोम में प्रतिषेध है वह सभी दान होमादिका अविशेष होने से प्रतिषेध होता है क्योंकि वहाँ कोई विशेष वचन शब्द नहीं है ।१२। अथवा क्रतु के प्रत्यक्ष होने से अक्रतुयुक्तों का ही यह शासन होता है सबका प्रतिषेध नहीं है ।१३। अथवा वह क्रतु का जो आनुमानिक चोदक द्वारा प्राप्त है उसका ही प्रतिषेध होता है । प्रत्यक्ष श्रुत प्रतिषेध ही वास्तविक होता है ।१४। वाक्य शेष होने से इतरों का पर्युदास है । पर्यदास के न होने पर प्रतिषेध विकल्प से होता है ।१५। अविशेष होने से जो शास्त्र है वह आरात् विशेष शिष्ट होता है और जो विशेष रूप से शिष्ट है वह इससे असम्बद्ध होता है । विकल्प अन्याय्य होने से वह सामान्य विधान विशेष विधि में नहीं होता है । यहाँ पर विरोध संदिग्ध है । श्रौत के बलवान् होने से वर्त्मादि होमकावर्जन करके अन्य होमों में आहवनीय किया जाता है ।१६। अप्रकरण में जो शास्त्र आम्नात है और विकृति विशेष में अविकृत श्रूयमाण होता है ।।१७।। विकार में भी प्राकृत प्रतिषेधार्थ ही है ।१८। अनारम्य विधान का क्रतु के साथ ग्रहण न होने से पक्षान्तर में वाक्य शेष वैकल्पिक होता है ।१९। मन्त्रों में वाक्य शेषत्व नहीं होता

है क्योंकि गुणोपदेश है। प्रदान ही यहाँ पर प्रधान कर्म होता है। अन्य दर्विहोमों में भी स्वाहाकार होता है।२०।

अनाम्नाते दर्शनात् ।२१। प्रतिषेधाच्च ।२२। अग्न्यतिग्राह्यस्य विकृतावुपदेशादप्रवृत्तिः स्यात् ।२३। मासि ग्रहणं च तद्वत् ।२४। ग्रहणं वा तुल्यत्वात् ।२५। लिङ्गदर्शनाच्च ।२६। ग्रहण समानविधानं स्यात् ।२७। मासि ग्रहणमभ्यासप्रतिषेधार्थम् ।२८। उत्पत्तितादर्थ्याच्चतुरवत्त; प्रधानस्य होमसंयोगादधिकमाज्यम तुल्यत्वाल्लोकवदुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ।२९। तत्संस्कारस्रुतेश्च ।३०।

जहाँ दर्विहोम में स्वाहाकार आम्नात नहीं है वहाँ भी दर्शन होता है।२१। वहीं पर प्राप्ति पूर्वक प्रतिषेध से वाक्य का अध्यवसाय किया जाता है।२२। अग्न्याति ग्राह्य का विकृति में उपदेश होने से अप्रवृत्ति होती है।२३। यदि चोदक द्वारा प्राप्ति है तो मासि ग्रहण नहीं होता है।२४। अथवा तुल्यत्व होने से ग्रहण होता है।२५। अग्न्यति ग्राह्य की विकृति में उपदेश दिया जाता है उस प्रकृति में विधि समान होती है।२७। मासि ग्रहण अभ्यास के लिए प्रतिषेध के लिए होता है।२८। उत्पत्ति के तादर्थ्य से प्रधान द्रव्य से ही चतुर वदातव्य होता है। हो सके संयोग से अधिक आज्य होता है और वह वह पुरोडाश के अतुल्य होता है। लोक की भाँति उत्पत्ति के गुणभूतत्व होता है।२९। प्रधानावदान संस्कारार्थ में उपस्तरण और अवधारण श्रूयमाण होते हैं।३०।

ताभ्यां वा सह स्विष्टकृतः सहत्त्वे; द्विरभिधारणेन तराप्तिवचनात् ।३१। तुल्यवच्चाभिधाय सर्वेषुभक्त्यनुक्रमणात् ।३२। साप्तदश्यवन्नियम्येत ।३३। हविषो वा गुणभूतत्वात्तथाभूतविवक्षा स्यात् ।३४। पुरोडाशाभ्यामित्याधिकृतानां पुराडाशयोरुपदेशस्तच्छ्रुतित्वाद्वैश्यस्तोमवत् ।३५। न त्वनित्याधिकारोऽस्ति; विधेनि- (धौ नि-) त्येन सम्बन्धस्तस्मादवाक्यशेषत्वम् ।३६।

सति च नैक देशेनकर्तुः प्रधानभूतत्वात् ।३७। कृत्स्नत्वात्तु तथा स्तोमे ।३८। कर्त्तुः स्यादिति चेत् ।३९। न गुणार्थत्वात्प्राप्ते न चोपदेशार्थः ।४०।

अथवा उपस्तरण-अभिधारण इन दोनों के साथ द्विर्हविका अवदान करके चतुरवत्त करना चाहिये क्योंकि स्विष्टकृत के सकृत्व में दो के अभिधारण से तदाप्ति वचन होता है ।३१। तुल्य की भाँति अभिधान करके अनुवाक्यादि से भक्ति वाद के द्वारा संकीर्त्तन करके उपस्तकरण आदि को दिखाते हैं ।३२। जिस तरह सामदृश्य को परिगणित विकृतियों में पुनः श्रूयमाण को वाक्य शेष से उनमें ही नियम्य किया जाता है उसी भाँति यहाँ भी होता है ।३३। अथवा हवि के भूतत्व होने से तथा भूत विवक्षा होती है ।३४। असोम याजियों को ही पुरोडाशों का विधान होता है । अतएव वैश्य स्तोमवत् उसकी श्रुति होने से अधिकृतों को ही पुरोडाशों का उपदेश होता है ।३५। अनित्य का अधिकार नहीं होता है क्योंकि विधि का नित्य से ही सम्बन्ध है इससे वाक्यशेषत्व नहीं है । ।३६। अधिकार शेष के होने पर पुरोडाशों का असोमयाजी से कर्त्तृ सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है और अधिकार शेष होने पर प्रधानभूत कर्त्ता का निर्देश किया जाता है ।३७। वैश्यस्तोम के साथ तो वैषम्य होता है क्योंकि कृत्स्न होता है वैश्यस्तोम किसी का एक देश नहीं है । वहाँ फल होता है ।३८। अङ्ग कर्त्ता का उपदेश है--यदि यह कहते हैं तो वह अनुचित है क्योंकि जब कर्त्ता प्रधान कर्त्ता का ही क्रिपोप देश से गुण भूत प्राप्त होता है । प्राप्त के पुनः उपदेश में कुछ भी प्रयोजन नहीं है । इससे कर्मान्तरों की उत्पत्ति होती है ।३९।४०।

कर्मणोस्तु प्रकरणे; तन्न्यायत्वाद् गुणानां लिंगेन कालशास्त्रं स्यात् ।४१। यदि तु सान्नाय्यं सोमयाजिनो न ताभ्यां समवायोऽस्ति विभक्त कालत्वात् ।४२। अपि व विहितत्वाद्-

गुणार्थायां पुनः श्रुतौ सन्देहे श्रुतिर्द्विदेवतार्था स्यात्तथाऽनभिप्रेतस्तथाऽऽग्नेयो; दर्शनाकदेकदेवते ।४३। विधि तु बादरायणः ।४४। प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा ।४५। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।४६। उपांशुयाजमन्तरा यजतीति हविर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्यथाकामी प्रतीयेत ।४७। ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगात् ।४८। तद्वच्च देवतायां स्यात् ।४९। तान्त्रीणां प्रकरणात् ।५०। धर्माद्वा स्यात्प्रजापतिः ।५१।

इन कर्मों के प्रकरण में न्याय्य होने से काल कहा जाता है। गुणों का लिङ्ग से काल शास्त्र होता है । उस काल में पुरोडाशों से ही यजन करना चाहिये ।४१। यदि सोमयाजियों का सान्नाय्य है और कालार्थ श्रवण नहीं हो सकता है। विभक्त काल होने से उन पुरोडाशों का सांन्नाय्य का समवाय प्राप्त नहीं होता है ।४२। 'अपिवा' इससे पक्ष की व्यावृत्ति होती है कि यह कर्मान्तर चोदना नहीं है। विहित होने से आग्नेय का अनुवाद है। पुनः श्रुति होने में सन्देह होने पर श्रुति दो देवताओं के अर्थ वाली होती है। जो अनभिप्रेत है वह आग्नेय उच्चरित होता है। उभयत्र विधान और उसका दर्शन है ।४३। दोनों की काल विधि होती है—ऐसा वादरायण का मत है ।४४। 'वा' शब्द से पक्ष का व्यावर्त्तन होता है—यह कालविधि, अधिक कर्मों की उत्पत्ति आग्नेय का अनुवाद और ऐन्द्राग्न की विधि नहीं है कि प्रतिषिद्ध विज्ञान से दोनों का अनुवाद है ।४५। अन्यार्थ भी इस अर्थ को दिखाता है ।४६। उपांसुयाजमन्तराय जति'—यह दर्शपूर्णमासों में आम्नात होता है। इसमें हविर्लिङ्ग की अश्रुति होने से यथा कामी की प्रतीति होती है ।४७। सब का संयोग होने से अथवा ध्रौन आज्य से यजन करना चाहिये ।४८। जो द्रव्य के प्रति अनियम है उसी भाँति देवता में भी अनियम होता है। इससे अनियम ही सिद्ध होता है ।४९। देवता के विना याग नहीं होता है और वचन के बिना देवता नहीं होता है। इससे प्राकृत तन्त्रभवों

अन्यतम देवता के साथ वाक्यता करके देवता का अवगम किया जाता है ।५०। धर्म से प्रजापति देवता होता है । उसका उपांशुत्व ही धर्म है । जो कुछ भी यज्ञ में प्राजापत्य किया जाता है वह उपांशु ही किया जाता है ।५१।

देवतायास्त्वनिर्वचन; तत्र शब्दस्येह मृदुत्वं; तस्मादिहा-धिकारेण ।५२। विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नादमावास्याहविश्च स्याद्धौत्रस्य तत्र दर्शनात् ।५३। अपि वा पौर्णमास्यां स्यात् प्रधानशब्दसंयोगाद्, गुणत्वान्मन्त्रो यथाप्रधानं स्यात् ।५४। आनन्तर्यं च सान्नाय्यस्य पुरोडाशेन दार्शयत्यमावास्याविकारे ।५५। अग्नीषोमविधानात्तु पौर्णमास्यामुभयत्र विधीयते ।५६। प्रतिषिद्धचविधानाद्वा विष्णुः समानदेशः स्यात् ।५७। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।५८। न चानङ्ग सकृच्छ्रुतावुभयत्र विधीयेता-सम्बन्धात् ।५९। गुणानां च परार्थत्वातप्रवृतौ विधिलिङ्गानि-दर्शयति ।६०।

प्रजापति देवता नहीं होता हैं क्योंकि तन्त्रीयों का मुख्य अग्नि देवता है । प्रजापति देवता का अनिर्वचन धर्म तष्णीभाव है । प्रजापति का उपांशुत्व धर्म अनुवाद स्वरूप होने से अर्थवाद ही है । यहाँ उपांशु याज में शब्द का मृदुत्व होता है ।५२। वा शब्द से पक्ष की निवृत्ति करते हैं । अग्नि देवता भी नहीं है, किन्तु हौत्र आम्नात होने से विष्णु देवता होता है अमावास्या में वैष्णव हौत्र का आम्नात है । अमावस्या में उपांशुयाज भी होता है ।५३। विष्णु का देवता होना गृहीत है किन्तु अमावास्या में उपांशुयाज नहीं होता है, वह पौर्णमासी में होता है क्यों-कि उसका विधायक शब्द पौर्णमासी में ही है । उपांशुयाज में मन्त्र का विधान होने से जहाँ पर उपांशुयाज है वहाँ मन्त्र है यह गम्यमान होता है नकि जहाँ मन्त्र है वहाँ उपांशुयाज है ।५४। आमावस्या विकार सांनाय्य का आन्तर्य पुरोडाश के द्वारा देखा जाता है उपांशुयाज का नहीं

देखा जाता है। अतः अमावास्या में उपांशुयाज नहीं होता है।५५। पौर्णमासी में ही उपांशुयाज होता है—यह कोई नियम नहीं है। यह दोनों जगह होता है और देवता का विकल्प होता है। अग्निषोम देवत्य उपांशुयाज पौर्णमासी में और मन्त्राम्नात में वैष्णव अमावास्या में होता है।५६। अथवा प्रतिषेध करके विधान होने से पौर्णमासी में ही उपांशुयाज होता है और वहाँ पर विष्णु आदि देवता है।५७। पौर्णमासी में चतुर्दश आहुतियों के हवन के विधान से अन्यार्थं भी इसी अर्थ को दिखाता है कि अमावास्या में उपांशुयास नहीं होता है।५८। प्रधान का प्रधान से सम्बन्ध न होने से एकबार श्रूयमाण अनङ्ग उभयत्र नहीं होता है। अङ्ग ही प्राधानार्थत्व होने से दोनों जगह होता है।५९। प्रधानों में गुणों के परार्थत्व होने से प्रकृति में विधि के लिङ्गों को दिखाता है। इससे अमावस्या में उपांशुयाज का अभाव सिद्ध है।६०।

विकारे चाश्रुतित्वात्।६१। द्विपुरोडाशायां स्यादन्तरा-(लगुणा-) र्थत्त्वात्।६२। अजामिकरणार्थत्वाच्च।६३। तदर्थमिति चेन्न तत्प्रधानानत्वात्।६४। अशिष्टेन च सम्बन्धात्।६५। उत्पत्तोस्तु निवेशः स्याद्गुणस्यानुपरोनेनार्थस्य विद्यमानत्वाद्विधानादन्तरार्थस्य, नैमित्तिकत्वात् तदभावेऽश्रुतौ स्यात्।६६। उभयोस्तु विधानात्।६७। गुणानाश्च परार्थत्वादुपवेषवद् यदेति स्यात्।६८। अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुराडाशौ।६९। प्रशंसार्थमजामित्वम्।७०।

अमावस्या विकार में उपांशुयाज श्रूयमाण नहीं होता है क्योंकि आग्नेय के अनन्तर सांनाय्य को दिखाया जाया है उपांशुयाज को नहीं दिखाते हैं।६१। अन्तरा संयोग से श्रूयमाण होने के कारण सोम से पहिले द्विपुरोडाश की दशा में ही पौर्णमासी में उपांशुयाज होता है।६२। अजामिकरणार्थत्व होने से भी द्विपुरोडाश दशा में ही उपांशुयाज सिद्ध होता है।६३। अन्तरार्थत्व होने से द्विपुरोडाश दशा में ही होता है यह

नहीं हैं क्योंकि पौर्णमासी प्रधानतया है और अन्तरार्थ गुणतया है। इससे अंतराल के न होने पर एक पुरोडाश की दशा में उपांशुयाज करना चाहिये।६४। अश्रुत अन्तरालार्थ के साथ उपांशुयाज का सम्बन्ध करना चाहिये।६५। गुणत्व के अन्तराल श्रूयामाण नहीं होता है। उत्पत्ति वाक्य के द्वारा ही अन्तराल में उपांशुयाज निविष्ट होता है और उत्पत्ति वाक्य से इसका अन्तराल गुण श्रूयमाण होता है। इससे इस गुण के अनुपरोध से गुणी का निवेश किया जाता है। एक पुरोडाश दशा में अक्रियमाण अनर्थक नहीं होता है। अंतराल द्विपुरोडाश दशा में ही होता है। अन्तरालार्थ के अभाव में यदि द्विपुरोडाश दशा श्रूयमाण नहीं हो तो एक पुरोडाश दशा में होता है ६६। विधान होने से एक पुरोडाश दशा और द्विपुरोडाश दशा दोनों ही पौर्णमासियों में उपांशुयाज होता है।६७। गुणों के परार्थ होने से उपवेषवत् पौर्णमासी में श्रूयमाण उपांशुयाज पौर्णमासीत्व होने के कारण एक पुरोडाश दशा में होता है।।६८। एक पुरोडाश दशा में उपांशुयाज को वैगुण्य नहीं होता है। दो पुरोडाशों के मध्य में काल अवगम्यमान होता है। पूर्व आग्नेय है उससे उत्तर जो है वही काल है।६९। जैसे अमृतार्थत्व होता है उसी भाँति अजामित्व प्रशंसा ही उपांशुयाज की होती है। इसी फल का यहाँ विधान नहीं होता है।७०।



एकादशोऽध्याय

प्रथम पाद

प्रयोजनाभिसम्बन्धात्पृथक् सतां ततः स्यादककर्म्यमेक-शब्दाभिसंयोगात् ।१। शेषवद्वा प्रयोजनं प्रतिकर्म विभज्येत ।२। अविधानात्तु नैवं स्यात् ।३। शेषस्य हि परार्थत्वाद्विधानात्प्रति-प्रधानभावः स्यात् ।४। अङ्गानान्तु शब्दभेदात्क्रतुवत्स्यात् फला-न्यत्वम् ।५। अर्थभेदस्तु तत्राथकहैकार्थ्यादैक कर्म्यम् ।६। शब्द-भेदान्नेति चेत् ।७। कर्मार्थत्वात्प्रयोगे ताच्छब्द्यं स्यात्तदर्थत्वात् ।८। कर्तृविधेर्नानार्थत्वाद्गुणप्रधानेषु ।९। आरम्भस्य शब्दपूर्व-त्वात् ।१०।

इन आग्नेय आदि के पृथग्भूतों का भी ऐककर्म्यत्व होता है, क्योंकि सबका प्रयोजन से अभिसम्बन्ध होता है। कर्म शब्द से यहाँ पर फल कहा जाता है। ऐककर्म्य का तात्पर्य एक फल ही होता है। यहाँ समुदितों से फल गम्यमान होता है, भेद से नहीं होता ।१। अथवा शेष-वत् प्रति कर्म फल का भेद होता है। समुदाय शब्द संयोग हेतु अवैशे-षिक ही होता है ।२। यहाँ पर याग का उद्देश्य करके फल का विधान नहीं होता है प्रत्युत फल का उद्देश्य करके ही याग का विधान है। विधीयमान का विशेषण नहीं होता है। दर्श पूर्णमास शब्द को याग वचनत्व होने से प्राप्ति है, अतः कुछ भी अनर्थक नहीं है ।३। शेष अनु-लेपनादि का परार्थ से पुरुष संस्कारकत्व होने के कारण से विधान होता है। इसलिए अनुलेपनादि प्रतिविधान भिद्यमान होता है ।४। जिस प्रकार से सौर्यादि क्रतुओं में पृथक् ही फल का सम्बन्ध होता है, उसी भाँति शब्दभेद होने से अङ्गों का प्रजोजनान्यत्व होता है अर्थात् अङ्ग-

अङ्ग का पृथक फल होता है ।५। क्रतुओं में तो फल का भेद युक्त है, क्योंकि वहाँ शब्द से फलों के भेद उक्त होते हैं वहाँ पर तो समस्त अङ्गों का एक ही अर्थ होता है, वह है—प्रधानों में उपकार । अतः ऐकार्थ्य होने से अङ्गों का एक ही कार्य है ।६। चोदना भेद से अङ्गों का अर्थ भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि एकार्थत्व होने परिहृत होता है । ।७। कर्मार्थत्व होने से उसी प्रधान प्रयोग वचन शब्द से ही अंगों का भी प्रयोग कहा जाता है । इसलिए जिस भाँति प्रधानों का एकशब्दाभि-संयोग से फलैक्य होता है, वैसे ही अंगों का भी हो सकता है ।८। प्रधान और अंगों में कर्म विधि की नानार्थता होती है, क्योंकि प्रधान विधि तो फलार्थ होती है और अंग विधि प्रधानार्थ होती है । इसलिए अंग प्रधान चोदना से अनुग्रहीत नहीं होते हैं ।९। व्यापार को शब्द पूर्वत्व होने से प्रधान प्रयोग वचन से ही अंगों का प्रयोग विधीयमान होता है ।१०।

एकेनापि समाप्येत कृतार्थत्वाद्, यथा क्रत्वन्तरेषु प्राप्तेषु चोत्तरावत्स्यात् ।११। फलाभावादिति चेत् ।१२। न कर्मसंयो-गात्प्रयोजनमशब्ददोषं स्यात् ।१३। ऐकशब्द्यादिति चेत् ।१४। नार्थपृथक्त्वात्समत्वादगुणत्वम् ।१५। विधेस्त्वेकश्रुतित्वादपर्या-यविधानान्नित्यवच्छ्रुतभूताभिसंयोगादर्थेन युगपत्प्राप्तेर्यथाक्रमं स्वशब्दो निवीतवत्तस्मात्सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात् ।१६। तथा कर्मोपदेशः स्यात् ।१७। क्रत्वन्तरेषु पुनर्वचनम् ।१८। उत्तरा-स्वश्रुतित्वाद्विशेषाणां कृतार्थत्वात्स्वदोहे यथाकामी प्रतीयेत । ।१९। कर्मण्यारम्भाभाव्यत्वात्कृषिवत् प्रत्यारम्भं फलानि स्युः ।२०।

जिस प्रकार से सौर्यादि क्रत्वन्तरों में जितने कर्म किये जाते हैं उतनों ही से फल की प्राप्ति होती है, उसी तरह अंगों के एक देश से भी कर्म का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि उतने से कृतार्थता हो जाती

है : जिसके पास जितनी भी गौयें हैं उतनी ही का दोहन किया करता है। अंगों का भी यही प्रकार होता है ।११। सम्पूर्णतया न करने से फल का अभाव होता है—यह कथन यदि है तो वह उचित नहीं है क्योंकि प्रधान कर्म से फल का संयोग होने से अंगों के वैकल्य में फल का अभाव होता है। अंगों का तदाकाङ्क्षा से ग्रहण है और वह आकाङ्क्षा एक से भी कृतार्थ हो जाती है—यदि ऐसा कहते हैं तो अशब्द दोष होता है। दर्श पूर्णमास के फलार्थत्व में यह दोष नहीं है ।१२-१३। एकशब्दय होने से दर्शपूर्णमासों से तत्फल है समिदादि से नहीं है — ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि अर्थ पृथक्त्व होता है और सम होने से अगुणत्व भी है ।१४-१५। एकदेश से भी अंगों के प्रयोग का कथन उचित नहीं है, क्योंकि विधि का एक श्रुतित्व होने से सर्वाङ्गोपसंहार से ही प्रयोग होता है। पर्याय से इन अङ्गों का विधान न होने से भी एकदेशापेक्षा युक्त नहीं है। अर्थ के द्वारा एक ही साथ प्राप्ति होने के कारण से भी नित्यवत् श्रुतों का भी एक देश अपेक्षित नहीं होता है। जिस तरह ऋत्विग् विशेष के अभाव से सबके संनिधान होने से सभी ऋत्विज निवीत होते हैं, उसी भाँति यहाँ पर भी सबके प्रयोग से प्रवृत्ति होती है ।१६। ऐसा करने पर आहुतियों की संख्या भी पाक्षिकी नहीं होगी। ।१७। क्रत्वन्तरों में पार्थक्य युक्त ही है। क्योंकि वहाँ परस्पर में अपेक्षा रहितों का कार्य होता है। पूर्व विधान की परिसमाप्ति होने पर ही उत्तर विधान का पृथक्त्व से विधान किया जाता है। इसलिए क्रतुओं से यहाँ वैषम्य है ।१८। जो प्राप्तों में उत्तरावत् कहा गया है, वह वहाँ अश्रुतित्व होने से उचित है किन्तु यहाँ पर उत्तराओं के दोहन का विधान नहीं होता है। किन्तु कृतार्थत्व होने से प्राप्त अर्थ का अनुवाद होता है। विधीयमान दो अर्थों में वाक्य भिन्न होता है। अतः यथाकामी की प्रतीति होती है ।१९। काम्य कर्म में प्रतिप्रयोग फल का भेद होता है क्योंकि कर्म के प्रयोग से फल भाव्य होता है। कृषि की भाँति प्रति आरम्भ फल हुआ करते हैं ।२०।

अधिकारश्च सर्वेषां कार्यत्वादुपपद्यते विशेषः ।२१। सकृत्तु स्यकृतार्थत्वादङ्गवत् । २२ । शब्दार्थश्च तथा लोके ।२३। अपि वा संप्रयोगे यथा कामी प्रतीयेताश्रुतित्वाद्विधिषु वचनानि स्युः । ।२४। ऐकशब्द्यात्तथाङ्गेषु ।२५। लोके कर्माऽर्थलक्षणम् ।२६। क्रियाणामर्थशेषत्वात्प्रत्यक्षम् (त्यक्षोऽ) तस्तन्निर्वृत्याऽपवर्गः स्यात् ।२७। धर्ममात्रे त्वदर्शनाच्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात् ।२८। क्रतुवद्वानुमानेनाभ्यासे फलभूमा स्यात् ।२९। सकृद्वा कारणैकत्वात् ।३०।

समस्त कर्मों का पुनः-पुनः किए हुओं का कार्यत्व होने से विशेष अधिकार होता है। इसलिए जितनी भी इच्छा है अभ्यास करे ।२१। काम्य कर्म का तो एक बार ही अंगवत् कृतार्थ होने से प्रयोग करना चाहिये ।२२। लोक में भी उसी प्रकार से शब्द का अर्थ होता है। जैसे 'काष्ठ लाओ' यह कहने पर एक नार ही काष्ठ का आहरण किया जाता है ।२३। कर्म के सप्रयोग में एक बार ही अर्थी कर्म प्रयोग में प्रवृत्त होता है, फिर 'यथाकामी प्रतीयेत'–यह कैसे होता है –ऐसी आशङ्का में अश्रु-तित्व हेतु होता है। गवादि विधियों में वचन होते हैं। इन वक्यों में भेद होता है ।२४। अंगों का उपदेशक एक शब्द ही समस्त अंगों का उपग्रहण करता है, अतएव अंगों का एक बार प्रयोग होता है ।२५। लोकवत्—यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि लोक में तो कर्मार्थ लक्षण होता है। वहाँ तो बहुत बार कहने पर भी आहरण नहीं होता है ।२६। दृष्ट प्रयोजन क्रियाओं का तण्डुलनिवृत्ति पर्यन्त प्रयोग होता है। इनके प्रयोग में प्रत्यक्ष अर्थ निर्वत्तित होता है। अतः उसकी निर्वृत्ति से अप-वर्ग होता है ।२७। जहाँ पर दृष्ट कार्य नहीं होता है, वहाँ तण्डुल निवृत्ति से प्रयोजन नहीं होता है। क्योंकि तण्डुल कार्य पुरोडाशादि से अचोदित होता है। तण्डुलों के बिना भी प्रयोग दिखाई देता है और विशेषाभाव से गौण भी नहीं है। अतः शब्दार्थ से अपवर्ग होता है ।२८। अभ्यास

करना चाहिये, क्योंकि अभ्यास में फल भूमा होता है। यह अनुमान से जाना जाता है। जिस प्रकार से सौर्यादि में फल कर्म से होता है, उसी तरह यहाँ भी होता है।२९। अथवा एक बार ही अंग का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि एक ही कारण होता है।३०।

परिमाणं चानियमेन स्यात्।३१। फलारम्भनिवृत्तेः क्रतुषु स्यात् फलान्यत्वम्।३२। अर्थवांस्तु नैकत्वादभ्यासः स्यादथ को यथा भोजनमेकस्मिन्नर्थस्यापरिमाणत्वात्प्रधाने च क्रियार्थत्वादनियमः स्यात्।३३। पृथक्त्वाद्विधितः परिमाणं स्यात्।३४। अनभ्यासो वा प्रयोगवचनैकत्वात्सर्वस्य युगपच्छास्त्रादफलत्वाच्च कर्मणः स्यात्क्रियार्थत्वात्।३५। अभ्यासो वा छेदनसम्मार्गाऽवदानेषु वचनात्सकृत्त्वस्य।३६। अनभ्यासस्तु वाच्यत्वात्।३७। बहुवचनेन सर्वप्राप्तेर्विकल्पः स्यात्।३८। दृष्टः प्रयोग इति चेत्।३९। तथेह।४०।

जब सकृत् और असकृत् का कोई नियम नहीं है, तो नित्यवत् आहुति परिमाणानुवाद न होगा। इससे अनभ्यास सिद्ध होता है।३१। क्रतुओं में अभ्यास युक्त ही है, क्योंकि फल के आरम्भ की निष्पत्ति होती है। वहाँ पर कर्मारम्भ से फल निष्पन्न होता है और आरम्भान्तर से अपर निष्पन्न होगा।३२। अंगग्राम का अभ्यास अर्थवान् होता है। एकत्व होने से अभ्यास अनर्थक होता है। जैसे एक काल में अभ्यस्यमान भोजन एक तृप्ति रूप फल को करता है, किन्तु क्रियार्थत्व होने से प्रधान में नियम नहीं होता है।३३। पृथक्त्व होने से उपकाराभ्यास के न्याय प्राप्त होने पर आहुति संख्यानुवाद विधि से होता है।३४। अथवा प्रयोग वचन के एकत्व होने से अंगों का अनभ्यास होता है। अफलत्व होने से सब अंग प्रधान कलाप का युगपत् शासन है। वहाँ पर प्रधानों का अनभ्यास होता है, क्योंकि कर्म को क्रियार्थत्व होता है।३५। अथवा छेदन समार्ग और अवदानों में सकृत्त्व का वचन होने से अभ्यास

होता है।३६। वाच्यत्व होने से अनभ्यास होता है। इससे छेदनादि में सकृत् वचन से अन्यत्र अभ्यास का जानना न्याय्य नहीं है।३७। बहु वचन से सर्व प्राप्ति का विकल्प होता है।३८। चतुरादि में 'चत्वारो ब्राह्मणाः' यह बहुवचन का प्रयोग देखा गया है।३९। उसी भाँति यहाँ पर भी कपिञ्जल का प्रयोग कपोत और मयूर में देखा गया है।४०।

भक्त्येति चेत्।४१। तथेतरस्मिन्।४२। प्रथमं वा नियम्येत, कारणादतिक्रमः स्यात्।४३। श्रुत्यर्थाविशेषात्।४४। तथा चान्यार्थदर्शनम्।४५। प्रकृत्या च पूर्ववत्तदासत्तेः।४६। उत्तरासु न यावत्स्वमपूर्वत्वात्।४७। यावत्स्वं वाऽन्यविधानेनानुवादः स्यात्।४८। साकल्यविधानात्।४९। बह्वर्थत्वाच्च।५०।

यदि कपिञ्जल शब्द का प्रयोग भक्ति से किया गया है—ऐसा कहा जाता है, तो उसी भाँति चतुरादि में भी लक्षणा से प्रयोग किया जाता है।४१-४२। अथवा प्रथम नियम्य होता है अर्थात् बहुत्व त्रित्व को नियमित किया जाता है। कारण से अतिक्रम होता है क्योंकि कोई भी चार को लेता हुआ तीन को नहीं लेता है।४३। श्रुत्यर्थ की अविशेषता होने से उसका फल भूयस्त्व नहीं होता है।४४। अन्यार्थ भी इस अर्थ को दिखाता है। इसमें त्रित्व नियम होता है।४५। प्रकृति से अग्निषोमीय से एकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्ववत् उसकी आसक्ति होती है।४६। सांनाय्य में दोहन श्रूयमाण होता है। मौन होकर तीन का दोहन करे फिर विसृष्ट वाक् होकर उत्तरा का दोहन करता है। यहाँ अपूर्वार्थत्व होने से विधि है, अनुवाद अनर्थक होता है।४७। अथवा यावत्स्व अन्य विधान से अनुवाद होता है।४८। दोग्धव्य गौओं के साकल्य का विधान होता है। पयः प्रतिषेध से यहाँ लक्षणा होती है।४९। सबसे दुह्यमान होने पर अपाक्षिकत्व होता है और बहुत्व शक्ति की अपेक्षा वाला है।५०।

अग्निहोत्रे चाशेषवद्यवागूनियमः।५१। तथा पयः प्रति-

षेधः कुमाराणाम् ।५२। सर्वप्रापिणापि लिङ्गेन संयुज्य देवताभिसंयोगात् ।५३। प्रधानकर्मार्थत्वादङ्गानां तद्भेदात् कर्मभेदः प्रयोगे स्यात् ।५४। क्रमकोपश्च यौगपद्य स्यात् ।५५। तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात् स्याद्विशेषाग्रहणात् ।५६। ऐकार्थ्यादव्यवायः स्यात् ।५७। तथा चान्यार्थदर्शनं कामुकायनः ।५८। तन्न्यायत्वादशक्तेरानुपूर्व्यं स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।५९। असंस्पृष्टोऽपि तादर्थ्यात् ।६०।

अग्निहोत्र में अशेषवत् यवागू का नियम समस्त पय की सांनाय्यार्थता को दिखाता है ।५१। कुमारों को पयः का प्रतिषेध होता है। ।५२। सर्व प्राणी लिंग से संयुक्त करके देवता का अभिसंयोग होने से यावत्स्व उत्तराओं में दोहन होता है। वत्स-मनुष्य और देवताओं में पहिले वत्स तथा मनुष्यों का आप्यायन, इसके अनन्तर देवों का होता है ।५३। अंगों के प्रयोग में कर्म भेद होता है। प्रधान कर्मार्थत्व होने के कारण से प्रधान के भेद से अंगों का प्रयोग किया जाता है ।५४। जब यौगपद्य होता है तो प्रधानों का क्रम कोप होता है। जहाँ अग्निषोमीय सांग प्रकान्त किया जाता है, वहाँ क्रम कोप नहीं है ।५५। तुल्यों का यौगपद्य विशेष के ग्रहण न होने से एक शब्दोपदेश से होता है ।५६। ऐकार्थ्य होने से अव्यवाय होता है, क्रम कोप नहीं है। इससे उपकार होने पर भी क्रम कोप नहीं है ।५७। कामुकायन आचार्य यथा उपदिष्ट न्याय को मानते थे। तथा अन्यार्थ दर्शन होता है ।५८। उस न्याय से सर्वत्र ही सहक्रिया होती है और अशक्ति का धर्मसंस्पर्शों से आनुपूर्व्य होता है, अतः भेद से क्रिया है। यह संस्कार पाकार्थ होता है, अतएव एक पुरोडाश के प्रथित होने पर सब प्रथित नहीं होते हैं ।५९। असंसृष्ट अघारादि भी तादर्थ्य होने से प्रतिप्रधान आवर्त्तित होते हैं ।६०।

विभवाद्वा प्रदीपवत् ।६१। अर्थात्तु लोके विधिः प्रतिप्रधानं स्यात् ।६२। सकृदिज्यां कामुकायनः, परिमाणविरोधात

।६३। विधेस्त्वितरार्थत्वात् सकृदिज्याश्रुतिव्यतिक्रमः स्यात् ।६४। विधिवत्प्रकरणाविभागे प्रयोगं बादरायणः ।६५। क्वचिद्विधानान्नेति चेत् ।६६। न विधेश्चोदितत्वात् ।६७। व्याख्यातं तुल्यानां यौगपद्यमगृह्यमाणविशेषाणाम् ।६८। भेदस्तु कालभेदाच्चोदनाव्यवायात् स्याद्विशिष्टानां विधिः प्रधानकालत्वात् ।६९। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।७०। विधिरिति चेन्न वर्तमानापदेशात् ।७१।

एक किसी के भी संशिधान में क्रियमाण सबके उपकारक होते हैं अतः आवृत्ति नहीं है। जैसे प्रदीप एक की सन्निधि में प्रज्वलित होकर सबका उपकार किया करता है ।।६१।। विधान में प्रदीप का दृष्टान्त उचित नहीं होता है क्योंकि उसकी क्रिया एक बार और अनेक बार भी हो सकती है। इसकी प्रत्यक्ष सामर्थ्य है। जहाँ विधि से उपकारानुपकार गम्यमान होता है। इससे आवृत्ति होती है ।६२। आहुतियों के परिमाण के विरोध से कामुकायन आचार्य सकृदिज्या को मानते थे। उसका परिहार आभाषान्त सूत्र है ।६३। विधि शब्द से अंग कहा जाता है और अंग इतरार्थ होते हैं। जिस समय स्थित है और जिसकी सन्निधि में जो किया गया है उसी के लिए वह होता है। इसलिए असकृत् इज्याश्रुति व्यतिक्रम होता है ।।६४।। बादरायण तन्त्र से प्रकरण के अविभाग होने के कारण प्रयोग मानते थे। समस्त प्रधानों की प्रक्रिया अविभक्त होती है ।६५। यदि यह कहा जाता है कि कहीं पर सहत्व को आहृत करके विधान किया जाता है तो उचित नहीं है क्योंकि वहाँ पर फिर परिसंख्या युक्त नहीं होती है। प्राप्तका पुनर्वचन परिसंख्यार्थ होता है। भेद से निर्वापको चोदित होने से यहाँ सहत्व प्राप्त नहीं है। ।६६-६७। क्या कृष्णग्रीव के प्रथम और तृतीय का सह प्रदान करना चाहिये या भेद से प्राप्त है-इस विचार से कहते हैं कि यौगपद्य को अगृह्यमाण विशेष तुल्यों का व्याख्यात है ।६८। काल भेद होने से प्रदान का

भेद ही युक्त है तन्त्रता नहीं है। चोदक व्यवाय होने से काल भेद होता है। प्रधान काल होने से विशिष्टों की विधि होती है ।६९। तथा अन्यार्थ दर्शन भी होता है। दोनों ओर सौम्यमाग्नेय होते हैं ।७०। यदि विधि कहते हैं तो उचित नहीं है क्योंकि वर्त्तमान अपदेश होता है ।७१।

द्वितीय पाद

एकदेशकालकर्त्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात् ।१। अविधिश्चेत्कर्मणामनभिसम्बन्धः प्रतीयेत,तल्लक्षणार्थाभिसंयोगाद्विधित्वाच्चेतरेषां प्रतिप्रधानं भावः स्यात् ।२। अंगेषु च तद्भावः प्रधानं प्रति निर्देशात् ।३। यदि तु कर्मणो विधिसम्बन्धः स्यादैकशब्द्यात्प्रधानार्थाभिसंयोगात् ।४। तथा चान्यबर्थदर्शनम् ।५। श्रुतिश्चेषां प्रधानतत्कर्मश्रुतेः परार्थत्वात्कमणोऽश्रुतित्वाच्च ।६। अंगानि तु विधानत्वात्प्रधानेनोपदिश्येरंस्त स्मात्स्यादेकदेशत्वम् ।७। द्रव्य देवतं तथेति चेत् ।८। न चोदनाविधिशेषत्वान्नियमार्थो विशेषः ।९। तेषु समवेतानां समवायात्तन्त्रमंगानि भेदस्तुः तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयागे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात्तथा चान्यार्थ दर्शनम् ।१०।

मुख्यों का एक शब्दोपदेश होने से एक देश काल कर्तृत्व होता है। (यह सिद्धान्त सूत्र है) ।१। संयोग से और विधित्व होने से इतरों का प्रतिप्रधान भाव होता है ।२। अङ्गों से देश काल कर्त्ता समाधि अथवा अनियम इन दोनों का अभाव होता है क्योंकि वहाँ प्रधान के प्रति निर्देश है। जिस तरह द्रव्य देवत है ।३। यदि आग्नेयादि कर्म का समाधि विधि सम्बन्ध होता है तो चोदनाविधि शेषत्व और भेद से समाधि

हैं किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि ऐक शद्रूय प्रधानाभिसंयोग होता है।४। अन्यार्थ भी इसी अर्थ को दिखाता है। एक कालका संभरण और पौर्वा-पर्य उपपन्न होता है। उससे तत्त्र होता है ॥५॥ दर्शपूर्णमासों से जो कर्मश्रुति है वह परार्थ है इस कारण से उन समादि की श्रुति प्रधानवत् होती है। अतः यह श्रुति प्रयोग चोदना पुनः श्रुति है। ।६। कर्म के अश्रुत्त होने से भी तन्त्रभाव सिद्ध होता है।७। विधानत्व होने से अङ्ग भी प्रधान से फल सिद्धि में जो उपदिश्यमान है उसके साथ ही उपदिष्ट होते हैं। इससे वह सिद्ध होता है कि अङ्गों का भी प्रधानों के साथ एक ही देश तथा काल कर्तृत्व होता है।८। यदि यह कहा जाता है कि द्रव्य देवत प्रधान और अङ्गों के भेद से होता है तो यह उचित नहीं है क्योंकि चोदना विधि शेषत्व है। इससे प्रधानों में द्रव्य देवता विशेष नियम होता है।९।१०।

इष्टिराजसूयचातुर्मास्येष्वैककर्म्यात् अङ्गानां तन्त्रभावः स्यात्।११। कालभेदान्नेति चेत् ।१२। नैकदेशत्वात्पशुवत् ।१३। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां तन्त्रविधानात्संगानामुपदेशः स्यात् ।१४। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।१५। तथा तदवयवेषु स्यात् ।१६। पशौ तु चोदनैकत्वात्तन्त्रस्य विप्रकर्षः स्यात् ।१७। तथा स्याद-ध्वरकल्पेष्टौ विशेषकालत्वात् ।१८। इष्टिरिति चैकवच्छ्रुति। ।१९। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां च तन्त्रविधानात्सांगानामुपदेशः स्यात् ।२०।

यदि अङ्गों और प्रधानों के समान ही द्रव्य देवत होता है तो सवत्रेत अङ्गों और प्रधानों के समवाय से विशेष भी तदवस्थ हो जायगा और तन्त्र मज्या हो जायगी। अतः कर्मभेद भी उसके भेद से ही होता है। इससे अन्यार्थ दर्शन युक्त ही होता है।११। इष्टि—राज-सूय और चातुर्मास्य पर्वों में एक फलत्व होने से तन्त्र से ही प्रयोग होता

है। इससे तन्त्रों का भाव ही अङ्गों का सिद्ध होता है ।१२। यदि काल के भेद से भेद होता है—ऐसा कथन अनुचित है क्योंकि पशु की भाँति एक देशत्व होता है। अतः अङ्गों की आवृत्ति नहीं होती है ।१३।१४। उनका तन्त्र विधान होने से कर्म पृथक्त्व होता है और साङ्ग उनकी वहाँ पर देश काल विधि है। अतः विशेष ग्रहण करने से भेद होता है ।१५। पौर्णमासी में चतुर्दश आहुति आदि के अन्यार्थ दर्शन से भी भेद ही सिद्ध होता है ।।१६।। यदि वह न्याय है तो इष्टि आदि अवयवों में देश-काल भेद से तन्त्र भेद हो जायगा। अन्यथा सिद्ध होने से वह अनर्थक हो जाता है। इससे भी भेद होता है ।१७। पशु में तो चोदना के एकत्व होने से तन्त्र का विप्रकर्ष होता है। वहाँ कर्म चोदना में अङ्गों को ग्रहण है प्रचार चोदना में नहीं होता है। इसी से विषम उपन्यास होता है क्योंकि उनकी पुनः क्रिया में हेतु नहीं होता है ।१८। अध्वर-कल्पेष्टि में इन सबका एक फल होने से एक प्रकरण होता है ।१९। एक ही इष्टि नहीं है किन्तु बहुत से याग होते हैं। सर्वसमाप्ति में यतीभाव पर्यवसित होता है इसलिये एकवत् उपचार होता है। इससे तन्त्र है। ।।२०।।

प्रथमस्य वा कालवचनम् ।२१। फलैकत्वादिष्टिशब्दो यथान्यत्र ।२२। वसाहोमस्तन्त्रमेकदेवतेषु स्यात् प्रदानस्यैक कालत्वात् ।२३। कालभेदात्त्वावृत्तिर्देवता भेदे ।२४। अन्ते यूपाहुतिस्तद्वत् ।२५। इतरप्रतिषेधो वा; अनुवादमात्रमन्तिकस्य ।२६। अशास्त्रत्वाच्च देशानाम् ।२७। अवभृथे प्रधानेऽग्निविकारः स्यान्न हि तद्धेतुरग्निसंयोगः ।२८। द्रव्यदेवतावत् ।२९। साङ्गो वा प्रयोगवचनैकत्वात् ।३०।

सिद्धान्त यही है कि कर्म पृथक्त्व होने से उनका तन्त्र विधान होने के कारण सांगों का उपदेश होता है ।२१। प्रथम कर्म का जो निर्वाप है उसका यह काल वचन है। इसलिये विशेष का एक कालत्व

नहीं होता है ।२२। एक कर्म वाले भिन्न कर्मों का जिनका कि एक ही फल होता है, फलके एकत्व की अपेक्षा करके ही एक वचन होता है जैसा कि अन्यत्र होता है ।२३। प्रदान के एक काल होने से एक देवतों में वसा का होम तन्त्र है ।२४। देवता के भेद में काल भेदत्व की आवृत्ति होती है । इससे तन्त्र भेद होता है ।२५। नाना देवतों में वसाहोम जैसे भेद से होता है उसी भाँति अन्त में यूपाहुति भेद से करनी चाहिए। ।२६। अपता यह आहवनीय प्रतिषेध है अन्तिक विधि नहीं है। अतः भेद से नहीं करनी चाहिये। यह तन्त्र है ।२७। सौ कर्म होने से अतिक का अनुवाद मात्र है। अग्नि के साथ यूपान्वेषण दुष्कर होता है। इससे यूपाहुति तन्त्र है ।२८। इसमें यह भी हेतु है कि अन्तिक की अपेक्षा से अन्तिकादेश शासित नहीं किये जा सकते हैं।२९। ज्योतिष्टोम में अवभृथ है। अवभृथ के प्रधान होने पर अग्नि विकार होता है क्योंकि प्रधान मात्र अपों में करना चाहिये, उसका हेतु अग्नि संयोग नहीं है ।३०।

लिंगदर्शनाच्च । ३१ । शब्दविभागाच्च देवतानपनयः ।३२। दक्षिणेऽग्नौ वरुणप्रघासेष देशभेदात्सर्वं विक्रियते । ३३ । अचोदनेति चेत् । ३४ । स्यात्पौर्णमासीवत् ।३५। प्रयोगचोदनेति चेत् । ३६।त-(अ-) थेह । ३७ । आसादनमिति चेत् ।३८। नोत्तरेणैकवाक्यत्वात् । ३९ । अवाच्यत्वात् ।४० ।

जिस तरह द्रव्य एक कपाल और वरुण देवता प्रधान होने पर विहित होने से अंगों में होते हैं इसी प्रकार से आप भी होते हैं ।३१। अथवा सांग अवभृथ आपों में प्रवृत्त होता है क्योंकि प्रयोग वचन में एकत्व होता है ।३२। आपों में अनुवाद करके केवल तृण प्राशन के विधान होने से यह लिंग भी इसी अर्थ को प्रकट करता है ।३३। और शब्दों के विभाग होने से द्रव्य देवता का अपनय होता है। इससे वह अंगों में नहीं होता है ? ।३४। दक्षिण अग्नि में विहार पृथक्त्व वरुण

प्रयासों में आम्नात है। देश भेद के होने से अङ्ग करने चाहिए।३५। यहां पर कर्शा चोद्यमान नहीं होता है। अङ्गों की प्राप्ति ही नहीं फिर भेद अथवा तन्त्रता जैसे हो सकते हैं।३६। साङ्ग प्रधान पौर्णमासी में किया जाता है। इसी प्रकार से यहाँ भी होता है।३७। यजेत-इस आख्यात से पौर्णमासी में प्रयोग चोद्यमान होता है। काल प्रयोगाङ्ग है। इससे सांगप्रधान पौर्णमासी में किया जाता है।३८। उसी भांति यहाँ पर भी मारुति का प्रयोग 'आसादयति'—इस आख्यात से चोद्यमान होता है।३९। आसादयति—इस शब्द से याग नहीं कहा जाता है। यहाँ श्रुत्यर्थ ग्राह्य होने से आसादयति—इससे आसादन ही कहा जाता है,याग नहीं कहा जाता है।४०।

आम्नायवचनं तद्वत्। ४१। कर्तृभेदस्तथेति चेत्। ४२। न समवायात्। ४३। लिंगदर्शनाच्च। ४४। वेदिसंयोगादिति चेत्। ४५। न देशमात्रत्वात्। ४६। एकाग्नित्वादपरेषु तन्त्रैः स्यात्। ४७। नाना वा कर्तृभेदात्।४८। पर्यग्नि कृतानामुत्सर्गे प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः; श्रुतिसामान्यादारण्यवत्तस्माद्ब्रह्म साम्नि चोदनापृथक्त्वं स्यात्। ४९। संस्कारप्रतिषेधो वा वाक्यैकत्वे क्रतुसामान्यात्। ५०। वपानां चानभिधारणस्य दर्शनात्। ५१।

यह आसादन अदृष्टार्थ नहीं है क्योंकि उत्तर से एक वाक्यत्व होता है।४१। होमार्थ आसादन नहीं करना चाहिए। और वह होम के होने पर इससे लक्षण के द्वारा कहा सकता है। इससे यहाँ पर भी आसादयति—इस शब्द से पौर्णमासी की भाँति याग का प्रयोग कहा जाता है।४२। वैदिक वचन उसी की भाँति युक्त हो जायगा। उससे भी इसी प्रकार सिद्ध होता है।४३। जिस प्रकार से अंग भेद होता है उसी भाँति कर्त्तृभेद भी होता है—यदि ऐसा कहा जाता है तो वह उचित नहीं है क्योंकि समवाय होने से अंग वत्कर्त्तृभेद नहीं होता है प्रत्युत तन्त्र

से कर्त्ता होते हैं।४४।४५। दक्षिणा के एकत्व स्वरूप लिंग भी इस अर्थ को ही दिखाता है क्योंकि एक कर्त्तृत्व होने पर ही एक दक्षिणा उपपन्न होती है।४६। यदि अन्तर्वेदी और वहिर्वेदी के संयोग से कर्त्तृभेद होता है—यदि यह कोई कहे तो अनुचित है क्योंकि देशमात्र के विधान होने से होता की स्थिति का ही कथन है।४७।४८। एकाग्नि होने से अपराग्नि होम तन्त्र होते हैं। अग्नि के भेद से पौर्णाग्निकों में भेद होता है।४९। अथवा तन्त्र के अभाव में कर्त्तृभेद होने से निगुणता होती है और इससे होता है। यह सिद्धान्त सूत्र होता है।।५०।। श्रुति के आरण्यवत् सामान्य होने से पर्यग्नि कृतों के उत्सर्ग में प्राजापत्यों का कर्मशेष का प्रतिषेध होता है। इससे ब्रह्म साम में चोदना पृथक्त्व होता है अर्थात् कर्मान्तर चोदन होता है।५१।

पञ्चशारदीयास्तथेति चेत्। ५२। न चोदनैकवाक्यत्वात् ।५३। संस्काराणां च दर्शनात्। ५४। दशपेये क्रयप्रतिकर्षात्प्रतिकर्षस्ततः प्राञ्चां; तत्समानं तन्त्रं स्यात्। ५५। समानवचनं तद्वत्। ५६। अप्रतिकर्षो वाऽर्थहेतुत्वात्सहत्वं विधीयते। ५७। पूर्वास्मिश्चावभृथस्य दर्शनात्। ५८। दीक्षाणां चोत्तरस्य। ५९। समानः कालसामान्यात्। ६०।

अथवा वाक्यैकत्व में क्रतु के सामान्य होने से प्राप्तावसर संस्कारों का प्रतिषेध होता है।५२। वपाओं के अनभिधारण के दर्शन से भी संस्कारों का प्रतिषेध होता है।५३। जिस प्रकार से अनन्तर प्राजापत्य हैं उसी प्रकार से पत्र शारदीय हैं—यदि ऐसा कोई कहते हैं तो वह उचित नहीं है क्योंकि चोदनैकवाक्यत्व होता है।५४।५५। संस्कारों के होने पर यह उभय युक्त नहीं होते हैं।५६। इन दोनों का समान ही तन्त्र होता है क्योंकि दशपेप में क्रय के प्रतिकर्ष से प्रतिकर्ष होता है।५७। तन्त्र के समान होने से दशपेप और अभिषेचनीय इन दोनों

यज्ञों की समानता होती है ।५८। अथवा अर्थ हेतु से प्रतिकर्ष नहीं होता है ये दोनों क्रय हैं। एक अर्थ हेतुक है और दूसरा शब्दकृत है ।५६। भेद से तत्व की प्रवृत्ति होने से पूर्व अभिषेचनीय में अवभृथ का दर्शन होता है ॥६०॥

निष्कासस्यावभृथे तदेकदेशत्वात् पशुवत्प्रदानविप्रकर्षः स्यात् । ६१ । अपनयो वा प्रसिद्धेनाभिसंयोगात् । ६२ । प्रतिपत्तिरिति चेन्न कर्मसंयोगात् ।६३ । उदयनीये च तद्वत् । ६४ । प्रतिपत्तिर्वाऽकर्मसंयोगात् । ६५ । अर्थे कर्म वा शेषत्वाच्छ्रपणवत्तदर्थेन विधानात् । ६६॥६७।७८।

दशयेय की दीक्षाओं का पृथक् दर्शन होता है । अन्यथा अभिषेचनीय में ही दशयेय की दीक्षा हो जाती है। वहाँ पर यह दर्शन उपपन्न नहीं होता है ।६१। काल सामान्य होने से समान वचन उपपन्न होता है। इससे तन्त्र भेद है ।६२। तदेक देश होने से निष्कास के अवभृथ में पशुवत् प्रदान विप्रकर्ष होता है। प्रदान विप्रकर्ष करके कृतार्थ हो जाने वाले की धर्मों का अतिदेश करने की शक्ति नहीं होतीं है ।६३। अथवा प्रसिद्ध से अभिसंयोग होने के कारण निष्कासका अपनय अर्थात् पूर्वकर्म का कर्मान्तरोय देश है प्रदान विप्रकर्ष नहीं है यह सिद्धान्त हैं ।६४। अन्यशेषत्व होने से निष्कास का अवभृथ गमन प्रतिपत्ति हो जावे – यह कथन उचित नहीं है । क्योंकि अर्थ कर्म से इस गुणभूत का संयोग होता है ॥६५॥ उदयनीय में भी प्रधान कर्म से तद्वत् संयोग होता ॥६६॥ अथवा यहाँ पर उदयनीय कर्म से निष्कास का संयोग नहीं होता है। प्रतिपत्ति है गुणधान नहीं है। इससे यह कर्मान्तर चोदना नहीं है ।६७। अथवा श्रपणवत् तदार्थ शब्द से सप्तमी विभक्ति के द्वारा विधान होने से शेषत्व होने के कारण से निष्कास में निर्वाय है प्रतिपत्ति नहीं है। सिद्धान्त सूत्र है।।६८॥

तृतीय पाद

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्वचनादन्यकालत्वम् । १ । द्रव्यस्याकर्मकालनिष्पत्तेः प्रयोगः सर्वार्थः स्यात्स्वकालत्वात् । २ । यूपश्चाकर्मकालत्वात् । ३ । एक यूपं च दर्शयति । ४ । संस्कारास्त्वावर्तेरन्नर्थकालत्वात् ।५। तत्कालास्तु; यूपकर्मत्वात्तस्यधर्मविधानात्सर्वार्थानां च वचनादन्यकालत्वम् । ६ । सकृन्मानं च दर्शयति । ७ । स्वरुस्तन्त्रापवर्गः स्यादस्वकालत्वात् ।८। साधारणो वाऽनुनिष्पत्तिस्तस्य साधारणत्वात् ।९। सोमान्ते च प्रतिपत्तिदर्शनात् । १० । तत्कालो वा प्रस्तरवत् ।११। न वोत्पत्ति वाक्यत्वात्प्रदेशात् प्रस्तरे तथा । १२ ।

जहाँ पर वचन है वहाँ अंगों का अन्य कालत्व-अन्य देशत्व और अन्य कर्त्तृत्व भी होता है ।१। स्वकालत्व होने से द्रव्य के अकर्म काल की निष्पत्ति का प्रयोग सर्वार्थ होता है । इससे समस्त कर्मों के अर्थ में तन्त्र आधान होता है । कोई विरोध नहीं है ।२। अकर्म कालत्व होने से यूप तन्त्र होता है क्योंकि सबके लिये वह प्रयुक्त होता है ।३। एक यूप तीनों पशुओं के लिए साधारण है–यह तन्त्र को ही दिखाता है ।४। पशु के नियोजन का अर्थ कालत्व होने से संस्कारों की आवृत्ति होती है, जैसे अग्नि का संमार्जन होता है । जैसे यूप हैं वैसे तन्त्र नहीं है ।५। यूप कर्मत्व होने से ये तत्काल दीक्षा-काल होते हैं । अतः ये सस्कार उसके दीक्षा काल वाले हैं । धर्म विधान से और सर्वार्थों के वचन से अन्य कालत्व होता है । अथवा जिसके लिये वह यूप किया गया है तत्कर्म अपवृक्त होता है ।६। और सकृत् मान भी दिखाता है कि तन्त्र संस्कार हैं ।७। स्वरु जो श्रूयमाण होता है वह अस्वकाल होने से तन्त्र तन्त्र में अपवृक्त होता है ।८। सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार से समस्त पशुओं का यूप साधारण होता है वैसे ही यह स्वरु भी साधारण

ही न्याय्य होता है। अतः एक ही साधारण स्वरु है।९। सोमान्त में इसकी प्रतिपत्ति का दर्शन होता है। इससे भी साधारण ही सिद्ध होता है।१०। प्रस्तरवत् तत्काल का कथन परिहार के योग्य होता है।११। दर्श पूर्ण मासों में प्रस्तर का प्रहरण कहा गया है और चोदक के द्वारा प्रतिपशु प्राप्त होता है। वहाँ पर अनुवन्ध्या काल का दर्शन युक्त होता है, स्वरु प्रहरण का यह नहीं है। इससे यह विषम उपन्यास होता है।१२।

अहर्गणे विषाणाप्रासनं धर्मविप्रतिषेधादन्त्ये प्रथमे वाहनि विकल्पः स्यात् ।१३। पाणेस्त्वश्रुतिभूतत्वाद्विषाणानियमः स्यात्प्रातः सवनमध्यत्वाच्छिष्टे चाभिप्रवृत्तत्वात् ।१४। वाग्विसर्गो हविष्कृता वाजभेदे तथा स्यात् ।१५। पशौ च पुरोडाशे समानतन्त्रं भवेत् ।१६। अग्नियोगः सोमकाले तदर्थत्वात् संस्कृतकर्मणः परेषु साङ्गस्य, तस्मात्सर्वापवर्गे विमोकः स्यात् ।१७। प्रधानापवर्गे वा तदर्थत्वात् ।१८। अवभृथे च तद्वत्प्रधानार्थस्य प्रतिषेधोऽपवृक्तार्थत्वात् ।१९। अहर्गणे च प्रत्यहं स्यात्तदर्थत्वात् ।२०

यहाँ पर विकल्प करना चाहिये। धर्म के विप्रतिषेध होने से प्रथम और अन्तिम दिन में प्रासन होता है। अन्त्य में उससे पूर्व के दिनों में दक्षिणायन से ऊर्ध्व में जो पदार्थ हैं उनका हस्तकण्डूयन धर्म है, वह वाधित होता है। यही धर्म का विप्रतिषेध होता है। इसी कारण से विकल्प होता है।१३। पाणि में ही कण्डूयन करना चाहिए— यह श्रूयमाण नहीं है। अर्थ से प्रत्यासत्ति से ऐसा किया जाता है। अतः विकल्प कथन उचित नहीं है। प्रातः सवन होने से और शिष्ट में अभिप्रवृत्तत्व होने से विषाणों का कोई नियम नहीं है। केवल अन्त्याह में प्रासन होना है।१४। हविष्कृत् के अनेक आह्वान काल होते हैं। उनमें उत्तर हविष्कृत् काल वाग्विसर्ग करना चाहिये। व्याभाषण के अश्रुत होने से और शिष्ट में वाग्यम के अभिप्रवृत्त होने से उसी भाँति उत्तर

पक्ष होता है। नानाबीजेष्टि में अन्त्य बीज सम्बन्धि हविष्कृत के आह्वान-काल में वाग्विसर्ग का नियमाधिकरण है।१५। अग्निषोमीय पशु में पशु और पुरोडाश उन दोनों का पाशुक और पौरोडाशिक तन्त्र है।१६। अग्नियोग सोम काल में तदर्थत्व होने से संस्कृत कर्म का परो में सांगका होता है। अतः सर्वापवर्ग में विमोक होता है। विमोक योगापवर्ग के लिए ही होता है, इसलिए योगकार्य अवसित हो जाता है।१७। अथवा प्रधान के संयोग से श्रूयमाण होने से प्रधानापवर्ग में ही विमोक होता है।१८। अवभृथ में तद्वत् अपवृक्तार्थत्व होने से प्रतिषेध कर देना चाहिये, अतः वहाँ पर प्राकृत होत्र वरण की प्राप्ति की कोई बाधा नहीं होती है। इससे प्रधानापवर्ग में विमोक सिद्ध होता है।१९। अहर्गण द्वादशाह में प्रतिदिन योग विमोक होते हैं, क्योंकि वहाँ तदर्थत्व है। इससे उसमें सर्वापवर्ग होता है।२०।

सुब्रह्मण्या तु तन्त्रं दीक्षावदन्यकालत्वात् ।२१। तत्कालात्वावर्तेत प्रयोगतो विशेषसम्बन्धात् ।२२। अप्रयोगाङ्गमिति चेत् ।२३। स्यात्प्रयोगनिदशात्कर्तृभेदवत् ।२४। तद्भूतस्थानादग्निवदिति चेत्तदपवर्गस्तदर्थत्वात् ।२५। अग्निवदिति चेत् ।२६। न प्रयोगसाधारण्यात् ।२७। लिंगदर्शनाच्च ।२८। तद्धितथेति चेत् ।२९। नाशिष्टत्वादितरन्यायत्वाच्च ।३०।

सुब्रह्मण्याह्वान तो तन्त्र होता है, वहाँ भेद से नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार से दीक्षा पृथक् काल होने से तन्त्र है वैसे ही यह भी अन्य कालत्व होने से तन्त्र है क्योंकि यह कर्म प्रयोग से पृथक् काल वाली होती है।२१। यदि यहाँ अद्य-इसके विशेष संयोग से आवृत्ति है— ऐसा कहते हैं तो वह उचित नहीं हैं, क्योंकि यह अप्रयोगांग होता है। इससे तन्त्र ही है।२३। प्रयोग के निर्देश होने से भेद होता है। यद्यपि अद्य शब्द का अर्थ विवक्षित नहीं है तो भी जिस दिन में प्रयुक्त किया जाता है, उस प्रधान काल काल का उपकारक होता है। अतः कर्त्तृ भेद की

भाँति आवर्त्तित होता है ।२४। जिस प्रकार से एक दिन में आहूत देवता आह्वान संस्कृत होते हैं । अग्नि की भाँति जिसका कि एक बार संस्कार हो चुका है, उस देवता का भी पुनः आह्वान निरर्थक होता है-यदि ऐसा कहते हैं जो अयुक्त है, क्योंकि प्रतिकर्मापवर्ग होता है, जिस कर्म में आह्वान किया जाता है उसके लिए ही वह होता भी है । इससे आवृत्ति सिद्ध होती है ।२५। यदि अग्नि के आधान को समस्त कर्म में तन्त्र कहा जाता है, उसी भाँति यह भी होता है—ऐसा युक्त है, क्योंकि आधान के स्वकालत्व होने से उसके तुल्य यह नहीं है । वहाँ पर विशेष का ग्रहण नहीं किया जाता हैं ।२६-२७। प्रत्यह सुब्रह्मण्याह्वान—यह लिंग भी इसी अर्थ को प्रकट होता है ।२८। तत् अर्थात् यूप हुति कर्म जिस तरह से यूपैकादशिनी में तन्त्र होता है, उसी भाँति यह भी होता है—यदि यह कहा जाता है तो यह उसके तुल्य नहीं होता है, क्योंकि यूपान्तिक में होम शासित नहीं होता है और यहाँ इतर न्यायत्व भी है । इससे विषम उपन्यास होता है ।२९-३०।

विध्येकत्वादिति चेत् ।३१। न कृत्स्नस्य पुनः प्रयोगात् प्रधानवत् ।३२। लौकिकेषु यथाकामो संस्कारानर्थलोपात् ।३३। यज्ञायुधानि धार्येरन्प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत् ।३४। यजमान-संस्कारो वा तदर्थः श्रयते तत्र यथाकामो तदर्थत्वात् ।३५। मुख्यस्य धारणं वा मरणस्यानियतत्वात् ।३६। यो वा यजनीयेऽ-हनि म्रियेत सोऽधिकृतः स्यादुपवेषवत् ।३७। न शास्त्रलक्षण-त्वात् ।३८। उत्पत्तिर्वा प्रयोजकत्वादाशिरवत् ।३९। शब्दासा-मञ्जस्यमिति चेत् ।४०।

यदि किसी का कथन है कि द्वादशाहिक विधि तन्त्र दृष्ट है और यह भी द्वादशाहिक विधि ही है । अतः उसके साहृश्य होने से इसको भी वैसा ही होना चाहिये किन्तु यह अयुक्त है, क्योंकि जैसे प्रधान प्रति-दिन किये जाते हैं, वैसे ही कृत्स्व अन्य विधि यहाँ पर पुनः प्रयुक्त की

जाती है। इससे आवृत्ति ही होता है ।३१-३२। लौकिकों में तो कोई नियम नहीं होता है, यथेच्छया वे अथवा अन्य उपादेय होते हैं क्योंकि पूर्व कर्म में कर्त्त्रादि का कोई संस्कार कृत नहीं होता है और अन्यों के द्वारा भी प्रयोग नहीं किया जा सकता है ।३३। ऋजीष की भाँति परिधानीय कर्म में प्रतिपत्ति के विधान होने से यज्ञ पात्र धारण करने के योग्य होते हैं ।३४। अथवा यह पात्रों की प्रतिपत्ति नहीं है, यह यजमान संस्कार है। क्योंकि उन पात्रों का अर्थ श्रूयमाण होता है। तदर्थत्व होने से वहाँ पर यथाकामी होता है ।३५। अथवा कोई नियम नहीं है, मुख्यों का या आद्य पात्रों का धारण होता है क्योंकि मरण अनियत होता है। इससे मुख्य धारण ही न्याय्य होता है ।३६। अथवा मुख्यों का धारण नहीं होता है किन्तु जो यजमान योजनीय दिन में मरता है वह ही इस संस्कार से अधिकृत होता है, जैसे सांनाय्य याजी का ही उपवेषोधान से अधिकार होता है क्योंकि उसका उपवेष संनिहित होता है ।३७। उपवेष का दृष्टान्त देकर यह कथन उपपन्न नहीं होता है क्योंकि शास्त्र लक्षण होता है। वहाँ पर तो असांनाय्ययाजी का सम्भव नहीं होता है और यह संस्कार विधान अनियत होता है। इससे उपवेष दृष्टांत नहीं हो सकता है ।३८। अथवा आशिरवत् संस्कार के प्रयोजकत्व होने से संस्कार के काल में अन्य नवीन पात्र उत्पादन के योग्य होते हैं ।३९। ऐसा होने पर यज्ञ मात्र शब्द असमञ्जस हो जाता है क्योंकि यज्ञ के सम्बन्ध से यज्ञ पात्र ही होते हैं, नवीनों का यज्ञ से सम्बन्ध नहीं होता है ।४०।

तथाऽऽशिरे ।४१। शास्त्रात्तु विप्रयोगस्तत्रैकद्रव्यचिकीर्षा प्रकृतावथेहापूर्वार्थवद्भूतोपदेशः ।४२। प्रकृत्यर्थत्वात्पौर्णमास्याः क्रियेरन ।४३। अग्न्याधेये वाऽविप्रतिषेधात्तानि धारयेन्मरणस्यानिमित्तत्वात् ।४४। प्रतिपत्तिर्वा यथाऽन्येषाम् ।४५। उपरिष्टात्सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्तीति सर्वेषामविशेषादवाच्यो हि

प्रकृतिकालः ।४६। अङ्गविपर्यासो विना वचनादिति चेत् ।४७। उत्कर्षः संयोगात्कालमात्रमितरत्र ।४८। प्रकृतिकालासत्तेः शास्त्रवतामिति चेत् ।४९। न श्रुतिप्रतिषेधात् ।५०।

अशिर में भी जो यह अन्य गौ उपादीयमान होती है, वह यजमान की वृत्ताधुक् नहीं होती है क्योंकि वहाँ पर शब्द का अजामञ्जस्य ही है ।४१। वहाँ पर शास्त्र से विप्रयोग होता है, क्योंकि शास्त्र से शब्द का असामञ्जस्य है । एक द्रव्य चिकीर्षा में यजमान की व्रतप्रयुक्ता को आशिर में दोहन करते हैं और ऋतपेय में चोदक द्वारा प्राप्त की जाती है । अतः पात्रों का धारण ही होता है । यहाँ अपूर्व अर्थ अन्य से नहीं प्राप्त किया जाता है ।४२। प्रकृत्यर्थत्व होने से पौर्णमासी से आरम्भ करके ये पात्र धारण करने के योग्य हैं ।४३। अथवा मरण के अनिमित्तत्व होने से अग्न्याधेय से आरम्भ करके धारण करने चाहिये क्योंकि विप्रतिषेध नहीं है ।४४। अथवा यजमान के शरीर में इन पात्रों की और अग्नियों की प्रतिपत्ति होती है, जिस तरह अन्य द्रव्यों की अवभृथगमन प्रतिपत्ति होती है ।४५। सोमों के उपरिष्टात् प्राजापत्यों से चरण करते हैं ऐसा कहने पर समस्त सोमों का उपरिष्टात् प्रचार किया जाता है, क्योंकि कोई विशेष नहीं है, अतः प्रकृति काल अवाच्य होता है ।४६। यदि वचन के बिना अङ्गविपर्यास होता है यदि ऐसा कहते है तो संयोग होने से परिधि प्रहरण का उत्कर्ष न्याय्य है । इतरत्र कालमात्र ही होता है जैसे अग्निहोत्र वेला में आना चाहिये, वहाँ पर यदि अग्निहोत्र नहीं है तो वेला भी अनपेत होती है ।४७-४८। शस्त्र वाले सोमों का उपरिष्टात् प्रचार युक्त होता है, क्योंकि प्राकृत काल का आसत्ति में कृत प्रचार होता है ।४९। इस प्रकर से होने पर अविशेष श्रुति का विप्रतिषेध होता है । और आसत्ति से प्राकृत का लाभ नहीं होता है ।५०।

विकारस्थान इति चेत् ।५१। न चोदनापृथक्त्वात् ।५२। उत्कर्षे सूक्तवाकस्य न सोमदेवतानामुत्कर्षः पश्वमङ्गत्वाद्यथा

निष्कर्षेऽनन्वयः ।५३। वाक्यसंयोगाद्वोत्कर्षः समानतन्त्रत्वादर्थ-लोपादनन्वयः ।५४।

यदि यह कहा जाता है कि विकार स्थान में हो जावेगा—यह उचित नहीं है क्योंकि कर्म पृथक्त्व होता है। सोमिक और पाशुक ये पृथक् कर्म होते हैं ।५१-५२। सूक्त वाक के उत्कर्ष में सोम देवताओं का उत्कर्ष नहीं होता है क्योंकि पश्वङ्गत्व है जैसा कि पूर्णमासी देवताओं के निष्कर्ष में अमावास्या देवताओं का अनन्वय होता है ॥५३॥ अथवा उत्कर्ष ही न्याय्य है क्योंकि वाक्य संयोग होता है। समान तंत्रत्व होने से अर्थ लोप से अनन्वय होता है। इसलिए वहाँ पर इन देवताओं का संकीर्त्तन युक्त ही है ।५४।



चतुर्थ पाद

चोदनैकत्वाद्राजसूयेऽनुक्तदेशकालानां समयवायात्तन्त्रमङ्गानि ।१। प्रतिदक्षिणं वा कर्तृसम्बन्धादिष्टिवदङ्गभूतत्वात्समुदायो हिः तन्निर्वृत्त्या तदेकत्वादेकशब्दोपदेशः स्यात् ।२। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।३। अनियमः स्यादिति चेत् ।४। नोपदिष्टत्वात् ।५। लाघवातिपत्तिश्च ।६। प्रयोजनैकत्वात् ।७। विशेषार्था पुनः श्रुतिः ।८। अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ।९। वचनात्कामसंयोगेन ।१०।

राजसूय में समवाय होने से अनुक्त देश काल वाले प्रधानों के अंग तन्त्र हैं, क्योंकि वहाँ चोदना का एकत्व होता है ॥१॥ अथवा दक्षिणा के भेद होने से प्रतिदक्षिण कर्तृ सम्बन्ध होता है क्योंकि इन कर्मों में दक्षिणा भेद श्रूयमाण है। अतः इष्टिवत् कर्तृ भेद से अंगभेद होता है। समुदाय फल निष्पत्ति से विवक्षित होता है, प्रयोगैकत्व नहीं होता है ॥२॥ अन्यार्थ भी इसी अर्थ को दिखाता है, क्योंकि सांगों का

फल सम्बन्ध होता है केवलों का नहीं होता है ।३। यदि ऐसा कहा जाता है कि प्रतिदक्षिण कर्त्तृ सम्बन्ध—यह अनियम है तो यह उचित नहीं है क्योंकि जो ही प्रक्रम में है वे ही अन्त से होते हैं ऐसा आदि में ही वरण काल में यजमान के द्वारा उपदिष्ट होता है । वरण कर्म प्रवृत्ति से पहिले ही होता है ।४-५। यदि प्रयोजन का एकत्व होने से समुदाय सम्पत्ति के लिए अवयवों से परिक्रय एक बार ही करना चाहिए, आवृत्ति से क्या लाभ है—यदि कोई ऐसा कहता है तो विशेष अर्थ वाली पुनः श्रुति होती है और परिक्रय विशेष का नियम किया जाता है कि प्रत्यवयव ही करना चाहिये ।६।७। अवेष्टि में तन्त्र भाव के सूचक लिंग के दर्शन होने से एकतन्त्रता होती है ।८। अथवा तन्त्र भाव नहीं होता है क्योंकि वचन से काम संयोग से भी श्रूयमाण है ।९। यदि ऐसा कोई कहे कि यह दर्शन क्रत्वर्थता में ही होता है तो वह अयुक्त है क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों का संयोग होता है । जैसे राजसूय राजन्य का ही है । अतः अक्रत्वर्थता में भी यह दर्शन होता है ।१०।

क्रत्वार्थायामिति चेन्न वर्णसंयोगात् ।११। पवमानहविःष्वैकतन्त्र्यं प्रयोगवचनैकत्वात् ।१२। लिगङ्दर्शनाच्च ।१३। वचनात्तु तन्त्रभेदः स्यात् ।१४। सहत्वे नित्यानुवादः स्यात् ।१५। द्वादशाहे तत्प्रतित्वादेकैकमहरपवृज्येत कर्मपृथक्त्वात् ।१६। अह्नां वा श्रुतिभूत्वात्तत्र साङ्गं क्रियेत यथा माध्यन्दिने ।१७। अपि वा फलकर्तृसम्बन्धात् सह प्रयोगः स्यादाग्नेयाग्नीषोमीयवत् ।१८। साङ्गकालश्रुतित्वाद्वा स्वस्थानां विकारः स्यात् ।१९। तदपेक्षं च द्वादशत्वम् ।२०।

पवमान हवियों में एक तन्त्रता है क्योंकि वहाँ प्रयोग वचनैकत्व होता है । इसका प्रयोग वचन एक ही है इससे सह प्रयोग होता है । इससे एक तन्त्रता है ।११। "समान वर्हींषि भवन्ति"—यह लिङ्ग भी सह प्रयोग को प्रकट करता है ।१२। वचन से तन्त्रभेद होता है । प्रथमा

का भेद है और उत्तरों का तन्त्र होता है। प्रयोग वचनैकत्व हेतु नहीं होता है क्योंकि यह प्रयोग वचन ही नहीं होता है काल वचन होता है। ।१३। महत्व में नित्यानुवाद होता है। इससे सह प्रयोग जाना जाता है।१४। द्वादशाह पृथक्भूत कर्म होते हैं अतः पृथक्त्व से ही धर्मों की आकाङ्क्षा किया करते हैं क्योंकि उनकी प्रवृत्ति ही ऐसी है। द्वादश पञ्चविंशति रात्र कर्तव्य होने हैं। सदीक्षोपसद अह ज्योतिष्टोम में ही अपवर्जित है।१५। अहों की द्वादश संख्या प्रत्यक्ष श्रुत है किन्तु वह बाधित हो जाती है इसलिए द्वादश दिनों में एक-एक प्रधान को प्रयुक्त करना चाहिये। अंगों का प्रधान कालत्व होने से तदीय तत्काल माध्यन्दिन की भाँति दीक्षोपसन्द है। इससे द्वादश साद्यस्क्र करने चाहिये।१६। इन समवेत प्रधान कर्मों का फल में और कर्त्ताओं में सम्बन्ध होने से सहप्रयोग ही होता है द्वादश साद्यस्क्र नहीं है। जिस तरह आग्नेयाग्नीषोमीओं में एक फल होने से और एक कर्तृत्व होने से सह प्रयोग होता है। इससे यह पक्ष श्रेयान् है।१७। प्रधानों की कालश्रुति है अंगों की नहीं है इस साङ्गकाल श्रुतित्व के होने से यह कथन भी युक्त नहीं है क्योंकि स्वस्थानों का विकार होता है।१८। प्रत्यक्ष संयोग होने से दीक्षोपसदों की पृथक् २ संख्या होती है।१९। इस प्रकार से वसतीपुरी पर्यन्त पूर्व स्वकालत्व होने से अगृह्यमाण विशेष वाले तन्त्र होते हैं और अवभृयादि उत्तर होते हैं क्योंकि वह दीक्षा के उन्मोचन के लिए ही है। ।२०।।

दीक्षोपसदां च सङ्ख्या पृथक्-पृथक् प्रत्यक्षसंयोगात् ।२१। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।२२। चोदनापृथक्त्वे त्वेकतन्त्र्यं समवेतानां कालसंयोगात् ।२३। भेदस्तुः तद्भेदात्कर्म भेदः, प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ।२४। तथा चान्यार्थदर्शनम् ।२५। श्वः सुत्यावचनं तद्वत् ।२६। पश्वतिरेकश्च ।२७। सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मण्यायां सर्वेषामुपलक्षणं प्रकृत्यन्वयादावाहनवत् ।२८।

अपिवेन्द्राभिधानत्वात्सकृत्स्यादुबलक्षणं काइस्य यक्षणार्थत्वाद् विभाद्वाच्च । २९ । पमुगणे कुम्भोशूलवपाश्रपणीनां प्रभुत्वात्तन्त्र-भाव: स्यात् । ३० ।

ऐसा होने पर अन्यार्थ दर्शन "षट् त्रिंशदहो का एषद्वा दशाह"-यह भी युक्त होता जाता है ।२१। आग्नेयाग्निषोमीयों में काल के संयो। से समवेतों की एकतन्त्रता चोदना पृथक्त्व होने पर युक्त है किन्तु यहाँ पर साङ्गकाल श्रुतित्व होने से हेतु अपदिष्ट हो जाता है। इससे यहाँ पर द्वादशाह में पौर्णमासीवत् अङ्गप्रधान सहा कार्य हैं ।२२। पूर्वसूत्र निर्दिष्ट के भेद होने से ही होती है। काल के भिद्यमान होने पर ही तन्त्र भेद होता है। उनके प्रधान होने से प्रयोग में कर्मभेद होता है। ।२३। पत्नी संयाजान्त ग्रहों का अन्यार्थ दर्शन भी होता है ।२४। संस्थित शब्द की वीप्सा के वचन से सुब्रह्मण्या का भेद दिखाया जाता हैं ।२५। पशुका अतिरेक भी भेद दिखाता है ।२६। सुत्या विवृद्धि में सुब्रह्मण्या में प्रकृति-अन्वय होने से सबका उपलक्षण होता है। जिस प्रकार से कर्म के भेद होने से भेद द्वारा आवाहन किया जाता है। इसी प्रकार से यहाँ भी होता है ।२७। इन्द्राभिधानत्व होने से अधिकार से ही प्रयोग होता है सबका उपलक्षण नहीं है क्योंकि काल-काल क्षणार्थत्व होता है ।२८। काल के अविभाग होने से भी अविकार से ही प्रयोग सिद्ध होता है ।२९। पशुगण में वाजपेय में कुम्भी-शूल-वपा और श्रपणीयों का प्रभुत्व होने से तन्त्रभाव होता है ।३०।

भेदस्तु सन्देहाद्देवतान्तरे स्यात् । ३१ । अर्थाद्वालिंगकर्म स्यात् । ३२ । अयाज्यत्वद्वसानां भेद: स्यात्स्वयाज्याप्रदानत्वात् । ३३ । अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात् स्वत्वस्याश्रुतिभूत्वात् । ३४ । सकृदिति चेत् । ३५ । न कालभदात् । ३६ । जात्यन्तरेषु भेद: पंक्तिवैषम्यात् । ३७ । वृद्धिदर्शनाच्च ।३८। कपालानि च कुम्भीवत्तुल्यङ्ख्यानाम् । ३९ । प्रति प्रधानं वा प्रकृतिवत् ।४०।

सर्वेषां चाभिप्रथनं स्यात् । ४१ । एकद्रव्ये संस्काराणां व्याख्यात-मेककर्मत्वम् ।४२। द्रव्यान्तरे कृतार्थत्वात्तस्य पुनः प्रयोगान्मंत्रस्य च तद्गुणत्वात् पुनः प्रयोगः स्यात्तदर्थेन विधानात् ।४३। निर्वपणलवन स्तरणाज्यग्रहणेषु च एकद्रव्यवत्प्रयोजनैकत्वात् । ४४ । द्रव्यान्तरवद्वा स्यात्तत्संस्कारात् । ४५ । वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् । ४६ । एकस्य वा गुणविधिर्द्रव्यैकत्वात्; तस्मात्सकृत्प्रयोगः स्यात् ।४७। कण्डूयने प्रत्यङ्ग कर्मभेदात् स्यात् । ४८ । अपि व चोदनैककालमेव कर्म्यंस्यात् । ४६ । स्वप्ननदीत-रणाभिर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रणेषुचैवम् । ५० ।

देवतान्तर में सन्देह होने से भेद होता है ।३१। अथवा भेद नहीं होता है क्योंकि सह प्रयोग होता है। अर्थ से चिह्न द्वारा विशेष ग्रहण हो जाता है ।३२। कुम्भी का तन्त्रभाव घटित नहीं होता है क्योंकि वसाओं का अयाज्यत्व होता है और स्वयाज्या प्रदानत्व है ।३३। अथवा वसाओं की प्रतिपत्ति होने से कुम्भी तन्त्र है। स्वत्व का अश्रुति-भूतत्व भी होता है क्योंकि स्वयाज्यार्धर्चान्त में होतव्य है इसके लिये कोई भी श्रुति नहीं है ।३४। यदि स्वत्व श्रूत नहीं है तो एक बार ही ऐसा कथन अयुक्त है क्योंकि कालका भेद होता है ।३५।३६।

एकादशिन नानाजातियों में कुम्भी का भेद होता है क्योंकि पंक्ति वैषम्य है। वहाँ अवदान सं भेद होता है। इससे पात्रभेद हो जाता है। ।३७। वृद्धि के दर्शन होने से भी भेद होता है ।३८। तुल्य संख्या वाले पुरोडाशों के कपाल तन्त्र हैं जिस तरह से भी प्राजापत्यों में कुम्भी तन्त्र होती है ।३९। अथवा प्रति पुरोडाश कपाल चतुष्क का भेद होता है वैसे प्रकृति में दर्शपूर्णमासों में प्रति पुरोड़ाश भिन्न कपाल होते हैं। यहाँ पर भी उसी भाँति चोदक के अनुग्रह के लिये भिन्न करने चाहिये ।४०।

सबका तन्त्रभाव में अभिप्रथन सम्पादित करना अशक्य होता है इसलिये भी उससे भेद होता है ।४१। व्रीहि आदि एकाद्रव्य में संस्कारों

का एक कर्मत्व व्याख्यात है। जहाँ मन्त्रार्थ का नानात्व होता है वहाँ इसकी आवृत्ति होती है और मन्त्रार्थ एक ही है तो आवृत्ति निरर्थक है। इससे मन्त्र का एक बार प्रयोग होता है।४२। बीजान्तर में मन्त्र का पुनः प्रयोग होता है क्योंकि वह कृतार्थ हो चुका है। यदि उत्तर संस्कार के लिए पुनः प्रयोग किया जाता है तो मन्त्रकामी तद्गुणत्व होने से पुनः प्रयोग होता है क्योंकि तदर्थ से विधान है। इससे प्रति बीज मन्त्र की आवृत्ति होती है।४३। निर्वपण-लवन-स्तरण और आज्य ग्रहणों में प्रयोजन के एकत्व होने से द्रव्यवत् सकृत् प्रयोग होता है। यहाँ आज्य से यागयोगय आज्य का उपादान होता है।४४। अथवा द्रव्यान्तर की भाँति भेद होता है क्योंकि उसका संस्कार होता है। मन्त्रकृत संस्कार से उनका वर्जन होता है। इसी भाँति सर्वत्र होता है। इससे वहाँ-वहाँ पर मन्त्र की आवृत्ति होती है।४५। कर्म को पुनः प्रयोग से वेदि के प्रोक्षण में मन्त्र का अभ्यास होता है। इससे आवृत्ति होती है।४६। एक ही वेदि द्रव्य सकृत् उक्त मन्त्र से संस्कृत होता है अतः द्रव्यैकत्व होने से एक बार ही प्रयोग होता है। आवृत्ति उसका गुण है। आवृत्ति के सम्पदानार्थ पुनः क्रिया होती है।४७। अङ्ग-अङ्ग में कण्डूयन का कर्म भिन्न होता है। ज्योतिष्टोम में कण्डूयनार्थ मन्त्र की प्रत्यङ्ग में आवृत्ति होती है क्योंकि कर्म का भेद होता है। इससे आवृत्ति है।४८। अथवा ऐसा नहीं है यहाँ पर कण्डूयन चोदित नहीं होती है। कण्डू के अपनयन के लिए अर्थ से ही की लाती है। यदि चोदित होती तो अदृष्टार्थ होने से प्रति प्रयोग में नानात्व हो जाता। अर्थगृहीत कण्डूयन में तो जितनी कण्डू उत्पन्न है उतनी ही चिकीर्षित अपनीत की जाती है: वहाँ विशेष का ग्रहण नहीं होता है। इससे सकृत्प्रयोग ही होता है।४९। स्वप्न-नदी तरण-अभिवर्षण और अमेध्य प्रति मन्त्रणों में एक साथ ही सबके ग्रहण होने से विशेष गृह्यमाण नहीं होता है अतः मन्त्र की अनावृत्ति होती है।५०।

प्रयाणे त्वार्थनिवृ`त्तेः । ५१ । उपवरमन्त्रस्तन्त्रं स्याल्लोकवत् बहुवचनात् । ५२ । न सन्निपातित्वादसन्निपातिकर्मणां विशेषग्रहणे कालैकत्वात्सकृत् वचनम् । ५३ । हविष्कृदध्रिगुपुरोऽनुवाक्यामनोतस्यावृत्तिः कालभेदास्यात् । ५४ । अध्रिगोश्च विपर्यासात् ५५ । करिष्यद्वचनात् । ५६ ।

प्रयाण में तो आर्थनिवृत्ति का उसके प्रस्थान से अभिसम्बन्ध होता है । इससे सकृत् प्रयोग ही होता है ।५१। उपरव मन्त्र-तन्त्र होता है इससे एकबार ही उसका प्रयोग करना चाहिए क्योंकि जिस तरह लोग मे एक में भी बहुवचन का प्रयोग होता है वैसे ही यहाँ पर भी बहुवचनान्त प्रयोग है ।२२। मन्त्रान्त से कर्मादि का संनिपात होता है अतः संनिपातित्व होने से यहाँ तन्त्र नहीं होता है । जो असंनियाति कर्म हो वहाँ विशेषके अग्रहण में कालैकत्व होने से सकृद्वचन होता है ।५३। हविष्कृदध्रिगु पुरोनु वाक्यामनोत की काल के भेद होने से आवृत्ति होती है । वहाँ काल के भेद से विशेष गृह्यमाण होता है ।५४। अध्रिगो की विपर्यास होने से आवृत्ति होती है । यहाँ पर यह अपर विशेष है ।५५। "आरभध्वमुपनयत" यह करिष्यमाण को बताता है । अतः इस वचन से अध्रिगो की आवृत्ति सिद्ध होती है ।५६।

द्वादशोऽध्याय

प्रथम पाद

तन्त्रिसमवाये चोदनातः समानामेकतन्त्रत्वम् तुल्येषु तु भेदः स्यात् विधिप्रक्रमतादर्थ्यादर्थ्यं श्रुतिकालनिर्देशात् । १ । गुणकालविकाराच्च तन्त्रभेदः तन्त्रभेदः स्यात् ।२। तन्त्रमध्ये विधानाद्वा मुख्यतन्त्रेण सिद्धिः स्यात्तन्त्रार्थस्याविशिष्टत्वात् ।३। विकाराच्च न भेदः स्वादर्थस्याविकृतत्वात् ।४। एकेषां चाशक्यत्वात् । ५ । एकाग्निवच्च दर्शनम् ।६। जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः स्वतन्त्र प्रतिषेधः स्यात् । ७ । नानार्थत्वासोमे दर्शपूर्णमासप्रकृतीनां वेदिकर्म स्यात् । ८ । अकर्म वा कृतदूषा स्यात् । ९ । पात्रेषु च प्रसंगः स्याद्धोमार्थत्वात् । १० ।

तन्त्र साधारण धर्म ग्राम है । वह जिन प्रधानों का है वे प्रधान तन्त्री होते हैं । उन तन्त्रियों के समवाय में एक देश काल कर्तृत्व होने पर एक वाक्य चोदितों का एक तन्त्रत्व होता है और जो चोदना से तुल्य नहीं हैं अर्थात् नाना वाक्य चोदित हैं उनमें तन्त्र का भेद होता है क्योंकि श्रुति से काल का निर्देश होने से विधि क्रम का तादर्थ्य होता है ।१। गुण और काल के विकार होने से भी तन्त्र भेद होता है ।२। अथवा तन्त्र मध्य में विधान होने से मुख्य तन्त्र के द्वारा सिद्धि होती है क्योंकि तन्त्रार्थ अर्थात् तन्त्र की अविशिष्टता है ।३। अर्थ के अविकृत होने के कारण विकार से भेद नहीं होता है।४। एक अर्थों की भेद से क्रिया अशक्य होती है ।५। पशु और पुरोडाश का एकाग्निवत् दर्शन होता है। इससे पाशुकतन्त्र पुरोडाश में प्रसक्त होता है ।६। जैमिनि आचार्य

कामत है कि आज्यभाग करने चाहिए क्योंकि पर तन्त्रापत्ति से स्वतन्त्र का प्रतिषेध होता है ।७। सोम में दर्शपूर्ण मास प्रकृति वाले कर्म हैं उनके नानार्थत्व होने से उनकी वेदि भेद से करनी चाहिये ।८। अथवा दार्शिकी वेदी नहीं करनी चाहिए क्योंकि सौमिकी वेदि के करने पर दूषण होता है ।९। पात्रों में प्रसङ्ग होता है क्योंकि वे पात्र होम के लिये ही होते हैं और वह होम गृह चमसों से निर्वत्तित किया जाता है । ।।१०।।

न्याय्यानि वा प्रयुक्तत्वादप्रयुक्ते प्रसंङ्गः स्यात् । ११ । शामित्रे च पशुपुरोडाशो न स्यादितरस्य प्रयुक्तत्वात् । १२ । श्रपणं चाऽग्निहोत्रस्य शालामुखीये न स्यात्प्राजहितस्य विद्यमानत्वात् । १३ । हविर्धाने निर्वपणार्थं साधयेतां प्रयुक्तत्वात् ।१४। अप्रसिद्धिर्वाऽन्यदेशत्वात् प्रधानवैगुण्यादवैगुण्ये प्रसङ्गः स्यात् । १५ । अनसां च दर्शनात् । १६ । तद्युक्तं च कालभेदात् ।१७। मन्त्राश्च सन्निपातित्वात् । १८ । धारणार्थत्वात्सोमेऽन्यन्वाधानं न विद्यते ।१९। तथा व्रतमुपेतत्वात् । २० ।

अथवा दर्शपूर्णमासिक न्याय्य होते है क्योंकि वे प्रयुक्त विद्यमान होते हैं । जिसके मध्यपाती का अङ्ग प्रयुक्त नहीं है उसके कार्य में तन्त्रि के अङ्ग प्रसक्ति होती है ।११। शामित्र अग्नि में पशु पुरोडाश नहीं होता है क्योंकि वहाँ इतर को प्रयुक्तत्व होता है । इससे वहाँ पर श्रपण करना चाहिए ।१२। शाला मुखीय में अग्नि होत्र का श्रपण नहीं होता है क्योंकि वहाँ गार्हपत्य की विद्यमानता होती है । नामधेय में प्राजहित में श्रवण प्राप्त होता है और चोदक से नामधेय विशेष बलवान् होता है । इससे वहाँ श्रपण करना चाहिए ।१३। हविर्धान में प्रयुक्त होने से निर्वाप करना चाहिए । इससे उन दोनों में अन्य तर से निर्वाप करना चाहिए ।१४। अथवा अन्यदेशत्व होने से प्रधान वैगुण्य के कारण से हविर्धानों से निर्वाप की असिद्धि होती है । अवैगुण्य में प्रधान का प्रसङ्ग

युक्त होता है। इससे हविर्धानों में निर्वाप नहीं होता है ।१५। वहाँ पर अनोवहुत्त का दर्शन होता है ।१६। वह दीक्षायुक्त जागरण युक्त होता है और इतरों में प्रसक्त नहीं होता है क्योंकि कालभेद है ।१७। मन्त्र तो जोकि आज्य ग्रहणादिक है भेद से करने चाहिये क्योंकि ये मन्त्र संनिपतित्त होकर उपकारी होते हुए उपस्थित कर्म को कहते हैं। इससे भी आवृत्ति है ।१८। धारणार्थत्व होने से अर्थात् विहृत अग्नि के धारणार्थ वह होता है इससे सोम में अग्न्यन्दाधान नहीं होता है ।१९। उसी प्रकार से उपेतत्व होने से वहीं पर दार्शपौर्णमासिक व्रत किया जाता है ।।२०।।

विप्रतिषेधाच्च । २१ । सत्यवदिति चेत् । २२ । न संयोग-पृथक्त्वात् । २३ । ग्रहार्थं च पूर्वमिष्टेस्तदर्थत्वात् । २४ । शेष-वदितिचेत् । २५ । न वैश्यदेवो हि । २६ । स्याद्व्यपदेशात् ।२७। न गुणार्थत्वात् । २८ । सन्नहनञ्च वृत्तत्वात् । २९ । अन्यविधाना-दारण्यभोजनं न स्यादुभयं हि वृत्त्यर्थम् । ३० ।

और विप्रतिषेध होने से भी चोदक प्राप्त उसी तरह से नहीं किया जाता है ।२१। यदि सत्य वचन व्रत की भाँति होता है—ऐसा कहते हैं तो युक्त नहीं है क्योंकि यह संयोग पृथक्त्व होने से उसके तुल्य नहीं है। इसलिये सत्यवत्—यह यहाँ पर दृष्टान्त नहीं बनता है ।२२।२३। देवता परिग्रह के लिये भी ऐष्टिक कर्मों में दार्श पौर्णमासिक प्रसङ्ग से ही सिद्ध होता है क्योंकि इष्टि तदर्थ ही होती है ।२४। शेष जो अगांगों के देवता अपरिगृहीत हैं उनकी भाँति तत्परिग्रहार्थ दार्शपौर्णमासिक ऐष्टिकों में करना चाहिए—यदि ऐसा कहते हैं तो उचित नहीं है क्योंकि दीक्षणीया से हो प्रसंग से देवता परिग्रहार्थ होता है। सोम में वैश्वदेव ग्रह यजि है। यहाँ पर सब देवता इज्य होते हैं। उनके मध्य में अंग देवता भी इज्य हैं। इससे वे परिगृहीत हैं ।२५-२६। अथवा वहाँ समस्त देवता इज्य नहीं होते हैं किन्तु विशेष देवतागण ही होते हैं क्योंकि वहाँ

व्यय देश होता है।२७। गुणार्थत्व होने से वृहस्पति प्रशंसार्थ है। इस व्ययदेश से गणायिम्वे देव कल्पना नहीं किया जा सकता है।२८। दीक्षाकाल में सोमार्थ पत्नी का सहनन वृत्त है और यह समाम्नात होता है। अतः वृत्तत्व होने से संहनन होता है।२९। दर्शपूर्णमासी में अरण्य भोजन और सोम में ब्राह्मण का पयोव्रत ये दोनों वृत्त्यर्थ होते हैं अतः अव्यविधान होने से अरण्य भोजन नहीं होता है। चोदक के द्वारा प्राप्त होता हुआ भी नहीं करना चाहिए ॥३०॥

शेषभक्षास्तथेति चेन्नान्यार्थत्वात्। ३१। भृतत्वाच्च परिक्रयः। ३२। शेषभक्षास्तथेति चेत्। ३। न कर्म संयोगात्। ३४। प्रवृत्तवरणात्प्रतितन्त्रं वरणं होतुः क्रियेत। ३५। ब्रह्मापीति चेत्। ३६। न प्राङ्नियमात्तदर्थं हि। ३७। निर्दिष्टस्येति चेत्। ३८। नाश्रुतत्वात्। ३९। होतुस्तथेति चेत्। ४०। न कर्मसंयोगात्। ४१। यज्ञोत्पत्त्युपदेशे निष्ठितकर्मप्रयोगभेदात्प्रतितन्त्रं क्रियेत। ४२। न वा कृतत्वात्तदुपदेशो हि। ४३। देशपृथक्त्वान्मन्त्रोऽभ्यावर्तेत। ४४। सन्नहनहरणे तथेति चेत्। ४५। नान्यार्थत्वात्। ४६।

एडादि शेषभक्ष भी आरण्य की भांति निवृत्त होता है यदि ऐसा कहते हैं तो अयुक्त है क्योंकि वह वृत्त्यर्थ नहीं होता है।३१। दर्शपूर्णमासों में परिक्रय आम्नात होता है किन्तु चोदक द्वारा प्राप्त होता हुआ भी नहीं करना चाहिए क्योंकि वे ऋत्विज सोमार्थ परिक्रय से भृत होते हैं। इससे अन्वाहार्य निवृत्त हो जाता है।३२। यदि यह कहते हैं कि शेष भक्ष भी अन्वाहार्यवत् निवृत्त होते हैं तो उचित नहीं है क्योंकि ये परिक्रयार्थ न होकर संस्कारार्थ कर्म में विधीयमान होते हैं अतः तदर्थ करने ही चाहिए।३३।३४। प्रवृत्त कर्म में वरण होने से प्रति तन्त्र में होता का वरण करना चाहिए। यह सिद्धान्त सूत्र है। यदि नहीं किया जाता है तो गुण वैगुण्य हो जायगा। प्रति कर्म भेद से कर्त्तव्य है।३५।

यदि यह कहते हैं कि इसी तरह ब्रह्मा का भी वरण करना चाहिए तो अयुक्त है क्योंकि वरण के पश्चात् ब्रह्मा का कर्म होता है और वह कर्मार्थ है धर्मपात्र नहीं है ।३६।३७। ब्रह्मा के द्वारा वेदिकर्म निर्दिष्ट है अतः ब्रह्मा भी प्रवृत्तवरण हो सकता है—यह कथन उचित नहीं है क्योंकि परिग्रहण अश्रुत होता है ।३८।३९। वरण से पहले ब्रह्मा की भाँति होता का भी कुछ कर्म नहीं होता है—ऐसा यदि कोई कहता है तो अयुक्त है क्योंकि वरण से प्राक् होता का सामिधेनी कर्म से संयोग होना है ।४०।४१। यज्ञोत्पत्त्युपदेश ने आतिथ्योत्पत्त्युपदेश याम्नि छित कर्म किया जाता है वह प्रयोग भेद से भिन्न है । आतिथ्यादि कर्म भिन्न प्रयोग वाले हैं। इसलिए प्रतिकर्माभ्यास है और यहाँ प्रसंग युक्त नहीं है ।४२। अथवा प्रोक्षणादि कृतत्व होने से नहीं करने चाहिये ।४३। देश पृथक्त्व होने से मन्त्र भेद से करना चाहिये ।४४। सं हनन हरण मन्त्र भी भेद से ही प्रयुक्त करने चाहिये—यदि यह कहते हैं तो अयुक्त है अन्यार्थत्व होने से मन्त्र का ग्रहण नहीं हुआ है ।४५।४६।



तृतीय पाद

विहारो लौकिकानामर्थं साधयेत् प्रभुत्वात् ।१। मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् ।२। निर्देशाद्वा वैदिकानां स्यात् ।३। सति चोपासनस्य दर्शनात् ।४। अभावदर्शनाच्च ।५। मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्याद् वाहुतिसंयोगात् ।६। वाक्यशेषो वा दक्षिणा स्मिन्नारभ्य विधानस्य ।७। सववीये छिद्रापिधानार्थत्वात् पमु-पुरोडाशो, न स्यादन्येषामेवमर्थत्वात् ।८। क्रिया वा देवतार्थ त्वात् ।९। लिङ्गदर्शनाच्च ।१०।

पार्वण स्थाली पाकादि तथा अग्निसाध्य पचन दहन प्रकाशन आदि लौकिक कर्मों का अर्थ विहार साधन किया करता है क्योंकि आहुति प्रक्षेपण में और पाकादि में प्रभव होता है। इस प्रकार से उस की उत्पत्ति अर्थ वाली होती है।१। उसी की भाँति मांस के पाक का प्रतिषेध भी होता है। लौकिक पाक में ही मांस का प्रसंग है वदिक में नहीं होता है।२। अथवा गार्हपत्यादि का कार्य निर्दिष्ट किया जाता है, अतः निर्देश से वैदिक कर्मों का विहार अर्थ साधद करता है। इस सूत्र से सिद्धान्त प्रतिपादित है।३। विहार के होने पर औपासन अग्नि का दर्शन होता है।४। वैहारिक अग्नि में मांस पाक का अभाव दर्शन होने से लौकिक कर्मों में विहार का प्रसंग नहीं होता है।५। आहुति के संयोग से मांस पाक विहित प्रतिषेध वाला होता है।६। अथवा यह अन्य परिहार है कि दक्षिण अग्नि में पत्नी के व्रत का श्रपण आम्नात होता है। विधान का आरम्भ करके दक्षिणाग्नि में उस व्रत श्रपण वाक्य का यह शेष है। इससे दक्षिणाग्नि का अभिप्राय जाना जाता है।७। सवनीय पशु में पुरोडाश नहीं करना चाहिये क्योंकि छिद्रापिधा-नार्थ ही वह श्रूयमाण होता है। अन्य सवनीय पुरोडाशों के द्वारा भी उसका छिद्रापिधान किया जाता है। अतः कृतार्थ होने से पशु पुरोडाश निवृत्त हो जाता है।८। अथवा देवता संस्कार के लिए पशुपुरोडाश करना चाहिये। छिद्रापिधानार्थ जो कहा है यह अर्थवाद मात्र ही है।९। प्रातः सवनादि में चरण करने से इस अर्थ की पुष्टि लिंग के दर्शन से भी होती है। इससे यह सिद्ध है पुरोडाश करना चाहिये।१०।

हविष्कृत्सवनीयेषु न स्यात्, प्रकृतौ यदि सर्वार्था पशुं प्रत्याहुता सा कुर्याद्विद्यमानत्वात्।११। पशौ तु संस्कृते विधाना-त्तार्तीयसवन- नि-) केषु स्यात्सौम्याश्विनयोश्चापवृक्तार्थत्वात्।१२। योगाद्वा यज्ञाय तद्विमोके विसर्गः स्यात्।१३। निशि यज्ञे

प्राकृतस्याप्रवृत्तिः स्यात्प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।१४। कालवाक्यभेदाच्च तन्त्रभेदः स्यात् ।१५। वेद्यु द्धननव्रतं विप्रतिषेधात्तदेव स्यात् ।१६। तन्त्रमध्ये विधानाद्वा तत्तन्त्रा सवनीयवत् ।१७। वैगुण्यादिध्मा-वर्हिनं साधयेदग्न्याधानं च यदि देवतार्थम् ।१८। आरम्भणीया विकृतौ न स्यात् प्रकृतिकालमध्यत्वात्कृता, पुनस्तदर्थेन ।१९। स्याद्वा कालस्याशेषभूतत्वात् ।२०।

सवनीय पुरोडाशों में हविष्कृदाह्वान नहीं करना चाहिये क्योंकि यह पशु के प्रति आहूत हैं। प्रकृति में यदि सर्वार्था वह पशु के प्रति आहूता है तो विद्यमान होने से करनी चाहिये ।११। संस्कृत पशु में विधान होने से तार्तीय सवनिक पुरोडाशों में और सौम्याश्विनों में भेद से हविष्कृत् होता है। उस समय में पाशुकि हविष्कृत् कृतार्थ होने से अपवृक्त होती है ।१२। अथवा यज्ञ के लिए योग से उसके विमोक में विसर्भ न्याय्य होता है। इससे भेद से आह्वातव्य नहीं है ।१३। निशि-यज्ञ में प्राकृत अमावास्या तन्त्र की प्रत्यक्षशिष्ट होने से अपवृत्ति होती है ।१४। काल के भेद से और वाक्य के भेद होने से तन्त्र का भेद होता हैं ।१५। विप्रतिषेध होने से वैद्युत् हनन व्रत वह ही होता है। इससे उपेयमान पिष्टपेषणवत् अकिञ्चित्कर होता है, अतः दोनों ही प्रसक्त होने हैं ।१६। अथवा तन्त्र के मध्य में विधान होने से निशि में इष्टि सवनीय वत् तत् तन्त्रा होती है ।१७। यदि देवता के परिग्रहार्थ अग्न्यन्वाधान है तो वह भी भेद से करना चाहिये और वैगुण्य होने से इध्मावर्हि का साधन नहीं करना चाहिये क्योंकि इध्म अग्नि समिन्धनार्थ ही होता है। ।१८। वैकृत कर्मों में प्रकृति के काल मध्य होने से दार्शपौर्णमासिक आरम्भणीय नहीं करने चाहिये। अथवा एक बार आरम्भ संयोग होने से वह एकारम्भ यावज्जीवन प्रयुक्त होता है। इससे उनमें भेद नहीं होता है ।१९। अथवा काल के अशेषभूतत्व होने से विकृतियों में आरम्भणीय होते हैं ।२०।

प्रारम्भविभागाच्च ।२१। विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ।२२। मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत् ।२३। तथा चान्यार्थदर्शम् ।२४। अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात् ।२५। परिधिर्द्व्यर्थत्वादुभयधर्मा स्यात् ।२६। यौप्यस्तु विरोधे स्यान्मुख्यानन्तर्यात् ।२७। इतरो वा तस्य तत्र विधानात ।२८। उअयोश्चाङ्गसंयोगः ।२९। पशुसवनीयेषु विकल्पः स्याद्वं कृतश्चेदुभयोरश्रुतिभूतत्वात् ।३०।

प्रकृति और विकृति का आरम्भ विभक्त होता है। जब प्रकृति का आरम्भ होता है, विकृति उपपन्न नहीं होनी है क्योंकि वह तो काम अथवा निमित्त से चोद्यमान हुआ करती है। इसलिए विकृतियों में आरम्भणीय होता है ।२१। विप्रतिषिद्ध धर्मों का बहुत से ग्रहों के समवाय में सधर्मत्व होता है। यहाँ पर भूयस्त्व ही इसका हेतु होता है, क्योंकि बहुत गुण सम्पन्नों में महत्फल होता है। वहाँ ऐन्द्री करनी चाहिये ।२२। पूर्व चोदना होने से मुख्य आग्ना वैष्णव का कल्प होता है, जैसाकि लोक में होता है। पञ्चदशरात्र में भी मुख्य धर्मानुग्रह होता है ।२३। अन्यार्थ भी पूर्व प्राप्त के बलीयस्त्व को प्रकट करता है ।२४। अङ्गगुण से प्रधान गुण का विरोध होने से अङ्ग गुण बाधित होता है, क्योंकि तादर्थ्य होता है अर्थात् अङ्ग गुणवान् होने से ही प्रधान-सगुण हुआ करता है। इससे पर्व में सुत्या करनी चाहिये ।२५। परिधि उभय धर्म वाली होती है क्योंकि परिधि के धर्म और यूप धर्म वहाँ द्व्यर्थत्व होता है ।२६। मुख्य पशु के आनन्तर्य होने से वह अन्तरंग होता है, अतएव विरोध होने पर यूपधर्म ही करना चाहिये। परिधि अग्नि से सम्बद्ध है अतः बहिरंग होता है ।२७। अथवा यूपधर्म अविरोधी करना चाहिए क्योंकि पशु नियोजन रूप यूपकार्य का परिधि में विधान होता है ।२८। दोनों पक्षों का अङ्ग से ही धर्म का संयोग होता है और कहीं पर प्रधान से प्रत्यासत्ति नहीं है ।२९। सवनीय पशु में और सवनीय

पुरोडाशों में प्रसंग में बिकल्प होता है, यहाँ पर पुरोडाशों का पशुतन्त्र में विधान नहीं है और न पशु का पुरोडाशतन्त्र में ही विधान होता है। दोनों स्वतन्त्र हैं। दोनों को अश्रुति भूतत्व है, अतः पशु और पुराडाश दोनों ही वैकृत हैं। दोनों की तुल्य प्राप्ति से अन्यतर के द्वारा कृतार्थं होने से विकल्प होता है ।३०।

पाशुकंवा तस्य वैशेषिकाम्नाना त्तदनर्थकं विकल्पे स्यात् ।३१। पशोश्च विप्रकर्षस्तन्त्रमध्ये विधानात् ।३२। अपूर्वं च प्रकृतौ, समानतन्त्रा चेदनित्यत्वादनर्थकं हि स्यात् ।३३। अधिकाश्च गुणः साधरणेऽविरोधात्कांस्यभोजिवदमुख्येऽपि ।३४। तत्प्रवृत्त्या तु तन्त्रस्य नियमः स्याद्यथा पाशुकं सूक्तवाकेन ।३५। न वाऽविरोधात् ।३६। अशास्त्रलक्षणाच्च ।३७।

पशु का वैशेषिक धर्म आम्नात है और विकल्प होने पर वह अनर्थक हो जायगा, अतः पाशुक तन्त्र पुरोडाशों में प्रसक्त होता है, वहाँ विकल्प नहीं है ।३१। पशु के तन्त्र का विप्रकर्ष होने से तन्त्र के मध्य में पुरोडाशों का विधानयुक्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि पाशुक तन्त्र पुरोडासों में प्रसक्त होता है, विकल्प नहीं है ।३२। अपूर्व वैकृत तन्त्र प्रकृति में प्रसक्त होता है। यदि प्रकृति विकृति के साथ समान तन्त्र वाली है—ऐसा कहते हैं तो अनुचित है, क्योंकि विकृति का अनित्यत्व होता है और वैकृत विधान अनर्थक हो जाता है ।३३। साधारण में कोई विरोध न होने से अधिक गुण कांस्यभोजी की भाँति अमुख्य में भी होता है। यह सिद्धान्त सूचक है ।३४। जिस तरह पाशुक तन्त्र सूक्तवाक के द्वारा नियत होता है उसी भाँति उस (प्रसून) की प्रवृत्ति से वैश्वदेविक तन्त्र नियमित किया जाता है ।३५। अथवा इतरेतर हवियों के यह धर्म अविरुद्ध है, अतः नियम नहीं होता है ।३६। प्रसून शास्त्र विदित नहीं है किन्तु चोदक द्वारा प्राप्त होते है। इसलिए तन्त्र का कोई नियम नहीं है ।३७।

तृतीय पाद

विश्वजिति वत्सत्वङ्नामधेयादितरथा तन्त्रभूयस्त्वादहतं स्यात् ।१। अविरोधो वा उपरिवासो हि वत्सत्वक् ।२। अनुनिर्वाप्येषु भूयस्त्वेन तन्त्रनियमः स्यात् ।३। आगन्तुकत्वाद्वा स्वधर्मा स्याच्छ्रुतिविशेषादितरस्य च मुख्यत्वात् ।४। स्वस्थानत्वाच्च ।५। स्विष्टकृच्छ्रवणान्नेति चेत् ।६। विकारः पवमानवत् ।७। अविकारो वा प्रकृतिवच्चोदनां प्रति भावाच्च ।८। एककर्मणि शिष्टत्वाद् गुणानां सर्वकर्म स्यात् ।९। एकार्थास्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य ।१०।

विश्वजित् एकाह में वत्सका त्वक् परिधान के लिए आम्नात है और वहाँ पर नामधेय से वत्सत्वक् होती है। यदि नामधेय से, जो कि चोदक से अधिक वलवान् होता है, प्राप्ति न होती तो भूयस्त्व से ज्योतिष्टोमादि प्रकृति वाले अहों को अहत हो जाना। यहाँ नामधेय से प्राप्ति है, इसलिए अहत नहीं होता है ।१। अथवा वत्सत्वक् ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। आचार से वासद्वय पुरुष को प्राप्त होते हैं। यह वत्सत्वक् उपरिवास मात्र होता है ।२। अनुनिर्वाप्यों के बहुत्व होने से वह तन्त्र पशु पुरोडाश में प्रसक्त होता है ।३। श्रुति विशेष के होने से अनुनिर्वाप्य आगन्तुक होते हैं। इस प्रकार से श्रुति के पूर्व पशु पुरोडाश होता है और पीछे अनुनिर्वाप्य होते हैं। वह मुख्य है और दूसरे जघन्य है। इसलिए उनके आगन्तुकत्व होने से और इतर के मुख्यत्व होने से पशु पुरोडाश स्वधर्मा होता है ।४। उनके स्वस्थानत्व होने से भी पशुपुरोडाश का तन्त्र करना चाहिये ।५। स्विष्टकृत् के श्रवण से नहीं होता है, यदि यह कहा जाता है तो उसका परिहार करना चाहिये। पशु पुरोडाश को तन्त्र से अनिरुक्त होने पर स्विष्टकृत् के प्राप्त होने में वचन से विकार हो जायगा। जिस प्रकार से वचन से पवमान शब्द निर्वाप किया जाता है वैसे ही यहाँ भी होता है ।६।७। अथवा यहाँ विकार का

विधान नहीं होता है। प्रकृतिवत् अतिदेश होने से अस्विष्ट कृच्छ्रब्दक वचन करना चाहिये। वहाँ पर अन्य विकार के विधीयमान होने पर वाक्य विद्यमान होता है। चोदना के प्रति भाव होने से स्विष्ट कृद्वचन है।८। एक कर्म में बहुत से गुण शिष्ट होते हैं, उन सबकी क्रिया होती है। इस प्रकार से सबका शासन अर्थ वाला हो जायगा और सर्वाङ्गोप-संहारी प्रयोग वचन अनुगृह्यमाण होता है।९। जो एक कार्यार्थ होते हैं उनका विकल्प होता है। प्रधान की समुच्चय में आवृत्ति होती हैं।१०।

अभ्यस्येक्षार्थवत्त्वादिति चेत् ।११। नाश्रुतित्वात् ।१२। सति चाभ्यासशास्त्रत्वात् ।१३। विकल्पवच्च दर्शयति ।१४। कालान्तरेऽर्थवत्त्वं स्यात् ।१५। प्रायश्चित्तेषु चैकार्थ्यान्निष्पन्नेना-भिसंयोगस्तस्मात्सर्वस्य निर्घातः ।१६। समुच्चयस्त्वदोष निर्घा-तार्थेषु ।१७। मन्त्राणां कर्मसंयोगात्स्वधर्मेण प्रयोगः स्याद्धर्मस्य तन्निमित्तत्वात् ।१८। विद्यां प्रति विधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात्कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य ।१९। भाषास्वरोपदेशेषु ऐरवत्प्रव-चनप्रतिषेधः स्यात् ।२०।

यदि ऐसा कथन होता है कि गुणान्तर शासन के अर्थवत्त्व के लिए अभ्यास करना चाहिए, तो यह युक्त नहीं है क्योंकि अभ्यास श्रुति प्रतिपादित नहीं है। अतः उसका कोई प्रमाण नहीं है।।११।।१२।। कहीं पर अभ्यास का शास्त्र हो तो उसके समुच्चय होने पर नहीं होता है। उसमें भी विकल्प ही होता है।१३। विकल्प की भाँति दर्शन होता है। यज्ञ क्रतुओं के यूप वैल्व-खादिर अथवा पालाश होते हैं। वाजपेय में खादिर ही विदित करते हुए विकल्प का अनुवाद किया जाता है, इससे भी विकल्प होता है।१४। प्रयोगान्तर में गुणान्तर शासन को भी अर्थवत्त्व होता है। एक-एक निरपेक्ष का साधकत्त्व श्रुत होता है। इससे विकल्प है।१५। प्रायश्चित्तों में, जो कि दो प्रकार के होते हैं—कुछ प्रमाद से आपतित वैगुण्य के समाधानार्थ हैं और कुछ निमित्त में कर्म के अङ्ग स्वरूप होते हैं, ऐकार्थ्य होने से निष्पन्न के साथ अभिसंयोग होता

है। इससे ये दोषों के निर्घात के लिये होते हैं।१६। जो दोषों निर्घात करने के लिये नहीं होते हैं, उन अदोषार्थों में समुच्चय होता है ।१७। धर्म के तन्निमित्तत्व होने से मन्त्रों का स्वधर्म से प्रयोग होता है, क्योंकि मन्त्रों का कर्म से सयोग होता है। यह भी मन्त्र प्रयोग है। इससे यहाँ पर भी उसे होना ही चाहिए।१८। प्रयोग के कर्मार्थत्व होने से अथवा विद्या के प्रति विधान होने से सर्व काल प्रयोग होता है। यह कर्मार्थ प्रयोग है, इससे वहाँ धर्म की अप्राप्ति होती है, श्रुति के अनुरोध से प्रयोग प्राप्त होता है और स्मृति के अनुरोध से अप्रयोग है किन्तु श्रुति स्मृति से बलवती होती है इसलिये अनादर करके प्रयोग नियम होता है ।१६। भाषिक स्वर के उपदेश से ऐरवत् (यथा इरा पद के उपदेश से कर्म काल में गिरा पद की निवृत्ति होती है उसी भाँति) उन मन्त्रों में प्राव-चन का प्रतिषेध होता है।२०।

मन्त्रोपदेशो वा न भाषिकस्य प्रायापत्तेर्भाषिकश्रुतिः ।२१। विकारः कारणाग्रहणे ।२२। सन्नयायत्वाददृष्टोऽप्येवम् ।२३। तदुत्पत्तेर्वा प्रवचनलक्षणत्वात् ।२४। मन्त्राणां करणार्थत्वान्म-न्त्रान्त्रेन कर्मदिसन्निपातः स्यात्सवस्य वचनार्थत्वात् ।२५। तन्त-तवचनाद्धारायायामादिसंयोगः ।२६। कर्मसन्तानो वा नानाकर्मत्वा-दितरस्याशक्यत्वात् ।२७। आधारे च दीर्घाधारत्वात् ।२८। मन्त्राणां सन्निपातित्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात् ।२९। सङ्ख्या-विहितेषु समुच्चयाऽसन्निपातित्वात् ।३०।

अथवा यह उपदेश मन्त्र का होता है भाषिक स्वर का नहीं होता है। मन्त्र के द्वारा ही इसका आदान होता है, भाषिक स्वर के द्वारा नहीं है। यह शब्द मन्त्रोपदेश के स्वरूप वाला है। प्रायापत्ति से भाषिक श्रुति होती है। भाषा स्वर ब्राह्मण में प्रवृत्त होता है, यदि उसके मध्य में प्रवचन से पढ़ा जाता है तो भाषिक स्वर का सन्तान विच्छिन्न होयगा। इसलिये उसके परिहारार्थ भाषिक से उपदेश होता है ।२१। किसी कारण के ग्रहण न होने से इरापद से गिरापद का विकार युक्त होता है।२२। शब्द के तद्रूपत्व होने से मन्त्रोपदेश जो कहा गया है, उसी

न्याय से अदृष्ट भी मन्त्रोपदेश ही होता है भाषिकोपदेश नहीं है। इससे उसका भी प्रावचन स्वर से ही प्रयोग नहीं होता है।२३। ब्राह्मणोत्पत्ति मन्त्र का भाषिक के द्वारा प्रयोग है, यह वैकल्पिक व्याख्या है। क्योंकि वहाँ पर प्रवचन मन्त्रों का लक्षण है।२४। जो मन्त्र पदार्थ करण हैं, उनका मन्त्रान्त से कर्मादि का सन्निपात होता है क्योंकि सब मन्त्र समस्त वचनार्थ को किया करता है।२५। सन्तत वचन होने से वसुधारा में आदि संयोग होता है।२६। नाना कर्मत्व वचन से अर्थात् कर्मों के नाना प्रकार होने से यहाँ मन्त्र संकीर्तन नहीं है, कर्मों का सन्तान है। और इतर मन्त्र कर्म का सन्तान होना अशक्य है,इसलिये यहाँ पर भी कर्मादि सन्निपात ही होता है।२७। आधार में दीर्घधारत्व होने से सन्तत शब्द का प्रयोग होता है। यह द्रव्याभिप्राय वाला सन्तान शब्द है।२८। एकार्थ मन्त्रों को संनिपातित्व होने से विकल्प होता है।२९। जो मन्त्र संख्या से विदित होते हैं, उनमें असंनिपातित्व होने से समुच्च होता है।३०।

ब्राह्मणविहितेषु च सङ्ख्यावत् सर्वेषामुपदिष्टत्वात् ।३१। याज्यावषट्कारयाश्च समुच्चयदर्शनं तद्वत् ।३२। विकल्पो वा समुच्चयस्याश्रुतित्वात् ।३३। गुणार्थत्वादुपदेशस्य ।३४। वषट्कारे नानार्थत्व त्समुच्चयः ।३५। हौत्रास्तु विकल्पेरन्नेकार्थत्वात् ।३६। समुच्चयो वा क्रियमाणानुवादित्वात् ।३७। समुच्चयं च दर्शयति ।३८।

जो मन्त्र ब्राह्मण में विधीयमान हैं क्योंकि उन सबको उपदिष्टत्व होता है।३१। याज्या वषट्कारों में समुच्चय के दर्शन होते हैं, उसी भाँति यह भी समुच्चय है।३२। अथवा समुच्चय का अश्रुतित्व होने से इन मन्त्रों का विकल्प होता है।३३। यह उपदेश गुणार्थ हैं, मन्त्रोपदेश अर्थात् मन्त्र प्राप्त्यर्थ नहीं है।३४। वषट्कार में नानार्थत्व होने से समुच्चय है।३५। अनेकार्थत्व होने से हौत्र मन्त्रों में विकल्प होता है।३६। अथवा क्रियमाणानुवादित्व होने से समुच्चय है। और समुच्चय को दिखाता है॥३७॥३८॥

जहाश्चा कर्मसंयुक्ता: स्तुत्वाशीरभिधानाश्च याजमानेषु समुच्चय: स्यादाशी:पृथक्त्वात् ।१। सदुच्चयं च दर्शयति ।२। याज्यानुवाक्यासु तु विकल्प: स्याद्दे वतोपलक्षणार्थत्वात् ।३। लिङ्गदर्शनाच्च ।४। क्रयणेषु तु विकल्प: स्यादेकार्थत्वात् ।५। समुच्चयो वा प्रयोगे द्रव्यसमवायात् ।६। समुच्चयश्च दर्शयति ।७। संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ।८। संख्यासु तु विकल्प: स्याच्छ्रुति-विप्रतिषेधात् ।९। द्रव्यविकारं तु पूर्ववदर्थकर्म स्यात् तथा विकल्पे नियम: प्रधानत्ववत् ।१०।

इस पाद में जय-स्तुति-आशीर्वाद और अभिधान मन्त्रों के समुच्चय का अधिकरण है । यह प्रश्न यहाँ है कि इन मन्त्रों का पूर्व न्याय से विकल्प प्राप्त होता है । वस्तुत: क्या होता है—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इस सिद्धान्त सूत्र से किया जाता है कि जप तो अकर्मयुक्त है क्योंकि वहाँ वचन मात्र मन्त्र का किया जाता है और अभिधान में अन्य होने और न होने वाले गुण द्वारा आदिष्ट किया जाता है क्योंकि ये जप-आशी-अभिधान आदि का पृथक्त्व है अत: समुच्चय हो होता है ।१। प्रथमोत्तमा के होने से शास्त्रानु वचनों में समुच्चय दिखाया जाता है ।२। देवतोपलक्षणार्थत्व होने से आज्यानुवाक्याओं में विकल्प ही होता है क्योंकि वहाँ गुणभूत देवता कर्म की सिद्धि के लिये उपलक्षित होते हैं । ।३। इसी अर्थ को लिङ्ग भी प्रकट करता है ।४। क्रयणार्थ द्रव्यों का एकार्थत्व होने से विकल्प होता है क्योंकि सब क्रयण के साधन होने से निरपेक्ष होते हैं ।५। अथवा प्रयोग में द्रव्यों के समवाय होने से समुच्चय ही होता है ।६। समुच्चय को प्रकट करता है कि क्रयण अनुवाद मात्र है ।७। संस्कार में उसकी प्रधानता होने से समुच्चय होता है ।८। संख्याओं में श्रुति के प्रतिषेध होने से विकल्प होता है ।९। द्रव्य विकार तो पूर्व की भाँति अर्थ कर्म होता है और विकल्प में प्रधानत्व होने से विषम है । अत: विकल्प ही होता है ।१०।

द्रव्यत्वेऽपि समुच्चयो; द्रव्यस्य कर्मनिष्पत्ते:; प्रतिपशु कर्मभेदादेवं सति यथाप्रकृति ।११। कपालेऽपि तथेति चेत् ।१२। न कर्मण: परार्थत्वात् ।१३। प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात् ।१४।

शृतेऽपि पूर्ववत्वात्स्यात् ।१५। विकल्पे त्वर्थकर्म नियमप्रधानत्वात् शेषे च कर्म कार्यसमवायात्तस्मात्तेनार्थकर्म स्यात् ।१६। उखायां काम्यनित्यसमुच्चयो; नियोगे कामदर्शनात् ।१७। असति चा संस्कृतेष कर्म स्यात् ।१८। तस्य च देवतार्थत्वात् ।१९। विकारो वा तदुक्तहेतुः ।२०।

द्रव्यत्व मैं भी समुच्चय होता है क्योंकि द्रव्य के कर्म की निष्पत्ति होती है। वहाँ पर प्रति पशु कर्म का भेद होता है। ऐसा होने पर यथा प्रकृतिकृत होता है इससे अर्थ कर्म में भी समुच्चय होता है ।११। कपाल समुच्चय का कथन अनुचित है क्योंकि वहाँ कर्म को परार्थत्व होता है। ।१२।१३। शेषत्व होने से प्रतिपत्ति है अतः समुच्चय होता है ।१४। शृत में भी पूर्ववत्त्व होने से प्रतिपत्ति होती है ।१५। विकल्प में नियम प्रधानत्व होने से अर्थ कर्म होता है और शेष में कर्म कार्य के समवाय से अर्थ कर्म होता है। इससे अर्थ कर्म ही है प्रतिपत्ति नहीं है ।१६। उखामें काम्य नित्य अग्नियों का नियोग में काम दर्शन होने से समुच्चय होता है ।१७। उसके न होने पर असंस्कृत भ्राष्ट्रादि में कर्म होता है अतः समुच्चय है ।१८। अग्न्यन्वाधान से देवता का परिग्रहण होता है। ।१९। अथवा उसका उक्त हेतु विकार होता है ।२०।

वचनादसंस्कृतेषु कर्म स्यात् ।२१। संसर्गे चापि दोषः स्यात् ।२२। वचनादिति चेत् ।२३। तथेतरस्मिन् ।२४। उत्सर्गे अपि परिग्रहः कर्मशः कृतत्वात् ।२५। स आहवनीयः स्यादाहुति संयोगात् ।२६। अन्यो वोद्धतयाऽऽहरणात् ।२७। तस्मिन्संस्कार कर्म शिष्टत्वात् ।२८। स्थानाद्वा परिलुप्येरन् ।२९। नित्यधारणे विकल्पो, न ह्यकस्मात्प्रतिषेधः स्यात् ।।३०।।

वचन से असंकृतों में कर्म होता है ।२१। यदि समुच्चय होता है तो प्रादाव्य के साथ संसर्ग में दोष श्रूयमाण होता है ।२२। यदि वचन से दोषभाव कहते हैं तो उसी भाँति इतर में भी दो नैमित्तिकत्व होने से विकार का आश्रय हो जायगा अतः समुच्चय नहीं होगा ।२३।२४। कर्म के कृत होने से उत्सर्ग में भी देवता परिग्रह विरुद्ध नहीं होता है ।२५। आहुति के संयोग से वह आहवनीय होता है ।२६। उद्धृति से आहरण

होने के कारण यह आहवनीय नहीं होता है किन्तु अन्य ही है ।२७। वैहारिक अग्नि में शिष्टत्व होने से संस्कार कर्म होता है अन्यथा वह अफल है ।२८। स्थान से आधानिक सस्कार परिलुप्त होते हैं ।२९। नित्यधारण में विकल्प होता है और प्रतिषेध नहीं होता है ।३०।

नित्यधारणाद्वा प्रतिषेधोगतश्रिय: ।३१। परार्थान्येको यजमानगणे ।३२। अनियमोऽविशेषात् ।३३। मुख्यो वाऽविप्रतिषेधात् ।३४। सत्रे ग्रहपतिरसंयोगाद्धौत्रवत् पतिरिति च समाख्या सामान्यात् ।३८। विप्रतिषेधे परम् ।३९। हौत्रे परार्थत्वात् ।४०। वचनं परम् ।४१। प्रभुत्वादार्तिवज्यं सर्ववर्णानां स्यात् ।४२। स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम् ।४३। फलचनसविधानाच्चेतरेषाम् ॥४४॥ सान्नाय्येऽप्येवं प्रतिषधः असोमपीथत्वात् ॥४५॥ चतुर्थाकरणे च निर्देशात ॥४६॥ अन्वाहार्यदर्मनात् ॥४७॥

नित्यधारण के अविधान से और कार्य के अभाव से आधारण ही होता है ।३१। यजमानों के गण में जो परार्थ कर्म है उन्हें एक ही को करना चाहिए क्योंकि वे सब परार्थ हैं ।३२। अविशेष होने से कोई नियम नहीं होता है ।३३। सत्र में मुख्य गृहपति को करना चाहिए क्योंकि वहाँ कोई विप्रतिषेध नहीं है ।३४। सत्रमें गृहपति असंयोग होने से हौत्रवत् होता है ।३५। गृहपति के फलों के भूयस्त्व में आम्नायिक वचन होता है ।३६। अविशेष होने से सर्वार्थ ही कम होता है ।३७। गृहपति की समस्या सामान्यतया स्वामित्व का प्रकरण होता है ।३८। विप्रतिषेध में परकीय क्रत्वर्थ होता है । हौत्र में परार्थ पुरुष है कर्म पुरुषार्थ नहीं होता ।३९।४०। फल भूयस्त्व की अप्राप्ति का वह वचन ही होता है ।४१। समस्त वर्णों को ऋत्विक्त्व प्रभुत्व होने से होता है क्योंकि सभी समर्थ होते हैं । यह शिष्टों का स्मरण है कि ब्राह्मण ही ऋत्विक् होते हैं ।४२।४३। इतर वर्णों का ऋत्विक्त्व फल चमस विधान से ही होता है । असोमपीथ हेतुत्व होने से सांनाय्य में भी इस प्रकार का प्रतिषेध होता है ।४४-४५। चतुर्थाकरण में ब्राह्मणों का निर्देश होता है ॥४६॥ अन्वाहार्य दक्षिणा का ही दर्शन होता है ॥४७॥

॥ मीमांसा दर्शन समाप्त ॥

भारतीय संस्कृति के गौरवशाली धर्मग्रन्थ

१. चारों वेद (८ जिल्दों में)		मूल्य
ऋग्वेद ४ खण्ड	...	२७)
अथर्व वेद २ खण्ड	...	१३)५०
यजुर्वेद १ खण्ड	...	६)७५
सामवेद १ खण्ड	...	६)७५

२. १०८ उपनिषद् (३ खण्डों में)

ज्ञान खण्ड	...	७)७५
ब्रह्मविद्या खण्ड	..	७)७५
साधना खण्ड	...	७)७५

३. षट् दर्शन (६ जिल्दों में)

वेदान्त दर्शन	...	४)
सांख्य दर्शन	...	४)
योग दर्शन	...	४)
वैशेषिक दर्शन	...	४)
न्याय दर्शन	...	४)
मीमांसा दर्शन	...	५)
४. २० स्मृतियाँ (२ खण्ड)	...	१४)
५. शिव पुराण (२ खण्ड)	...	१४)
वायु पुराण २ खण्ड	...	१४)
विष्णु पुराण २ खण्ड	...	१४)
मार्कण्डये पुराण २ खण्ड	...	१४)
पद्म पुराण २ खण्ड	...	१४)
अग्नि पुराण २ खण्ड	...	१४)
गरुड़ पुराण २ खण्ड	...	१४)
हरिवंश पुराण २ खण्ड	...	१४)
देवी भागवत पुराण २ खण्ड	...	१४)
भविष्य पुराण २ खण्ड	...	१४)
लिंग पुराण २ खण्ड	...	१४)
६. विष्णु रहस्य	...	६)
७. तंत्र महा-विज्ञान (२ खण्ड)	...	१५)

संस्कृति संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली (उ० प्र०)